थी इसिलिये उसने उस दासीको वो फल दिया/दासीने मनमें विचार किया ये अमरफल खायके जमर होनेसे अपना दासीपणा तो मीटेगा नहिं तो ये नीच दासीपणासे मरना ही ठीक है ऐसा विचार कर उस फलको कोई सन्पात्र ब्राह्मणको अपीण करना जिससे पुण्यप्राप्ति होगी ऐसा सोचकर वो फल लेकर उस देवशमीबाह्मणके घर आकर पूछा तो वो घरमें नाई या. पीछे उस दासीने उस फलको देवशमीके स्त्रीके स्वाधीन किया और घर गई, योडे सम्यमे ब्राह्मण घरमें भाया और देखा तो जो अमरफल अपने राजाके स्वाधीन किया वो अपने घरमें फिर किस तरह सें आपहुंचा ऐसा विचारके ब्राह्मण राजसमामें जापहुंचा और राजाकुं पूछा राजा फल सेवन किया ? तन राजाको फलका स्मरण हुवा और जनानामे जाकर स्त्रीकूं पूछा तो वो चुप होगई फिर राजाने सतिकोपायमान होकर इसका तलास करनेसे सब हाल मालुम होगये तंब राजाने भी इत्यादि उन सबका तिरस्कार किया और वैराग्यका स्वीकार करके राज्यका त्याग कर बरण्यमें चलागया. उस समयका 'यां चिन्तयामि 'ये श्लोक है. राजा नीतिमे निपुण भौर शृंगार रसास्वादनमें परम निष्णात होनेसं नीति और शृंगार शतक तौ राज्यत्यागके प्रयम किये होने चाहिये, सीर पीछेसें बैराग्य होनेसें वैराग्यशतक बनाया ऐसा मालुम होताहै. रा-जाकी कवित्व शाक्तिमी बहोत उत्तमहै. इसके बनायेहुए औरभी एक दो ग्रंथ है परंतु उपल-च्य नाई हैं. इस ग्रंथमें जो शृंगारशतक किया है सो लोकोंको विषयजालमें फसानेकेलिय नहिं है परंतु शृंगारका स्वरूपाविष्करण किया है जिससे इनमें कोई नृहिं भाफसे इस ग्रंथके पाठभेद सनेक हैं परंतु इस पुस्तकमें जो उचित वोही पाठ लिये हैं. और मूलमें संस्कृतटीका नहिं होनेके कारण विद्वान् पण्डितद्वारा नूतन संस्कृतरीका तथा उसकेही आघारसे भाषाटी-का तथा कवित्त लिखकर इनतीनोंका संग्रह इन पुस्तकमें किया है. सौर सुगमताके लिये अन्वयके अंकभी श्लोकके ऊपर डाल दिये हैं ! पहिले दो चार दफे ये ग्रंय छप चुकाहै परन्तु उनमें कितनेक टिकानेपर अञ्चदता रहनेसें और प्रंय संप्रहणीय होनेकेखातर और कितनक लीकोंकी सूचना होनेसे ये सब टीका नवीन बनवाकर ये पुस्तक छपवायाहै. इस समय ग्रंथकी शुद्धताके ऊपर विशेष ध्यान देनेमें आयाहै जो देखनेसेही मालुम होगा. भाष उदार महाराय इस ग्रंयका संग्रह करके हमारे इस प्रयत्नको उदार अन्तःकरणपूर्वक आश्रय देंगे और ऐसेही कितनेक नूतन ग्रंय छापनेमें पांडेतजी श्रीकृष्णठालजीको उत्साहित करेंगे और इसमें जो दोप रहेहीं उनका त्याग कर गुणोंकाही प्रहण करेंगे ऐसी बिनंति करके ये बहोत छंत्राहुवा प्रार्थना छेख पूराकरताहूं॥

आपका नम्रतम,

सीतारामशम्मी.

ओहरिम्बन्दे।

श्रीदृन्दावनविहारिणेनमः।

अध

भर्तृहरिकृतशतकत्रयम्।

तत्र

प्रथमं नीतिशतकं प्रारम्यते।

॥ मङ्गलाचरणम् ॥

दिकालायनविच्छन्नानन्तिचन्मात्रमूर्तये ॥ स्वानुभूत्येकसौराय नमः शान्तायै तेजसे ॥ १॥

संस्कृत टीका—विशेशं विश्वहतीरं गणराजं नमाम्यहम । शारदां वरदां नौमि बुद्धिगाट्यापनुत्तये ॥ १ ॥ श्री गोपाठं नमस्कृत्य नत्या गुरुपरंपराम् । नीत्यादिशतकानां च व्याह्यां
ृर्वे मुनोधिनीम् । प्रन्थादां प्रन्थमय्ये प्रथान्ते च मङ्गठाचरणं कर्तव्यमितिशिष्टाचारोऽस्ति, अतो
न्यस्य निर्विष्वपरिसमातये प्रन्थकत्री नमनात्मकं मङ्गठं कृतम् । दिगिति । दशदिक्षु तथा भूत
विष्यहर्तमःन् त्रिकालेष्यनविच्छना व्याता अतएव अनन्ता नास्यन्तो यस्याः साचिनमात्रा चिद्रुपाँ
ितः स्वरूपं यस्य तस्मै, तथा स्वानुमृतिः स्वस्यानुम्वः स एव सारांशो यस्य तस्मै तेजसः ।
काशस्यप्य शान्ताय शान्तस्वरूपाय त्रसणे नमः ॥ अनुष्टुप् वृत्तमिदम् ॥ १॥

भाषा टीका —दशोदिशा और त्रिकाल आदिमें परिपूर्ण अनन्त वितन्य र्ति और केवल अपने अनुभवसे ज्ञातच्य शान्त और तेजोमय ईश्वरको नमस्कार है॥१॥

सोरठा—सर्वदिशा सर्व काल, पूरि रह्यो चैतन्य घन। सदा एकरस चाल, वन्दन वा परब्रह्मको। १० मपृहारायरा परा--

यां चिन्तयौमि सत्तेतं मियं साँ विरक्तां। साँप्यन्योमिच्छीति जीनं से जैनोऽन्यसक्तैः॥ अस्मित्कृते चैं परितुष्यिति कैं।चिद्रन्याँ। धिक्तां चैं तं चैं मद्देनं चैं इँमां चैं मैं।चैं॥२॥

संस्कृत टीका—प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्तते। एवं नीतिर्वर्तते तर्हि कन कारणन प्रन्थः कृतस्तत् कारणं येन वैराग्योत्पत्तिस्तिष्टिखाते। राज्ञाविक्रमशकेन स्वटन्धं फलं कस्मैन्चिद्राह्मणाय दत्तं तस्य फलस्य मिहमा येन भिक्षतं सोऽमरो भवित तस्य मरणं नास्ति, ब्राह्मणेन तत्फलं बहूनाम् पालकाय राज्ञे भर्तृहरयेदत्तं, तेन भर्तृहरिणा स्वपन्ये दत्तं, अन्यपुरुपासक्ता साऽन्यस्मै दत्तवती, सजारोऽपि स्वप्रिया कांचन पृंथली तस्यै दत्तवान्, सा पृंथली तद्राज्ञे दत्तवती राजा तावत्पूर्वीपं समस्तवृत्तान्तं ज्ञात्वा पश्चात् वैराग्येणात्मसिहतान् भार्यादीन् निन्दिते । यामिति । अहं यां स्त्रिः सततं हृदि चिन्तयामि प्राणादिधिकां मन्ये साऽपि मिथे विरक्ताऽस्ति । सा स्त्रीअन्यं जनं जारपुरु प्रियतमिम्छिति । स जनोऽप्यन्यां पृंथली प्रियत्वेनच्छिति सा काचिदन्या चास्मदर्थे परितृष्यि सन्तोषं प्रामोति । एवं न कश्चित् कस्यचित् प्रियः । अतोऽस्मत्कृते परितृष्यित तां पृंथलीधिक् तं जारपुरुष्पिपिधिक् इमां मदीयां स्त्रियं धिक्, अहमिप एतादृशोमूर्खः मां च धिक् । सर्विमिद मदनकृतमतो तं मदनं च धिगित्यर्थः ॥ २ ॥ भाषा टीका—किसी समय एक ब्राह्मणको अमृतफल मिला तव उसने दिनाम दिना विराद्यो तैना गोग्य है. सोचने २ उसको ध्यान आया कि

भाषा टीका—किसी समय एक ब्राह्मणको अमृतफल मिला वन उसने विचारा कि यह फल किसको दैना योग्य है, सोचते २ उसको ध्यान आया कि यह राजा भर्नेहरिको दैना चाहिये क्योंकि वह वड़ा धर्मज्ञ और प्रजापालक है, यह सोच उसने वह फल राजाको दे दिया, राजाने उसे अपनी प्राणिपया स्त्रीको दिया, उस रानीने वह फल अपने मित्रको दिया, उस जारपुरुपने वह फल किसी वेश्याके लिये देदिया, और उस वेश्याने धनके लोभसे वह फल राजाको फिर दिया, उस फलको देखकर राजाको वड़ा सोच हुआ, और उसके समस्त हुता नको जानना चाहा, प्रयत्न करनेसे उसको सव हुतान्त ज्ञात हो गया, तव तो उसको एकद्मसे वैराग्य उत्पन्न हुआ, और कहने लगा। (श्लोकार्थ) जिस प्रियतमाको में निरन्तर प्राणसे भी अधिक प्रिय मानता वह मुझसे विरक्त होकर अन्य पुरुपकी इच्छा करती है, और वह, अन्य पुरुप दूसरी स्त्रीपर आसक्त है, और वह अन्य स्त्री मुझसे प्रसन्न है इसलिये मेरी प्रियाको जो अन्य पुरुपसे प्राप्त है। उस अन्यको जो (रिसी रानी पाकर) अन्य स्त्रीपर आसक्त है धिकार है, उस अन्यको जो (रिसी रानी पाकर) अन्य स्त्रीपर आसक्त है धिकार है से अन्य स्त्रीको जो मुझसे प्रसन्न है धिकार है तथा मुझको और इस कामदेवको भी धिकार है।। २॥

छप्पय—जाकी मेरे चाह वहें मोसों विरक्त मन। और पुरुषसों प्रीति पुरुष वह चहत और धन। मेरे कृतपर रीझ रही कोऊ इक औरही। यह विचित्र गति देख चित्र ज्यों तजत न ठौरही। सब भांति राजपत्नी सुधिक् जारपुरुषकों परमधिक्। धिक् काम याहिधिक् मोहिधिक् अब व्रजनिधिकी शरण इक॥ २॥

अज्ञः सुर्खेमाराध्यैः सुखर्तरमाराध्यते विशेषज्ञैः ॥ ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि चे तं नरं नैरंजेयति॥ ३॥

संस्कृत टीका—एवं ज्ञाते स्ति स्वास्मिन् मूर्खत्वं ज्ञातमतो मूर्खल्वक्षणानि वदिते । अज्ञ इति । यः केवलं न जानाति से।ऽज्ञः मूर्ख इत्यर्थः स तृ शिष्टेन युक्तायुक्तमुक्तम् तच्छृणोति तथैव करोति, अतः सुखेन आराधितुं वशीकर्तुम् शक्यः । यस्तुविशेषं युक्तायुक्तं जानाति स विशेषज्ञः । कदाचित् प्रमादादयुक्ते कर्मणि प्रवृत्तः सन्तपरेण निवारितथेच्छृणोति सच सुखतरमतिसुखेनाराच्यते । परन्तु उभयेर्विलक्षणोऽज्ञो न भवति पूर्णज्ञाताऽपि न भवति शास्त्रण्यपि प्रवृत्तिनभवति बहुश्रुत-तया स्वस्मिन् पण्डितंमन्यतया परस्य वचनमपि न स्वीकरोति किश्चित् ज्ञानल्वेन दुर्विदग्धोगिर्वष्टस्तं वशीकर्तुम् चतुर्मुखोन्नहाऽपि न शक्तः तार्हे इतरेषां काकथा । आर्यावृत्तमिदम् ॥ ३ ॥

भाषा टीका—मूर्खका प्रसन करना सहज है, ज्ञानीका प्रसन्न करना उ-ससे भी सहज है, परन्तु जो पुरुष अल्पज्ञानके मदसे भरे हैं उनको ब्रह्माभी प्रसन्न नहीं करसके ॥ ३॥

दोहा—सुखकर मृढ रिझाइये, अति सुख पण्डित लोग । अर्द्धदग्ध जड जीवकों विधिहुन रिझवन जोग॥ ३॥

> प्रसह्यं मेणिमुईरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रांकुरात् । समुद्रमिष संतरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ॥ मुजंङ्गमिष कोषितं शिरेसि पुष्पवदार्रयेत् । में तुं प्रतिनिविष्टमूर्यंजनिचसमार्राधयेत् ॥ ४॥

सं े टी इदानीम् श्लोकह्रपेन मूर्खजनानाम् चित्तस्पाराधनाभावं सद्दशन्तं वर्ष्यते । प्र-त्रोशित । मफरो नामसपविद्योपस्तस्य पन्तेदेण्ट्रांकुरस्त्रीसन्मृश्णः समाणः प्रसार कलास्त्रोत्ण नि क्तासितुं शक्यो भवेत् । मकरमुखे मणेरभावो वर्तते किन्तु महताप्रयत्नेन सोऽपिसाध्योभिविष्यति । तथा च प्रचलन्तीनामूर्भीणां लहरीणां मालाः समुदायास्ताभिराकुलं समुद्रमपि बाहुभ्यां सन्तरेत् ।

तथा च प्रचलन्तीनामूर्मीणां लहरीणां मालाः समुदायास्ता।भराकुल समुद्रमापं बाहुम्यां सन्तरत् । बाहुम्यां समुद्रतरणमसम्भवमस्ति किन्तु उपायेन तदिप सुगमम्भवति । तथा च कोपितं भुजङ्ग सर्पे शिरसि पुष्पवद्धारयेत् । एते अघटिताः दृष्टान्ताः कालेन मिविष्यन्ति परन्तु प्रतिनिविष्ट

भाविष्टिचित्तः तस्य मूर्ख जनस्य चित्तं न आराधित्, आराधितुं न शक्य इत्यर्थः । पृथ्वीवृत्तम् ॥४॥ भा० टी०—मगर की डाढोंमें से मणिका निकालना सहज है, प्रचण्ड लहरों के आवेगसे चश्चल समुद्र को तैरकर पार करना सहज है, कोपसे भरे सर्पको शिरपर पुष्पके समान धारण करलेनाभी सहज है किन्तु मूर्खका मन जिस वस्तु पर जम गया है उससे हटाना कठिन है ॥ ४ ॥

जम गया ह उसस हटाना काठन है। है। है। लिस हिंचन । लिसेतें सिकतासुं तेलँमपिं यत्नतेः पीडैयन् । िपं बेचं मृगतृष्णिकासुं सिलैंलं पिपासार्दितः ॥ कृदीचिदंपि पैयेटिउछश्चाविधाणमासीद्येत् । कृदी सुं प्रतिनिविष्टमूर्विजनिचत्तमाराधियेत् ॥ ५

सं० टी० — लभेतिति । सिकतासु वालुकासु, तैलं यत्नत प्रयासेन पीडयन् सन् कदा-चिछ्ठभेत । तथाच पिपासार्दितः तृषातःसन् मृगतृष्णिकासु सिल्लिमुदकं कदाचित् पिवेत् । कदाचित् पृथ्वीः पर्यटन्सन् शशस्य विषाणं शृंगम् प्राप्तृयात् । एवमघटितघटनम् भविष्यति किन्तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनस्य चित्तं न आराधयेत् ॥ ९ ॥ छन्दःपूर्वोक्तम् ।

भा० टी० यत्नपूर्वक पेलनेसे रेतमें से तैल निकालना सम्भव है, मृग तृष्णासे प्यासेकी प्यास बुझाना सम्भव है. दूढनेसे खरगोशका सींग भी मिल-सक्ता है परन्तु मूर्खका मन जिस वस्तुकी ओर झुक गया है उससे हटाना सम्भव नहीं है ॥ ५॥

छ्प्य-निकसत वारू तेल जतनकर काढत कोऊ। मृगत्-ध्याको नीरिपये प्यासो है सोऊ। लहत शशाको शृंग माह मुखतें मणि काढत। होत जलियके पार लहर वाकी जब वाढत रिसभरे सरपको पहुप ज्यों अपने सिर पे धर सकत। इठभरे महासठ नरनकों कोऊ वसनहिं कर सकत॥ ॥ ॥ ५॥ महासठ नरनकों कोऊ वसनहिं कर सकत॥ ॥ ॥ ५॥ व्यौलं बालमृणालैतन्तुभिरसी' रोहुँ समुज्जृम्भते'। र्छेतुं वज्रमणीव्छिरीषकुर्सुमप्रान्तेन सन्नह्यते'॥ माधुर्य' मधुबिन्दुनी रचियतुँ क्षाराम्बुँधेरीहते'। नेतुं वाञ्छेति यें:खलान्पेंथि संतां सूँकैः सुधास्यंदिभि ।६।

सं० टी०—मूर्खजनानां सन्मार्गे प्रवेशोऽति दुर्छभ इसाह । व्यालिमिति । असै। व्यालं गां वालमृणालतन्तुभिः कोमलकमलतन्तुभीरोद्धुमवरोद्धुं वाञ्छति । तथाच वज्रमणीन् हीरक-मणीन् हिरिषमुष्पापेण छेत्तुं सन्दिद्धी कर्तुं सन्नह्यतवुयुक्तो भवति । तथा च क्षाराम्बुधेः क्षारसमुद्रस्य मधुविन्दुना माधुर्य रचितुं कर्त्तुमीहते चेष्टते, यः खलान् दुर्जनान् सतां पथि सुधास्यन्दिभरमृततुत्यैः सूक्तैर्वागिभनेतुं वाञ्छति ॥ शार्दूलविक्तीडितष्टत्तिमदम् ॥ ६ ॥

भा० टी०—वह मनुष्य कमल की कोमल ढंढीसे हाथीको बांधना चाहता है, शिरीप के फ्लकी पंखरीसे हीरेको वेधना चाहता है, और मधु की एक वृन्दसे खारे समुद्रको मीटा करना चाहता है, जो खलोंको अपने अमृततुल्य वाक्योंसे सत् मार्ग में लोने की इच्छा करता है ॥ ६ ॥

छन्द्-कमल तन्तुसों वांधि गजिह वसकरन उमाहत। सिरस पुहुपके तार वज्रकों वेध्यो चाहत॥ वृंद सहतकी डार उदिध को खार मिटावत। तैसेही हित वैन खलनके मनिहें रिझावत॥ ६॥ स्वायत्तैमेकान्तगुणं विधात्रा, विनिर्मितं छाद्नमज्ञतायाः॥ विशेषतः सर्वविद्ां समांजे, विभूषेंणं मोनंमपण्डितांनाम्॥॥॥

सं० टी०—अधुना मूर्बस्य मूर्बतायाः छादनोपायमाह । स्वायत्तामिति । अज्ञतायाः मौर्स्वस्य छादनमाच्छादनं मौनं विधात्रा ग्रह्मणा विनिर्मितमुत्पादितं । अर्धमूतं मौनं स्वायत्तं स्वाधीनं, पुनः अर्धमूतं, एकान्ताः गुणाः । उत्कर्षाः यस्मित्तत् एकान्तगुणं । तन्मोनं विशेषतः विशेषण सर्वविदां स्विज्ञानिनां समाजे समृहे अपिण्डतानां मूर्खाणां विभूपणं भवति । इह मूर्बस्य अज्ञताच्छा-दने केवछं मौनमेव उपायोऽस्तीति भावः । वृत्तिमिन्द्रवजा ॥ १ ॥

भा० टी०—विधाताने मौन अर्थात चुप रहनाही अज्ञानता का टकना वनापा है, यह मनुष्यके आधीन है तथा इसमें औरभी अनेक गुण हैं। यही ज्ञानि-योंकी सभामें अज्ञानियोंका आभूषण है॥ ७॥ दोहा—सज्जन मन वशकरनकों रच्योविधाता मीन।
क्रनह्को आभरन मीन महासुख भीम॥ ७॥
यदा किञ्चिज्जाेऽहें द्विप ईव मदान्धः समभवम्।
तदा सर्वजाेऽ रंमीत्यभवद्वें लिप्तं ममें मनैः॥
यदा कि जित्वित्वे शिक्ष हुधजनसँकाशादवगतम्।
तदां में खेंऽ रेमी रंति ज्वरं ईव मेंदो मे उच्यपगेतः॥।।।।

सं० टी०—यदेति । यदा यस्मिन् काले किंचिज्जोऽहं तदा द्वाभ्यां शुण्डतुण्डाम्यां पित्र-तीतिद्विपोगजः । स इत्र मदेन अधिइति मदांधः समभवं जातः, तदा तस्मिन् काले अहं सर्वज्ञोऽ-स्मीति मममनोऽविलेशं गविष्टमभवत् । तदुपि यदा वुधजनस्य पण्डितजनस्य सकाशात् संसर्गात् किंचित् किंचित् ज्ञानं अवगतं प्राप्तं तदा अहम् मूर्खोऽस्मीति ज्ञातम् पूर्वे यो मे मम मदः गर्बोऽ-भवत् सोऽपि ज्वर इव व्यपगतः । शिखरिणी वृत्तमिदम् ॥ ८ ॥

भा॰ टी॰—जन, मुझको थोडासा ज्ञान हुआ तन में हाथी की तरह मदसे अंधा होगया, और यह समझनें लगा कि ज्ञानमें मुझसे कोई अधिक नहीं है परन्तु जन निद्वानों की संगतिसे मुझको कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त हुआ तन मुझको ज्ञात होगया कि मैं मूर्ख हूं और मेरा मदज्वर के समान उतर गया॥ ८॥

छप्पय—जब हों समझों नैक तबहि सर्वज्ञ भयों हो । जैसे गज मदमत्त अंधता छाय गयो हो ॥ जब सतसंगतिपाय कछुकहों समझन लाग्यो । तबहि भयो अति मूढ गर्वगुणको सब भाग्यो॥ ज्वर चढतचढत अतिताप ज्यों उतरत सीतल होत तन । लोंही मनको मद उतरिगो लियो शील सन्तोषपन ॥८॥

कृमिकुलैचितं लालौक्किनं विगहिँ जुगुप्सितम्। निरुपमॅरसं प्री'त्या खादेन्नरास्थि निरामिषम्॥ सुरपतिमैंपि श्वीं पार्श्वस्थें वि'लोक्य ने शैंङ्कते। नहिं गणैयति कुँद्रो जैन्तुः परिमहेंफल्गुताम्॥९॥

सं ॰ टी॰—-इदानीं क्षुद्रिविषये छितं जनं श्वद्यान्तेन निन्दिते। कृमिकुलेति । यथा कृमिकुलेभितं व्यातं लाल्या किनामाई विगिर्धं अपवित्रमतएय जुगुप्तितं निन्दां, निर्गता उपमा यस्य एतादशो ये। रसः तं निरामिपं मांसरिहतं नरास्थि प्रीत्या खादन् श्वा पाश्वस्थं. समीपस्थमिप सुरप-तिमिन्द्रम् विलोक्य न शंकते तथा क्षुद्रः नीचा जन्तुः प्राणी, परिप्रहस्य फल्गुतां निःसारतां नगणयति न मनुते । हरिणीवृत्ताभिदम् ॥ ९ ॥

भा० टी०—जैसे कुत्ता कीढों के समूहसे भरी हुई, लारसे भोगीहुई, हुगेन्ययुक्त, निन्दित, निरस, और मांसरहित हुड़ी को प्रीतिसे खातेसमय पास खढे हुए इन्द्रको भी देखकर अंका नहीं करता है वैसेही क्षुद्र जीव जिस पदार्थ को प्रहण करलेताहै उसकी निःसारता पर ध्यान नहीं देता अर्थात् उसको श्रेष्ठ ही समझता है॥ ९॥

कुण्डलिया—कूकर सिर कीरापरे गिरे वदन तें लार। बुरो वास विकरालतन बुरो हाल वीमार ॥ बुरो हाल वीमार हाड सूखेकों चावत। सुरपित हूं की शंक नैक हूं करत नसावत ॥निठुर महा मन मांहि देख घुर्रावत हूकर । तैसेही नर नीच निलज डोले ज्यों कूकर ॥ ९ ॥

शिरं शाँवें स्वर्गीत्पंतित शिरंसर्र्तित्वितिधरम् । महीधौदुत्तुङ्गाद्वीनमवैने श्रौ पिजलीधिम् ॥ अधो गङ्गा से यं पदमुपेगता स्तोकमथवी । विवेकभ्रेष्टानां भवैति विनिपातः शतमुँखः ॥ १० ॥

सं ० टी०—यः पुरुष उत्तमपदाद्धष्टः सन् अधः पतित स पुनः उर्चपदम् न प्राप्नोतीति गङ्गाद्दष्टन्तेन चोतयिति । शिर इति । स्वर्गात् गङ्गा विष्णुपादोदसमादौ शार्वशार्वो भहादेवस्त-स्यदं शार्वि श्विरो मस्तकं पतित, तत् पश्चात् शिरसः श्वितिषरं हिमालयपर्वतं पतित, उत्तुङ्गात् महीं धारयतीति महीधः पर्वतिस्तात् अर्वान पृथ्वा पतित, अवनेश्वापि जलीं समुद्रं पतित, एव-मियंगङ्गा अथोधः स्तोकमल्पं पदं स्थानं उपगता प्राप्ता । अथवा विवेकभृष्टानां विचारहीनानां शत-मनेकानि मुखानि वदनानि यस्य तादशो विनिपातोऽधःपतनं गङ्गाजलबद्भवतीत्त्यर्थः । विवेकशृन्याः पुरुषाः सर्वदा नीचं पदं प्राप्नुवन्ति, तेपां नान्यागितिरिति भावः । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ १०॥

भा०टी० यह गङ्गा प्रथम स्वर्गसे शिवजीके मस्तकपर गिरी, फिर वहांसे ऊंचे पर्वतपर, और पर्वतसे पृथ्वीपर, और पृथ्वीसे समुद्रमें, इस भांति कमसे नीचेही गिरती गई, इसी तरह जिन पुरुषों को किसी प्रकारका ज्ञान नहीं रहा, वे सर्वदासे सौ सौ प्रकारसे नीचेही गिरते जाते हैं ॥ १० ॥

दोहा—ईशशीश तिज स्वर्ग तिज गिरवर तजे उतङ्ग । अवनी तिज जलिधाहि मिली पदसोंपर मुख गङ्ग ॥१०॥

शक्यो वारौयतुं जलेने हुतभुक् छन्नेण सूर्यातपे। नागेन्द्रो निशितांकुशेन समदो दण्डेने गोगर्द्भी॥ व्यौधिर्भेषजीसङ्ग्रहेश्री विभविधिर्मन्त्रप्रयोगिविधिम् । सर्व स्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्वस्थे नास्तिषधम् ॥११॥

सं० टी० सर्वरोग निरसनोपायो लोक शास्त्रच विहितः किन्तु मूर्खस्य मूर्खत्वनाशको पायः कुत्रापि नास्ति इत्याह। शक्य इति "हुतं भुक्ते " इति हुतभुगिन्नः जलेन वारिणा वारियतं शक्यः। तथा " सूर्यातपं उष्णत्यं छेत्रण वारियतुं शक्यः। तथा मदेनसह " समदो नागेचं गजराजः निश्चितेन तीक्ष्णेनाङ्कशेन वारियतुं शक्यः। तथा गौरुच गर्दमश्च तौ गोगर्दभौ दण्डेन तथा व्याधि, भेपजस्यौपधस्य संप्रहेः सेवनः। तथाच विषं विविधैर्मत्रप्रयोगैः वारियतुं शक्यं एवं सर्वस्य शास्त्रविहित्तमौपधमस्ति परंतु मूर्खस्य मूर्खत्विनरसनरूपमौपधं कुत्रापि नास्तीति शार्दू विविधैर्मत्रित वृत्तमिदम्॥ ११॥

भा० टी० जलसे अग्निका रोकनासम्भव है, छत्रीसे ध्रका निवारण करन सम्भव है, मतवाला हाथी भी अकुंशसे वशमें हो सक्ता है, गी गर्दभ आदि चौपायें को दंढ देकर वशमें कर सक्ते हैं, रोगको विविध मकारकी औपघोंसे दूर करन सम्भव है और मंत्रद्वारा विष उत्तर जाता है इस मकार प्रथ्वीपर सब वस्तुओं की शास्त्रोक्त औपिये हैं। परन्तु मूर्वताकी कोई औपिय नहीं हैं।॥ ११॥

छण्य-मिटे छत्रसों धूप और जलअग्नि बुझावे । तीसे अंकुश मार मन गजवसमें लावे ॥ दंड दिये तें दुष्ट वेल अरु गदहा मुरख ॥ आपधि विविध प्रदान व्याधि खोवे चित तृ रख ॥ लिसे अनेकन मंग्र हरिंह विपताजु सवनकी ॥ पे निर्हे औषध एक मुर्खता दंह कुत्रनकी ॥ ११ ॥

साहित्यसंगीतकलाविहीनंः सौक्षात्पर्शुः पुच्छविषाणैहीनः ॥ तृंणं नं खाँदन्नपि जीवमोनर्रेतं द्वागैधेयं परेमं पशूनीम् ॥१२॥

सं टी - साहित्यसंगीतकलिंग्हीनः पुरुषः साक्षात् पशुरित्याह । साहित्येति । साहित्यं काञ्यालंकारादि । संगीतं गानादि । कलाः शिल्पादयः । एतैर्यो विहानःस साहित्यसंगीतकला- विहीनः एतादशः पुरुषः पुरुष्टमाविषाणम् पुरुष्टिविषाणे ताभ्यां हीनो रहितः साक्षात पशुरेव । कृणभक्षणं पश्नां धर्मस्तिहि सुतो नायं खादतीत्याह । तृणभिति । तृणं न खादनभक्षयन्ति जीवमान इदं तु इतरपश्नां परममुत्कृष्टं भागधेयमद्दष्टं मनुष्यमात्रेण धर्मशास्त्रमवश्यमाकलनी- प्रमिति भावः । उपजातिवृत्तमिदम् ॥ १२ ॥

भा० टी०—जिस मनुष्यने साहित्य और संगीतशास्त्र नहीं सीखा बह विना पूंछ और सींगका साक्षात् पशु है, तृण खाये विनाही जीता है यह उस पशुका परम भाग्य है ॥ १२ ॥

कुंडिलिया—गीत और साहित्यमें जो न लहे कलुमेद ॥ ताहि देखके होत है मेरे चित अतिखेद ॥ मेरे चित अतिखेद देखकर वाकी सूरत ॥ सींगपूंछ विन फिरे मत्तपशुकीसी मूरत ॥ विना घास जीवत वहे यही कुटिल है नीत ॥ ऐसे नरसें और पशु हैं उत्तम अनुरीत ॥ १२ ॥

येषां नै विद्यों ने तेपो न दाने । इति ने शिक्ष ने गुणो ने धेमिः॥ ते मत्येकीके भुवि भारभूर्ती। मनुष्येरूपेण भृगाश्चरन्ति ॥ १३॥

सं० शे०—विद्यादिधर्महीना नरा मनुष्यरूपेण मृगा इव भूमी विचरन्ति, इत्याह । येपामिति । येपां विद्या व्याकरणन्यायादिर्न, तपे। वित्यापतादि न, दानं न, झानं न, शीलं सद्वृत्तं न "शीलं स्वभावे सद्वृत्तं " इत्यमरः । (सत्यादिः) गुणो न, धर्मो न, एवंभूता ये मनुष्यास्तेऽस्मिन् मर्त्यलोके भुवि भारभूताः सन्ते। मनुष्यरूपेण मृगाः पशव इव " मृगः पशो मुरंगे " इति भेदनी । चरन्ति विचरन्ति । विद्यादिसदाचरणहीनाः पुरुषाः पशुसदशा इति मावः । पशुत्वनिरसनार्थः विद्या अवश्यमेव पठनीया ! उपजातिवृत्तमिदम् ॥ १३ ॥

भा० टी०—जिन मनुष्योंको न विद्या है, न तप है, न दान है, न जान है, और न जिनमें शीछ, गुण और धर्भ है, वे इस पृथ्वीपर भारक्षप हैं, वे मनुष्य-रूप धारणकर पशुके समान विचरते हैं ॥ १३ ॥

दोहा—निवादान न ज्ञान तप शीलधर्म गुणहीन ॥ विचरिहं मिह नररूप पशु भूमिभार अतिदीन ॥ १३ ॥ वॅरं पर्वतदुर्गेषु आन्तं वनेचरैः सहै ॥ नै मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभैवनेष्वपि ॥ १४ ॥

सं० टी०—पर्वते वनचरे: सह श्रमणं श्रेष्टं किन्तु मूर्खजनसम्पर्कः स्वर्गेऽण्युचितो न, इत्याह । वरिमति । पर्वतदुर्गेपु वनचरेः व्याद्यादिभिःसह श्रान्तं श्रमणं वर्मुत्कृष्टं, परन्तु मूर्खेर जनसम्पर्क इन्द्रभवनेष्यपि मास्विति । अनुष्टुव् वृत्तमिदम् ॥ १४ ॥

भा॰ ठी॰—पर्वतों और वनोंमें वनचरोंके संग विचरना श्रेष्ठ है परन्तु मूर्त्वमनुष्यका संग स्वर्गमेभी बुरा है ॥ १४ ॥

दोहा—वनचरसंग रहवा सुखद वनपर्वतके मांहि । पे मूरखसंग स्वर्गह् दुखयुत संशय नांहि ॥ १४ ॥

इत्यज्ञनिंदाप्रकरणम् ।

शास्त्रोपस्कृतशॅब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागर्मा । विख्याताः कवयो वसान्ति विषये यस्ये प्रमोनिर्धर्नाः ॥ तंजार्ड्यं वसुधाधिपस्ये कवयो हीर्थः विनीपिश्वरीः ॥ कुत्स्याःस्युः कुपरीक्षेका हिं मणेयो येरधतः पातितौः १५

सं० टी०—यस्य राज्ञो देशे कवया निर्धना वसन्ति स राजा मूर्ख इत्याह । शास्त्रिति । व्याकरणाभिधानादिभिः शास्त्रेरुपरकृताः शिक्षिताः शन्दास्तैः सुन्दरा गीर्वाणी येषान्ते । तथा च शिष्येभ्यः प्रदेया दत्ताः पाठिता आगमा वेदशास्त्राणि येस्ते । तथा च सर्वलेकेषु विख्याताः प्राप्तिद्धाः कवयः कवित्वं कुर्वाणाः । एवंभूता विद्वांसो यस्य प्रमोर्विपये देशमध्ये वसन्ति अथ च निर्धना धनरिहताः । राजा तान्त्रेव जानाति तेषां परामर्शे न गृह्णाति, तत् वसुवाधिपस्य राज्ञो जाङ्यं मौर्छ्य । क्वयस्तु मुधियस्तु अर्थ विनापीश्वराः समर्थाः । यथा मणयो वहुमूल्यास्ते कुपरी- क्षकिंद्यात्वा अर्वतो मूल्यतः पातिताः न्यूनमृत्याः कृताः तर्ह्ययं दोषः परीक्षकाणां न तुःमणीनां ।

परीक्षकाः कुत्त्याः स्युः कुत्तिता एव न तु मणयः । ये भूपतयः सन्तस्तादृशानां कवीनां स्वरूपं न जानन्ति ते मणिमूल्यं यथार्थमजानन्तः कुपरीक्षका इव निया इत्यर्थः । तस्मात् राज्ञा कवयोऽ-वस्यं भादरणीया इति भावः । शार्दूलविकीिडतवृत्तमिदम् ॥ १५ ॥

भा० टी०—जिनकी वाणीको शास्त्रोक्तशब्दोनें सुन्दर कियाहै, और जिनकी विद्या शिष्योंके पढाने योग्य है, ऐसे मिसद्ध किव जिस राजाके देशमें निर्धन रहतेहैं वे राजा मूर्ल हैं, कविलोग तौ विनाद्रव्यकेही श्रेष्ट हैं। तथा वे राजा उस जौहरीकेसमान मूर्ल हैं जो मिणको न पहिचानकर उसका मूल्य घटातेहैं॥ १५॥

छप्य—सव यन्थनको ज्ञान मधुर वाणी जिनके मुख। विनिन्त प्रति विद्या देत सुजसको पूर रह्यो सुख। ऐसे कवि जिहिं देश वसत निर्धनता लहि अति। राजा नांहि प्रवीणभई याही ते यह गति॥ वे है विवेक सम्पति सहित सव पुरुषनमें अतिहि वर। घट कियौ रतनको मोल जिन तेई जो हरीकूरनर॥ १५॥

हर्तुर्याति ने गोचैरं किँमपि दां पुष्णांति येत्सर्वर्दां ॥ ह्यंथिन्यैः प्रतिपाँचमानमीनदां प्राप्नांति वृष्टिं पराम् ॥ कर्ल्पातिष्वेपि ने प्रयोति निधनं विद्यार्ष्यमंतर्धनम् ॥ येषां तान्त्रेतिमोनमुज्झैत नृपाः कैस्तैः सहै स्पैर्धते॥१६॥

संo टीo—राज्ञा कवयः सर्वदा आदरणीयाः नतु अहंकारेण निर्भत्सनीया इति श्लोकहृयेनाह । हर्तुरिति । मो नृपा राजानः ! येपां विद्याख्यमन्तर्धनं वर्त्तते तान्प्रति मानमहंकारमुञ्ज्ञत त्यजत । कथंमृतं विद्याख्यं धनम् । हर्तुस्तस्करस्य यद्गोचरं न याति तस्य दश्यं न भवति ।
पनः कथंमृतं किमप्यनिर्वचनीयं शं सुखं पुष्णाति पुष्टिं प्रापयति । पुनः कथंभृतं । सर्वदा
सर्वकालेष्विप आर्थम्यः शिष्येभ्यः प्रतिपाद्यमानं दत्तं परामुत्कृष्टां वृद्धिं प्राप्नोति । पुनः कल्पान्ते
प्विप निधनं नाशं न प्रयाति न प्राप्नोति । एतादशं येपामन्तर्धनं तैःसह कःस्पर्धते स्पर्धो करोति ।
न कोऽपीत्थर्थः । शार्दूलिक्नीडितं वृत्तमिदम् ॥ १६ ॥

भा० टी०—जो चोरको नहीं दीखसक्ता, जो सदैव मुखकी वृद्धि करताहै, जो जिज्ञासुओंको देनेसे परमवृद्धिकोमाप्तहोताहै, तथा कल्पान्तमें भी जिसका नाश नहीं होता, ऐसा विद्यारूपी गुप्तथन जिनकेपास है उनसे हे राज्याको ! कथी। अभियान मत करो- क्योंकि उनके समान इस जगत्म भूका कौन के १ व १६ ।

इत्यम् — नोरं सकत नहि चोर भोर निशि पुष्ट करत हित। इत्यम् को देत होत क्षण क्षणमें अगणित। कवहं विनस्त नहि नहि क्षण स्थामें अगणित। कवहं विनस्त नहि नहि क्षण स्थाप । जिनके ये सुरा साज स्था निक्ष प्रमण मन ॥ गजाधिराज इत्यपति ये पती अधिकार की नहीं निहार हम फेरवो यह तुमको है उचित नहि ॥१४४

तीयनारमांथांनाण्डितानमांवमंस्थां। स्तृंगीनवं ठावे ठवमां नितें तोनसंरुणेकि॥ जीननवमद्रेयवाऽयांनगण्डस्थठानाम्। संस्थित विस्तित्वांग्णानीम्॥ १७॥ अम्मोजिनीवनिनवाँसविलासमेवं। हंसस्य हन्तिं निर्त्तरां कुपितो विधाता ॥ निर्त्वस्यं दुग्धजलमेदंविधो प्रसिद्धीम्। वैदग्ध्यंकीर्तिमैपहर्तुर्मेसो सर्मधः॥ १८॥

सं० टी०—औपाधिकगुणान् निवर्तायेतुं छोकः समर्थः किन्तु स्वाभाविकगुणं निवर्त-यितुं न कोऽपि समर्थ इति हंसदृष्टान्तेन द्योतयित । अम्भोजिनीति । यो यस्य स्वाभाविकः सऱ्गुणस्तं गुणं न कोऽपि हर्तुं शक्तोति । अत्र दृष्टान्तः । अम्भसो जाताः कमिछन्यस्तासां वनं तत्र निवासो वसितस्थानं तेन विख्सदम्भ एतादृशं हंसस्य विलासं विधाता त्रह्या नितरामस्यन्तं कुपितश्चेद्विः लासमेव हन्ति न तु दुग्धजलयोभेदिविषौ यत् प्रसिद्धं वैदग्ध्यं चातुर्य्यं तस्य कीर्तिस्तांहर्तुं समर्थः । तर्हि इतरेषां का वार्ता । वसन्ततिलकावृत्तामिदम् ॥ १८ ॥

भा० टी॰—हंसपर यदि विधाता कोप करे तो उसका कमलके वनोंका निवास और वहांका विलास नष्ट करसक्ताहै; परन्तु उसके दूध और पानीके अलग करनेकी मिसद्ध कीर्तिको नहीं नष्ट करसक्ता; अर्थात् उसके गुणोंको नहीं छीनसक्ता॥ १८॥

सोरठा—कमलन डारे खोय कोप करे विधि हंस पै। पय पानी संग होय जुदे करे ले सकत नहि॥ १८॥

केयूरों नै विभूषयंति पुरुषं हारा न चंद्रोज्ज्वेला। ने स्नानं ने विलेपेनं ने कुर्सुमं नीलंकती मूर्डजी:॥ वर्ण्यिकी समलंकेरोति पुरुषं यो संस्कृती धार्यते। क्षीयंति खर्लुं भूषणोनि सतते वाग्भूषेणं भूषणमें॥१९॥

सं० टी—केयूरादयोऽलंकाराः पुरुषं न विभूपयन्ति किन्तु वागलंकारो हि तस्योत्तमोऽलंकार इसाह । केयूरेति, केयूरा बाहुभूपणानि, चन्द्रवदुञ्ज्वला मुक्ताफलानां हाराः, शृद्धं स्नानं, विलेपनं गंधादिकं, कुसुमं पुष्पं च अलंकताः सज्जीकृताः धूपिता मूर्धजाः केशाः ऐते पदार्थाः पुरुषं न भूप-यन्ति । यदा मोर्ल्यं पुरुपंस्याऽरित तदेभिः किंभूपणं भवति । तर्हि किं एका वाक् सम्यक्ष्रकारेण अलंकरोति शोभयति, साऽपि वाक् या संस्कृता व्याकरणादिशास्त्रसंस्नारयुक्ता पुरुषेण धार्यते ।

सिनम्त्र निवाहत ॥ धनसंचय फल हीन होय विद्याजु अदूषण। लजायुत जो होय ताहि नहिं चिहये भूषण ॥ २१ ॥ दाक्षिण्यं स्वेजने दयाँ परजैने शाँठ्य सदाँ दुर्जने। प्रीतिः साधुर्जने नैयो न्यजैने विद्वजैनेष्वार्जवम् ॥ शोर्ये शत्रुर्जने क्षमाँ गुरुर्जने नारीर्जने धूर्ततीं। ये ये वेव पुरुषें कलासुँ कुशलैं स्वेव लोकस्थितः॥ २२॥ ये वेव पुरुषें कलासुँ कुशलैं स्वेव लोकस्थितः॥ २२॥

सं० ठी०—अधुना छोकास्थिति द्योतयित । दाक्षिण्यमिति । स्वजने पुत्रकलत्रादौ दािक्षण्यमोदार्थ्यं "दक्षिणे सरलो दारावित्यमरः" । परजने दया कृपा "कृपा दयाऽनुकरण स्यादित्यमरः" । दुर्जने शठमनुष्ये सदा शाठ्यं शठता, । नृपजने रािक्ष नयो नीितन्यायः, । विद्वजनेषु पाण्डतेष्वार्जवमृजुत्वम् । साधुजने प्रीतिः । शत्रुजने शौर्यं शूरता । गुरुजने मान्यजने क्षमा । नारीजने धूर्तता । एवमनेन प्रकारेण ये पुरुषाः कलासु कुशला दक्षास्तेष्वेव लोकानां स्थितिः मर्यालनम् । वृत्तं पूर्वोक्तमेव ॥ २२ ॥

भा० टी०-स्रीपुत्रादिपर उदारता, परजनोंपर द्या, दुर्जनके संग श्रव्हा, भलेंकि संग प्रीति, राजसभामें नीति, विद्वानोंके संग नम्रता, शत्रुके प्रति श्रूरता, विद्वेलोगोंसे क्षमा, और स्नियोंके साथ धूर्तता, जो पुरुष इन सब कलाओं क्रिश्रल हैं उन्हींसे लोककी मर्यादा है ॥ २२ ॥

छप्पय—सज्जनसों हित रीति दया परजनसों भाषहु । दुर्जनसों शठभाव प्रीति सन्तन प्रति राखहु । कपट खलनसों राखि विनय राखौ वुधजनसों । क्षमा गुरुनसों राख शूरता वैरीगण्यासों । धूरतता राखि युवतीनसों जो तू जग विसवी चहे । अति ही करालकलिकालमें इन चालनसों सुख लहे ॥ २२ ॥

जौडवं धियो हरेंति सिश्चँति वीचि सत्यम् । मानोर्झातें दिशांति पापंमपाकेरोति ॥ चेतैः प्रसाद्यति दिक्षुँ तैनोति कीर्तिम् । स.संङ्गतिः कथर्ये विके ने केरोति पुंसाम् ॥ २३ ॥ सं० टी०—इदानी सत्सङ्गतेः प्रभाव वर्णयंति । जाड्यमिति । सत्सङ्गतिः साधु-जनानां समागमः वियः बुद्धेजीडयं मन्दतां हरित, वाचि वाण्यां सत्यं सिंचति, मानस्योन्नितं वृद्धि दिशति ददाति, पापमपाक्तरोति दूरीकरोति । चेतिश्चतं प्रसादयित प्रसन्नतां नयिते । दिक्षु कीर्ति यशः तनोति विस्तारयिते । एवंच सत्सङ्गतिः पुंसां किर्कि न करोतीति कथय वद वसन्त-तिळकावृत्तमिदम् ॥ २३ ॥

भा० टी०—सज्जनोंकी संगात बुद्धिकी मन्द्रताको नाश करतीहै, वा-णीको सत्यताकी धारासे सींचती है, मानको बहातीहै, पापको दूर करतीहै, वित्तको मसन्न रखतीहै, और चारोंओर यशको फलातीहै, फिर बताओ यह मनुष्यको क्या २ लाभ नहीं पहुंचाती॥ २३॥

दोहा—अडताई मतिकी हरत पाप निवारत अह । कीरति सत्य प्रसन्नता देत सदां सत्सह ॥ २३ ॥ जयन्तिं ते सुकृतिनी रसिसदाः कवीश्वराः ॥ नीरित येषां यशःकाये जरामरणीजं भयम् ॥ २४ ॥

सं० टी०—अधुना रसिसद्रकवीधराणां सर्वेत्विपत्वमाह । जयन्तीति । रसेषु मृहारा-दिपु सिद्धाः परिपूर्णाः सुद्धतिनः पुण्यवन्तः "सुद्धती पुण्यवान् धन्य" त्यमरः। ते कवीकारः कविश्रेष्टाः जयन्ति सर्वोत्वर्षेण वर्त्तन्ते । ते के, येषां यशःकाये वीर्तिरूपदेहे जरा च मरणं च ताभ्यां जातं भयं नास्ति । अनुष्टुबृबृत्तमिदम् ॥ २४ ॥

भा विश्न जिम्हों पे पुण्यात्मा कवी धराँकी जिनने रसोंको मिद्र किया, और जिनकी यशरूपी कायाको बुहावे और मृत्युसे भय नहीं है।। २४॥ दोहा—सबसें ऊंचे सुकवि जानत रसकी सोत।

जिनके जसकी देहको जरामरण निह होत ॥ २४ ॥ सूनुः सचरितैः सती प्रियतमां स्वांमी प्रसादोन्मुर्खः ।

स्निग्धं मित्रँमवर्श्वकः परिजंनो निःक्वेशिटशं मर्नः आकौरो सचिरें स्थिरश्री विभवो विद्यावदीतं सुर्खम्।

तुंष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरी संप्राप्यते देहिनी ॥ २५॥

सं० टी०—भगवत्प्रसादादेव सचिरतादियुक्ताः पुत्रादयो भवन्तीत्याह । सूनुरिति । पुत्रः सचिरतः सहृतः । अतिशयेनप्रिया प्रियतमा सती । स्वामी प्रसादे प्रसन्नतायां उन्ने उपस्येति प्रसादोन्मुखः । स्निष्धं स्नेहयुक्तं भित्रम् । अवचकः परिजनः स्वकीयजनसमुदायः । निर्वे छशमाधिरिहतं स्वस्थं मनः । आकारो रुचिरः । स्थिरश्च विभवः ऐश्वर्थं । विद्ययाऽवदातं से मुखिमिति । ऐते पदार्था विष्टपहारिणि स्वर्गवासिनीष्टदहरौ नारायणे तुष्टे प्रसन्ने सिते प्रस्थेण प्राप्यन्ते ॥ शार्द्छविक्तीडितं वृक्तमिदम् ॥ २५ ॥

भार्ृटी०—सपूतलडका, पितत्रतास्त्री, इंसमुखस्वामी, प्रेमीमित्र, कुटुम्बी, क्वेशरिहत मन, सुन्दरस्वरूप, स्थिरसम्पत्ति, और विद्यासे शोभित मुन्दे ये सब उस मनुष्यको प्राप्तहोतेहैं जिसपर सम्पूर्णमनोरथोंका देनेवाला स्वर्म वासी ईश्वर प्रसन्न हो ॥ २५ ॥

छप्पय—पुत्रमिलैंसचरित नारीह सतीसुहावन । स्वामी हँसमुख मिले मीत्रह प्रीतिनवाहन ॥ परिजन छलसों हीन कलहिन मन सुखकारी ॥ आनन सुन्दर मिले अचल लक्ष्मीह भारी ॥ सब शोभाकी खान मिले विद्यामुख मंडन ॥ होंहि प्रसन्न रमेश सकल अघओघ विखंडन ॥ २५ ॥

प्राणाघातांत्रिवृत्तिः परधनैहरणे संयमेः सत्यवाक्यम्। काँछे शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावैः परेषाम्॥ तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषुँ चै विनर्थः सर्वभूतानुकेँम्पा। सामान्यैः सर्वर्शास्त्रेष्वनुपर्हतविधिः श्रेयेंसामेषेपंथीः॥२६॥

सं टी०—प्राणाचातादिति । प्राणस्य भात्मनोऽन्यस्य वा भावातो हनवं तस्मानि वृत्तिः । परधनहरणे संयमिश्चतस्य नियमनं । सत्यवाक्यं यथार्थवचनम् । योग्यकाळे शक्त्या दानम् । परेपां युवतिजनकथासु मूक्तभावस्तृष्णीमावः । तृष्णाळक्षणं स्नेतत्तस्यविभङ्गः भाशाप्रवाहं निवर्तनम् । गुरुपु विनयो नम्रत्वम् । सर्वभूतेष्वनुकम्पा छपा । ऐते पदार्थाः सर्वशास्त्रिषु सामान्यते वाहुत्येन अनुपहत्विधिः न त्यक्तो विविर्मर्थादा एवंभूतः श्रेयसां पुण्यानामेषः पन्थाः मार्गः प्रोक्तः स्वन्यरावृत्तिमिदम् ॥ २६ ॥

भा० टी॰—जीवहिंसान करना, परधनहरण न करना, सत्यवीलना, सम-यपर यथाद्यक्ति दान करना, पराईस्त्रियोंकी कथापर ध्यान न देना, तृष्णाके मबाहको तोढना (लोभको छोडना) बडेलोगोंसे नम्रता करना, माणिमात्रपर दया करना, और शास्त्रानुसार विधिपूर्वक कार्य करना, ये सब मनुष्योंके कल्या-णके मार्ग हैं।। २६॥

छप्पय—तजे प्राणकी घात और परधन नहिं राखे। पर-युवतीकों त्याग वचन झूंठे नहिं भाखे। निजहाथन जाति दान, देत तृष्णाकों रोकत। दया सवनमें राख गुरुनके चरनन ढोकत। यह संमत है श्रुति सुमृतिको सवकों सुखदायक सुभग। जेचलत धीरते धन्यहै उनहींसो जगभगत जग॥ २६॥

> प्रारम्येते नै खर्लुं विष्ठमयेने नीचैः। प्रारम्यं विष्ठविहर्तां विरमन्तिं मध्याः॥ विष्ठैः पुनैः पुनैरपि प्रतिहन्यमानीः। प्रारम्ये चोत्तमजनी नैं परित्यजैन्ति॥ २७॥

सं० टी०—इदानीं उत्तममध्यमाधमपुरुपाणां कार्यारम्भे वैचित्रयं वर्णयति । प्रारम्य इति । नीचैः क्षद्रैर्विप्तमयेन यक्तिचित्कर्म न प्रारम्यते नानुष्टीयते । मध्यमा आदौ प्रारम्मं कृत्वा पश्चात् विष्नेन विहता वाधिताः संतः कार्यं तथैव परित्यजन्ति । उत्तमजनास्तु यदारम्धं कार्यं पुनः पुनः विष्नेन प्रतिहता अपि नपरित्यजन्ति । वसन्तितिङकावृत्तमिदम् ॥ २७ ॥

भा० टी०—नीचमनुष्य विश्वके भयसे कोई काम आरम्भही नहीं करते, मध्यमपुरुष कार्यको आरम्भ तौ करदेवेहें पर विश्व होतेही छोड़देवेहें, परन्तु उत्तमपुरुष वारम्यार विश्व होनेपरभी जिसकार्यको प्रारम्भ करतेहें उसे पूरा-कियेविना नहीं छोडते॥ २७॥

छप्पय—करहिंन काज आरंभ विष्नभय अधम अनारी। मध्य-म काजिह छेड विष्नभय देंहिं विसारी ॥ उत्तम त्यागिह नाहिं करे जो काज अरंभा ॥ परें अनेकन विष्न तदापि रहें अडिगअथंभा । धनजन वैभव पाप रहें ऐसे जनसूरे। दें मूंछन्पे ताव फिरें जग सब सुख पूरे ॥ २७ ॥ असन्तो नाष्ट्यैर्थ्याः सुहद्पि न यार्च्यः कृश्यनः। प्रियां न्याय्यां देतिर्मिलिनेंमसुंभक्षेऽप्यैसुकेरम्। विपेधुच्चैः र्थियं पेदमनुविधेयं चे महताम्। सैतां के नोदिष्टं विषमेंमसिधारात्रतमिद्म् ॥ २८॥

सं. टी०—अधुना संपुरुषाणां स्वाभाविकगुणान् दर्शयति । प्रियेति । असन्तो दुष्टानाम्यर्थ्याः न याचनीयाः । क्रशधनोऽरुपधनः सुहृद्धि नयाच्यः । सर्वेषां प्रिया न्याय्या विद्युत्तां
वृत्तिः । असुभङ्गे प्राणभङ्गेऽपि मालेनं पापमसुकरं नैव करोति । विपद्यापत्तौ उच्चैः स्थ्यम् । महत्यदे
स्थितो भवति स्वगौरवं न त्यजति । महतां पदमनुविधयं । यथा महान्तः स्वपदे स्वस्थाने महत्वेन
स्थिताः तथेवायमप्यनुकरोति । इति विपममसिधारावतं नैष्टिकवतं सतां केनोदिष्टमुपदिष्टं न केनािष ।
स्य सतां स्वाभाविको गुण इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तिभदम् ॥ २८ ॥

भा० टी०—अच्छेमनुष्योंको न्यायसे मेम होताहै, और वे माण जाने परभी बुरे काम नहीं करते । दुष्टमनुष्यसे और स्वल्पधनवाछे मित्रसेभी कैसी ही विपत्ति क्योंनपडे नहीं मांगते, और अपने गौरवको ऊचपदसे नहीं गिरने देते । यह नहीं जानपडता कि तलवारकी धारसेभी कठिन यह वत किसने इनको सिखाया है ? ॥ २८॥

कुण्डित्या—मांगत नांहि न दुष्टसों छेत मित्रकों नांहि। प्रीति निवाहत विपदमें न्यायवृत्ति मन माँहि। न्यायवृत्ति मन माहिं उच्चपद प्यारों जिनकों। प्राणन हं के जात अकृत नहिं भावत तिनकों। खड़ुधारवत धार रहे कोहं नहि त्यांगें। सन्तन-कों यह मंत्र दियों कोने विन मागें॥ २८॥

॥ इति विद्वत्पशंसा॥

अथ मानशौर्यप्रशंसा ।

٩.

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृँशोऽँपि शिथिलप्रांयोपि कृष्टां दर्शा-। मापैन्नोऽपि विपन्नदीधितिरीप प्रौणेषु नर्श्वंत्स्वपि ॥ मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलयासिकवद्दर्शृंहः। ैंकिं जीणें तृणेमेति मानमहतींभयेसीर केसीरी॥ २९॥

सं. टी० — अतिहीनदशामापन्नोऽपि मानी पुरुषः स्वमाननाशकं किमपि कार्यं न तरोतीति सिंहान्योक्त्या ध्वनति । कुरक्षामेति । कुरक्षामोऽपि क्षघया क्षामो हीनसत्वोऽपि, जरया, इशोऽपि, शिथिछप्रायोऽपि, एवं कष्टां दशामापनः प्राप्तोऽपि । विपन्नदीधितिरपि, निस्तेजाअपि । ग्राणेपु नश्यत्विप मरणसमयं प्राप्तोपि । एवं जाते सिंत क्षुधानाशार्थं केसरी सिंहः किं जीर्ण गृणमत्ति मक्षयित । कथंमृतः केसरी महान्तश्वते इभेन्द्राश्च तेषां विभिन्ना विदारिताः कुम्भाः गण्ड-थछानि तेषां ये मांसकवछास्तेषां प्रासास्तेषु बद्दा स्पृहा येन । पुनः कथंमृतः मानेनाभिमानेन । हान्तस्तेषांमध्येऽप्रेसरोऽप्रगण्योऽहंकारयुक्तः । एवं सिंहवदहंकारवान् पुरुपार्थी पुरुषः क्षुद्रकार्यं

भा. टी०—भ्राकेमारे हुर्बेल, शक्तिहीन, बुढापेसे दुःखी कष्टकी दशा की प्राप्त तेजहीन और महान्पुरुपोंमें अग्रगण्य सिंह प्राण जानेवाले हों तौ-भी मदवाले हाथीके मस्तकको फाडकर मांस खानेकी इच्छा रखताहै, सूखी घास बानेकी नहीं । इस श्लोकका अभिप्राय यहहैं कि चाहै जैसी विपक्ति क्यों न हि उत्तम पुरुप नीचकर्भ कभी नहीं करते ॥ २९ ॥

गावटम्बेत । शार्द्छविक्रीडितवृत्तमिदम् ॥ २९ ॥

कुण्डलिया—नाहर भूखो उदर कृश वृद्ध वयस तनक्षीण। शिथिल प्राण अतिकप्टसों चलिवेही मेंलीन। चलवे ही में लीन ाऊ साहस नहि छाँडै। मदगज कुम्भविदार मांसभक्षण मन-वाँढै। सृगपति भूखो घास पुरानो खात न जाहर। अभिमनिन में मुख्य शिरोमणि सोहत नाहर॥ २९॥ सं० टी०—कुसुमेति । कुसुमानां पुष्पाणां स्तवको गुच्छस्तस्येव प्रशस्तं मने।ऽस्य मनित्रे तेपां हे गती स्थितीस्तः, के ते प्रकाराः यथा प्रहीतिर सित पुष्पस्तवकेन सर्वछोकस्य मूर्धि मस्तके अवशीयिते अथवा वने विशीर्येत । तथा मनिस्तनः हितोपदेशकरणेन पूज्या भवन्तीत्यन्यथा तृष्णी मवितष्टन्त इति ज्ञातन्यम् । अनुष्टुब्ब्न्तिमदम् ॥ ३३ ॥

भा०टी०—श्रेष्ठपुरुपोंकी गति फूलके गुच्छेके समान दोपकारकी है, कि या तौ वे सवलोगोंके शिरही पर विराजते हैं अथवा वनमेंही सूखकर नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३॥

दोहा--पहुप गुच्छ सिरपे रहे के सूखे वन माँहि। मान ठोर सत् पुरुष रहिके सुखदु:ख घन मांहि॥३३॥

संत्येन्येऽपि वृहस्पातित्रेश्वतयः संभाविताः पञ्चेषारतीनेत्रैत्येषं विशेषविक्रमेरुची राहुं ने वेरायंते ॥ द्वावेवं येसते दिनेश्वर्राने-शाप्राणेश्वरो भाँसुरो आर्तः पैर्वणि प्रवेय दानवंपतिः शीर्पावशेषीकृतः ॥ ३४॥

सं० ६१०—ग्राः समानपरात्रमान् पीडयति अल्पवीर्यान् नेति राहुद्दशन्तेन ध्वनि । सन्ति । गृहस्यतिप्रस्तयः पञ्च वा पङ्चा पञ्चपाः सम्भाविता महान्तःसन्ति । तान् प्रस्पेषे राहुः विशेषित्रक्रमत्तिः सन्त्वरायते न वरं करोति । प्रशिषे दिनधरः सृथी निशाप्राणेशस्थान्दः स्मे हष्टि शन्ति। तत्रस्य गर्वि प्रस्ते । कथं मृते। राहुः दानवपतिः शीर्षावदेशपाद्यतः अते। श्रोतः। किगुक्षं विशेषा स्वदेशे । सहत्वव्येश्वरि तृ निःशेषम् । शाद्विश्वर्वादितवृत्तिवद्यापिदम् ॥ ६४ ॥

ना० टीट-प्रगत्नपत्री विशेष इच्छा कर्नवाला दानवींका पाने या राष्ट्र इहस्ति व्यदि अन्य पांच या छ प्रदोंसे वेर नहीं करता, केवल सिर्मायही प्रा लिहरम्भी दह व्यदित्व गर्मवेदाले सुर्प और चन्द्रमाफोही अमावास्या और पूर्भमासीको ज्ञावन द्यासवित । इसका अभिनाय यह हैकि सुर्भीर अपने वरावण दन्ही काई सापता कर्नेह निर्देलको नहीं सनाने हैं॥ ३४॥ कुण्डिलिया—राजानिशि अरु दिवसकों रिव शिश तेजनि-ग्रान । पांची यह इनसम नहीं ताते तजे निदान ॥ ताते तजे नि-ग्रान आन इनहीं सो अकडत । रह्यो लीसको राह चाहकर जवतव ग्राकडत । ऐसेही नरधीर मरतह करत सुकाजा । गिरत पडत रण-गाँहि सुभट पहुंचत जहां राजा ॥ ३४॥

वैहित भुवनिश्रेणीं शेषैः फणाँफणकस्थितां कमर्ठ-पितना मँध्येष्ट्रष्टं सिदा से विधार्यते॥ तैमिपि वहेंरेते कोडोंधीनं पैयोधिरनींद्रार्द्ह्ह महितां निःसी मौनैश्चरित्रविधृतयः॥ ३५॥

सं० दी ०—वहतीति । शेषो नागः सुवनस्य संसारस्य श्रेणी पंक्ति पाणाकत्यकियाः कणामण्डलस्थितां वहति धारयति । स शेषः कमठपतिना कृषेण मन्यपृष्टं मुष्टमस्य सदा धार्यते । तं कृषे पपोनिधिः समुद्रोऽनादरात् जोडो घराहरतद्भीनं पुरुते । एवं महतां चरित्रविभृतयः ऐश्वर्याण नेःसीमाना मर्यादामतिकान्ता अतिशयिताः अनेन महतां सामर्थ्यं निःसीममपरिभित्तिभितिमृचितम् । इरिणीवृत्तिमदम् ॥ ३९॥

भा. टी०—चौदह भुवनांकी पंक्ति शेपजी अपने पानापर धारण करते हैं, और जनशेपभीको बाच्छप अपनी पीठपर धारण करता है, तथा हम बाच्छपको मण्ड के अनादरसे बराहजी (स्ट्र) के आधीन करिदया है, इससे यह सिद्ध होता है कि महज्जनोंके चरित्रकी विभ्ति असीम है। ३५॥

छप्य—धरी धराकों शिल शेप अति करये। पराक्रम । शेप सिंहत सबभूमि कमठ धर रही। विनाश्रम । कमठ शेप और भूमि-भार बाराह रही। धर । इन सबिहिनकों भार एक जलके आधि-तकर । एक एकसें। विक्रम अधिकही करत पढ़े अञ्चतसुद्धति । तिनके चरित्र सीमाराहित अति विचित्र राखत सुवृत्ति ॥ ३५॥

वेरं पक्षे च्छेदः समदमघवन्मु संकु ि श्रिश्तः च्छ इह हैं दहनोद्गारगुरुभिः ॥ तुपाराद्रेः स्नोरह है पितेरि है शिव-वशे भैचारी संपातः पथिस पथसां पत्युरिचर्तः ॥ ३६॥ सं. टी०—हेशाक्रान्तं पितरं त्यक्त्वाऽन्यत्र स्वप्राणरक्षणार्थं गन्तुं नोचितमित्याह्। तुत्राः द्रोहिमालयस्य सूनोः पुत्रस्य मेनाकस्य समदमववनमुक्तकुलिशप्रहार्रमदेन युक्तो भववानिन्द्रदे मुक्ताः कुलिशप्रहारास्तैः पक्षच्छेदः वरं श्रेष्टः कथं मृतंत्रहृच्छन्तो ये वहलदहनस्योद्वारान्तं गुरुभिः पृयुभिरेवम्तैः खङ्गप्रहारेः। कस्मिन् सति। पितिरे हिमाद्रे। हेशविवशे पक्षच्छेदेन हेश युक्ते सति तं पितरं त्यक्त्वा पथसां पत्युः समुद्रस्य पयस्युद्रके संपातः भयेन पतनं नोचितं व्याग्यम्। शिखरिणीवृत्तमिदम्॥ ३६॥

भा० टी०—पर्दमं भरेहुए इन्द्रके चलाये हुए वज्रक्षे कि जिसकी अप्रिर्का ज्वाला अत्यन्त कठिन है मैनाकका मरजाना अच्छा था, परन्तु उसको उक्ति नहीं थाकि अपने पिता हिमाचलको लेशविवश छोडकर समुद्रमं कृदकर अपने पंख वचावै॥ ३६॥

कुण्डिलिया—हिमगिरि सिर धुनके कहे कहा कियों मैनाक। सिहवों हो निजसीसपे इन्द्रवज्ञपरिपाक । इन्द्रवज्ञ रि कि अग्निज्वालों जीदवों । नीकों हो सब आंत उहां स उन्द्रवि मिन्युके माहि कहीं कीलों वहें हैथिर। निष् ज लजायों मोहि पिता नाहि जान्यों हिमगिरि॥ ३६॥

थेदचेतेनोऽपि पाँदैः स्पृष्टः प्रज्वकित सर्वितुरिनकांतैः। तेत्रेजस्वी पुरुषः परकैतिविकृतिं कैथं सर्हेते ॥ ३७॥

सं टी ० — तेजस्वीपुरुपः परकृतिविक्वति नसहत इति इनकान्तदृष्टान्तेन वदिति । यदचेतनोऽि चेतनारिहतोऽिप इनकान्तः सूर्यकान्तः सर्वतुः सूर्यस्य पादैः किरणे स्पृष्टः सन् प्रज्यव्यति । एवं सित सचेनस्तेजस्वी पुरुषः परकृतां विक्वति विकारं कथं सहते नति इत्यर्थः । आर्योवृत्तिविदम् ॥ २०॥

भा० टी०--जब सूर्यकान्तमणि अचेतन होनेपरभी सूर्यके किरणर्वणी पांवके स्पर्शसे जल उठता है तो सचेतन तेजस्वी पुरुप दूसरोंके अनादरको केले सहसक्तेहैं। १७॥

दोहा—वचन वाणसम अवण सुन सहत कोन रिस साग । स्रजपद परिहारतें पाहन उगलत आग ॥ ३७ ॥ सिंहःशिशुरेपि निर्पतित सदस्रिनिनकपोलभित्तिषुंगजेषुः प्रकृतिरियं सर्व्यतां नै खेलु वैयस्तेर्जसो हेर्तुः ॥ ३८ सं० टी०——सप्पवतां तेजसो हेतुः प्रकृतिरेव वयो नेति सिंहशिशुद्धान्तेन वदिति । सिंहति । शिजुरिप सिंहो मदेन मिलनाः कपोलीभत्तयो येपां तेपु गर्जपु निपत्तति । इयं सत्ववतां प्रकृतिःस्वभावः । यतो खनु निथ्ययेन तेजसो हेतुः वयो नेत्यर्थः । आयीवृत्तिभिदम् ॥ ३८॥

भा० टी०--सिंह्डा वद्याभी मद्ते यालिन कपोलींवाले हाथिवेंपरही सपटताहे क्योंकि तेजस्वियोंका यही स्वभाव है। निश्चय जानो कि तेजका हेतु अवस्था नहीं है॥ ३८॥

दोहा--दृट सिंह शिशु करिनिकर विचलावे क्षणमांहि। तेजवानकी प्रकृति यह तेजहेतु वय नांहि॥ ३८॥ इति सानशोधेप्रशंसा। ॥ अथ द्वव्यप्रशंसा॥

जोतियोंतुं रसातेलं गुणगॅणस्तर्स्याप्यधो गच्छता च्छीलं शेलंतटात्पत्रत्विभिजैनः सन्द्रहातीं वन्हिना॥ शीर्ये वैरिणि वर्ज्जभाशा निर्पतत्विथोंऽस्ति नैः केवेलं "येनेकेने विनी गुणास्तृणलवैत्रायाः सैमस्ता हेंमे॥३९॥

संट टी॰—इदानी द्रव्यप्रशंसा वर्ण्यते । जातिरिति । जातिः स्वजातिः रसातलं यातु गच्छत् । गुणाः सद्गुणास्तेपां गणः समुदायो रसातलस्याप्यधो गच्छतात् । शीलं सद्वृत्तं शैलिक्टात् पर्वततटात् पततु । अभिजनः कुलं " तन्तितिर्गीत्रजनन कुलान्यभिजनान्वयो " इत्यमरः विन्हिना द्याताम् । शोर्थेण याचितुं न शक्यतेऽतस्तद्देरिणि शोर्थे तिसम् वज्ञमाशु शीष्रं निपततु । एवं सर्वस्य हानिर्भवतु परन्तु नोऽस्माकं केवलं मुख्योऽथी द्रव्यमस्तु किमर्थ येनैकेनार्थेनाविना पूर्वोक्त-गुणास्तृणलवप्राया भवन्ति । शार्शृलविक्तीडितवृत्तमिदम् ॥ ३९ ॥

१९१० टी०—चाहें जाति रसातलमें जाय, सब उत्तमगुण उससेभी नीचे चले जाँय, बीलता पर्दतसे गिरकर नष्ट होनाय, झलके लोग अग्निसे जलजाँय, और शूरतारूपी शहुपर बज्ज गिरपडे (इनसे हमको झुळ प्रयोजन नहीं) हमको तो केवल एक द्रन्यसे प्रयोजन हैं, जिसकेदिना सब गुण दुणके समान हैं॥३९॥

छप्पय—जाति रसातल जाहु गुण ताहूके तर। परो शील-पर शैल अग्निमें जरो सुपरिकर। स्रातनके शीश बज्ज वैरिनिकी वरसहु। एक द्रव्य बहुआंति रैंन दिन घन ज्यों सरसहु।जिहियिन सकल गुण तृणिहि सम कलुकारज नहि करसकहिं। कंचन अर्थ सवसोंजसुख विनकंचन अकवकाहि॥ ३९॥

तानिन्द्रियोणि सकैछानि तंदेव कॅर्म सां वुर्द्धित्र-तिहता वैचनं तेदेवें ॥ अथोधिमणा विरहितेः पुर्ह्मः से एवं त्वैन्यः क्षणेने भवैतीति विचित्रमेतते ॥ ४०॥

सं टी०—अवुना श्लोकद्वयेन द्रव्यस्य श्रेष्टतं वर्णयित । सामर्थ्ये सित वानि पूर्वि मिन्दियाणि आसन् तान्येव सिन्ति । तदेव कमें । वृद्धिरिप सेव कीट्स्यप्रितिहता नाइां न प्रति। वचनमिप तदेव वक्तृशक्तिः । एवं सर्वथा पूर्वे यदासीचदास्ति परन्तु एकोऽर्थो द्रव्यं तस्योष्मा ति विरिहितः शून्यः स एव पुरुपः क्षणेनान्यो भवतीति एतत् विचित्रमाश्चर्यम् । अवस्यं द्रवं सम्पादनीयमितिभावः ॥ वसन्तितिङकावृत्तम् ॥ ४० ॥

भा० टी०-सन इन्द्रियांभी नहीं हैं, सन व्यवहारभी नहीं हैं, दुिंड्भी पहिलेकेसच्या प्रवल है, नचनभी नहीं हैं, परन्तु नहें आश्चर्यकी नात हैं की विना धनके नहीं मनुष्य क्षणभरमें औरका और होजाताहै॥ ४०॥

दोहा-वही इन्द्री वही कर्म है वही वृद्धि वह ठौर ॥

धनविहीन नर क्षणएकमें होत औरते और ॥ ४० ॥ यस्योस्ति वित्तें सें नेरः कुळीनः से पण्डितः से श्रुति-वान् गुणेईः ॥ से एवं वक्तां से चे देंशनीयः सेंवें गुणेंाः कार्ज्ञनमार्श्रेयन्ति ॥ ४१ ॥

सं० टी०-यस्य पुरुपस्य वित्तं धनमस्ति स नरः कुळीन एव। स एव पण्डितः स एव श्रुत वान् शास्त्रज्ञः, स एव गुणज्ञः गुणज्ञाता, स एव वक्ता। स एव दर्शनीयः इष्टुं योग्यः। एरे सर्वे गुणाः कांचनं सुवर्णभाश्रयान्ति। उपजातिर्कृतम्॥ ४१॥

भा० टी०—जिसकेपास धन है वही मनुष्य कुळीन, पण्डित, गुणी, वक्त और देखनेयोग्य होताहै, इससे ज्ञात होताहै की सवगुण सुवर्ष (धन) केई आश्रित हैं॥ ४१॥

दोहा—सोई पंडित वक्ता गुणी दर्शनयोग कुळीन ॥ जाके हिंग है लक्ष्मी संव गुण तिहिं आफ्रीन॥ ४१॥ दौर्मन्द्रियात्रृंपतिर्विन्दैयति यँतिः संगौत्सुतौं ठाठँना दिप्रोऽनध्येयनात्सुँठं कुतैनयाच्छीठं खळो-पासेनात् ॥ ^५हीर्मधादनवेक्षणादंपि कृषिः स्नेहैंः प्रेवासाश्रयान्मेत्री चौप्रणैयात्समृंदिरनेयात्यौंगा रप्रेमादादनम् ॥ ४२ ॥

स० दी०—दीर्मञ्यादिति । नृपतिर्भूपालः दीर्मञ्यात् दुष्टप्रधानानुरोधात् विनश्यिति नाशं प्राप्तोति । यतिः सन्यासी संगात् ख्यादिसंसर्गात् विनश्यिति, सृतः पुत्रो लालनात् विनश्यिति, विशे व्राष्ठणोऽनध्ययनात् विद्याध्ययनं विना नष्टे भविति, कुलं कुतनयात् कुमार्गगामिसुनतात् विनश्यिति, । शीलं सहृत्तं "शीलं स्वभावे सहृत्ते" इत्यमरः । खलीपासनात् दुष्टजनीपासनात् विनश्यिति, हीर्लेज्जा मद्यान्मदिरापानात् नश्यिति, कृषिरनवेक्षणात् वारम्वारमनवलोकनात् विनश्यिति, स्वहिः प्रीतिः प्रवासात् चिरकालविदेशनिवासाद्दिनश्यिते, मैत्री चाप्रणयात् अविनयात् विनश्यिते, समृद्धिरैश्वर्यमनयादन्यायात् नाशं प्राप्तोति, धनं प्रमादात् व्यर्थव्ययात् नष्टं भविते । तस्मान्नृपादिभिर्दुष्टप्रधानाद्यनुसेवनं न कर्तव्यमितिभावः ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

भा० टी०--बुरे मंत्रियोंसे राजाका नाश होताहै, संगतिसे तपस्वी भ्रष्ट होजाताह, वहुत लाड प्यारसे पुत्र विगडजाताहै, विद्या न पढनेसे ब्रा-ह्मणका और कुपूतसे कुलका नाश होजाताहै; दुर्जनोंकी सेवा करनेसे शील-ता और मद्य पीनेसे लजा जातीरहतीहै, विना देखभालिकये खेती। और वि देशमें रहनेसे स्नेह नष्ट होजाताहै। नम्रता न करनेसे मित्रता, अनीति करनेसे ऐश्वर्य और असावधानतासे न्यय करनेसे धनका नाश होजाताहै ॥ ४२॥

छप्य--कुत्सितमंत्री भूप सन्त विनसत कुसंगतें। छा-डलडाये पूत गोत कन्या कुढंगतें। विनविद्यातें विप्र शील खल संग लियेतें। होत प्रीतिको नाश वास परदेस कियेतें। वीन-ता विनाश मदहाससें। खेती विन देखे हगन । सुख जात अनय अनुरागतें, अतिप्रमादतें जात धन ॥ ४२ ॥ दोनं भोगो नौद्यस्तिस्त्री गर्तयो भवँन्ति वित्तस्य॥ योनं दर्वित ने भुक्तें तस्यै तृंतीया गैतिर्भर्वित ॥ ४३ ॥ सं टी॰—दानमिति । दानं भोगो नाशः । एताः तिन्ता वित्तस्य धनस्य गतयो नर्ह यः पुरुषो न ददाति न च भुंक्ते भोगं न कुक्ते तस्य वित्तस्य तृतीया गतिर्नाशो भवति । ६ द्धनवता पुरुषेण दानं भोगश्चावस्यमेव कर्तस्य इति तात्पर्थम् । आर्यावृत्तिनदम् ॥ ४३ ॥

भा० द्वी०--दान, थोग और नाश यहड़ धनकी तीन गति हैं, वि न तो भोगा जाय, और न दिया जाय ती उसकी तीसरी गति होती है, व नाश होजाताहै ॥ ४३॥

सोरठा—दान भोग और नास तीन होत गति द्रव्यकी। नांहिन द्वैको वास तहां तीसरी वसत है॥ ४३॥

मेणिःशाणोङ्घीढः समरविजँयी हेतिनिहैतो महैं- शिणो नार्गः शरादि संरितः श्यानपुँ छिनाः॥ कळाँशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता वाळळळना तीनम्री शोभेंते गळितविभैवाश्चौं थिषुँ नृपौः॥ ४४॥

सं टी०—मणिरिति । शाणेन निकपपापाणेनोर्हाढ उिहाखितः क्रशिकृतो मणि हितिभिरायुधैर्निहतः क्रतक्षतः समरे विजयशोष्टो योद्धा, मदेन क्षीणो नागो हस्ती, श्र स्यानानि शुष्काणि पुष्टिनानि जन्निर्मुक्ततटानि यासां ताः सरितो नद्यः । कल्या पोडशंभी शेपोऽवशिष्टश्चन्द्रः । सुरते मृदिता चुम्बनालिङ्गनानुपर्मादंतांगी वाला नवयोवना पोडशंभी स्त्री । एवमिर्धिपु याचकेषु गलितः संक्रान्तः विभवः समृद्धिर्येपाते नृपाश्च । तनिन्ना तनोः कृष्य भावस्तिनमा कार्स्य तेन शोभन्त इत्यन्वयः । शोभारूपैकधर्मादीपकालकारः ॥ शिखरिणीर्थं मिद्म ॥ ४४ ॥

भा॰ टी॰—सानसे खरादा हुआ मणि, समरमें शस्त्रोंसे घायल कियाह श्र, मदसे उतरा हुआ हाथी, शरद्ऋतुकी श्लीण नदी, द्वितीयाका चन्द्रमा क केलिमें मर्दनकीहुई नवयौवना वाला स्त्री और अतिदान करनेसे दरिद्री रा इन सबकी दुर्वलताहींसे शोभा है ॥ ४४॥

कुण्डिंखा—छोटी हू नीकी "ठगै मणि खरपाण चढीसु वीरअंग कटि शस्त्रों शोभा सरस वढीसु।शोभा सरस वढी अंग नज मदकर छीनहि। हैज कला सित सोह सादि सरि जिमिही नहिं। सुरत दलमलीनार लहत सुन्दरता मोटी। अर्थिनकों धन देत घटी लो नाहिं न छोटी॥ ४४॥

परिक्षीणः केश्रिल्पृहंयति यवानां प्रस्तिये सं पश्चाल्तंपूर्णो गणयेति धरित्रीं तृणसमींम्॥अतिश्ची-नेकान्त्योद्धरुरुँघुतयार्थेपुं धनिनींमवेरेथा वस्तूंनि प्रथयेति चें संकोचयेति चें ॥ ४५॥

सं० टी०—यस्तृनां गुरुत्वलयुत्वहेतुरवस्थामेदो नान्य इत्याह । परिक्षीणेति । कश्चित् पुरुदः क्षीणो दरिद्रः सन् यथानां प्रस्तये तुपाय स्पृहयित स्पृहां करोति । स एव पश्चादमे लक्ष्म्या सम्पृणेः सानिमां धरित्रीं तृणसमां तृणतुन्यां गणयित । अतो धनिनामनैकांत्यादेकस्थितेरभावा-द्यस्थाऽर्थेषु प्रयोजनेषु गुरुल्युतया वस्तृनि प्रथयित संकोचयित च । यदा कालेनावस्थाया गुरुत्यं भवति तदा गुरुत्वमेवाङ्गीकरोति । एवं काल्यरत्वेनावस्थाभेदो भवति । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ४९ ॥

भा॰ टी॰—जिन कोई मनुष्य दिर्द्धी होताहै तन तो नह केवल एक अंजिल जोकि इच्छा करताहै, परन्तु नहीं मनुष्य जन सर्वसम्पन्न अर्थात् धनी होजाताहै तन एथ्वीको तृणसमान समजता है, इसिलिये येहि दौनों चंचलअवस्था मनुष्यको गुरु और लग्नु बनाती हैं तथा वरस्तुओंको फैलाती और समेटती है। ४५॥

छप्टय—होत वहै धनहीन तवे अंजिल जो मांगत॥ धन पाये वैराग्यताहिसिह तृणसम लागत॥ दशा यहीं दोन रहिं लघु अरु दीर्घ वनावे। कराहें नीचको ऊंच ऊंचकों नीच ज-नावें॥ कवहुं करें संकोच कवहुं तिनको विस्तारें॥ धन्य धन्य वे धीर हुहुं न जो एक निहारें॥ ४५॥

राजेन्द्रधुक्षंसि येदि क्षिंतिधेनुमेनौं तेनाय वत्संमिवैं लोकंममुं पुषाणे॥ तेस्मिश्वें सम्येगनिद्धां परिपोर्ध्यं-माणे नानाफेलेः फलेति कल्पेंलतेवें भूमिः॥ ४६॥

सं ० २१०—इदानीं राज्ञा भूमिपाङनप्रकारमाह । राजन्निति । हे राजन् । यथेनां क्षिति-धेनुं पृथ्वीरूपां धेनुं दुवुक्षसि दोग्वुमिच्छिस । तेन दोहनेनाद्याधुनेमं छोक्तं प्रजां वस्तमित्र पुपाण पोषयेति । तिस्मिन् छोके वत्से सम्पक् परिपाण्यमाणे सतीयं भूमिः कल्पछतेवानिशं सर्वकाछं न फर्छः फर्छति फर्छ ददाति । वसन्तितिरूकावृत्तिमिदम् ॥ ४६ ॥

भा० टी०--हे राजन् ! यदि तुम पृथ्वीक्त्पी धेनुको दृहा चाहतेही प्रजाक्त्पी वछडेको तन मन धनसे पालन करो, यदि उसका पालनं भलीप कियाजायगा तो पृथ्वी कल्पवृक्षकेसमान अनेकप्रकारके फल देगी॥ ४६॥

दोहा—धेनु धराको चहत पय प्रजा वत्स करि मान।
याको परिपोषण किये कल्पदृक्ष सम जान॥ १६॥
सत्यान्तौ च परुषाँ प्रियवादिनी च हिंसाँ दर्यां-

लुरोपि चौथेपरी वदान्यौ ॥ नित्यवैयया प्रचुरिन-त्येधनागमा चै वेश्थांगनेव नृपेनीतिरनेकॐपा॥४७।

सं० दे १०— अधुना तृपनीतिर्वेश्याङ्गनेवानकरूपेत्याह । सत्येति कुत्रचिद्वययं सर्वत्र वक्तव्य कुत्रचित्त्या सत्यत्वेन, अनृतानृतत्वेन, परुपा काठिन्येन, मृदुवादिनी मृथुरभापणेन, हिंस हिंस द्यालुः कृपालुत्वेन, अर्थपरार्थप्रहणेन, वदान्या दातृत्वेन, नित्यव्यया धनापगमे, यस्य यित्रपि तेन प्रचुरं नित्यं धनानामागमनं यस्यां तादृशी । एवं नृपते राज्ञो नीतिः कर्तव्यतानेकरूपा । य वाराङ्गना वेश्या नानावेपान् करोति तथा राजनीतिरिप नानारूपा भवति । उपमालंकारोऽत्रवसन्तितिलकावृत्तिमिदम् ॥ ४७ ॥

भार टी॰—राजनीति वेश्याके समान अनेकमकारसे वर्तती है, कहीं है सत्य होतीहै, कहीं असत्य होतीहै, कहीं असत्य होतीहै, कहीं कठोर और कहीं वियभाषिणी हो है, कहीं हिसक और कहीं उदार होती है, कहीं छपण और कहीं उदार होती कहीं अधिक द्रव्यव्यय करनेवाली और कहीं वहुत संचय करनेवाली होती है।।४७

छप्पय—सांची है सब भांति सदा सब बातिन झुठी। कब रोससों भरी कबहु प्रिय बनै अनुठी। हिंसाको डर नाहि दयाह प्रग दिखावत। धन छवेकी वान खर्चह धनको भावत। राखत इ भीर बहु नरनकी सदा सवांरत रहतबह। इह भांतिरूप नान रचत गनिकासम नृपनीति यह॥ १७॥

विद्यो कीर्तिः पार्छनं ब्राह्मणानां दीनं भोगी भित्र-संरर्ज्ञणं च ॥ येपीमेते पड्गुणा नै प्रवृत्तीः 'कोऽर्थ'-स्तेपां पार्थियोपार्श्वयेण ॥ ४८॥ सं ० टी०—"विद्यादिपट्गुणैविना मनुष्याणां नृपाश्रयो न्यर्थः" इत्यभुना वदित । विद्या, विर्यस्यः, ब्राह्मणानां पाळनं रक्षणं, दानं, भोगः, विपद्भ्यो भित्राणां संरक्षणं, एते पूर्वकथिताः गुणा येपां न प्रवृत्ता न प्राप्तास्तेषां पार्थिवस्य नृपस्योपाश्रयेणाश्रयेण कोऽर्थः कोऽपि न । विनीवृत्तमिदम् ॥ ४८ ॥

भा० टी०--विद्या, यश, बाह्मणोंका पालन, दान, भोग, और मित्रोंकी इा करना, जिनमें यह छ गुण विद्यमान नहीं हैं उनको राजाकी सेवा करनेसे या मिलसक्ताहै ॥ ४८ ॥

ोहा--विद्या यश द्विजपालना दान भोग सन्मान ।

नृपसेवा इन छः विना निष्फल जान सुजान ॥ १८ ॥ यैद्धात्रों निजभालपैटलिखितं स्तोकं महदाँ धँनं तित्रांप्तोति मरुस्थेलेऽपि" नितिरां मेरों तितो नीधिकर्मं ॥ तिंदिरों भवें वित्तवत्सु कृपैणां होतिं वृथौं मीं कथीं। कूपें पैर्च पैथोनिधावैपि घेंटो रहेंह्याति तुलैंयं जलमें ॥ ४९ ॥

भा० टी०—थोडा अथवा बहुत जितना धन विधाताने भाग्वमें लिख-दियाँह वह अवश्यक्षी निर्भल और शून्यस्थानोंमेंभी मिलजायगा, परन्तु उससे अधिक जो सुभेर पर्वतपरभी चलेजाओं तो न मिलेगा, इसलिये धर्य धारण करो और धनीके निकट द्या अपनी दीनताको पगट मत करो। देखो । कुएमें और समुद्रमें घडा समानहीं जल भरताहै ॥ ४९॥

होहा--भालिक्यो विधिना सुबह घटे वह कहु नांहि। मुरधर कञ्चन मेरुसम जान लेहु मनमांहि॥ ४९॥

र्वमेवँ चातर्काधारोऽभीतिं केवां नै गोर्चरः॥ किँमम्भोदंवरास्मोकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्ष्यंसे॥ ५०॥

सं० दी ० — मेवं प्रति चातकस्योक्तिः । त्वमेवेति । हे अम्भोदयर ! हे मेवश्रेष्ट ! चातकानामाधारः आश्रयोऽसीति केपां गोचरः प्रत्यक्षं न अपितु सर्वेपां गोचरः । तस्मादस्माकं क कानां कार्पण्योक्तिं किं प्रतीक्ष्यसे किमुपेक्षसे । अनुष्टुवृक्टतमिदम् ॥ ९० ॥

भा॰ टी॰--हे मेघश्रेष्ट ! यह कौन नहीं जानता है कि तुमही हम चात के आधार हो, फिर अब तुम हमारी दीनताकी क्यों प्रतीक्षा करते हो ॥ ५०॥

दोहा—मेघ तुझे जाने जगत पिष्हा प्राणअधार । दीनवचन चाहत सुन्यों यह निहं उचित विचार ॥५०॥ रे रे चौतक सावधानंमनसा मित्रं क्षणं श्रूयँताम-म्मोदी वहुंवो वसैन्ति गर्गने सैवेंऽपि नैतिहर्वेाः॥ केचिई ष्टिभिराद्रयैन्ति वसुंधां गैजेन्ति केचिट्टेंथों यें यें पर्श्विसि तस्य तस्य पुरेतों मी बुँहि दीनं वैचैंः॥५९।

सं टी०—चातकोक्तरत्तरिमदम् । रेरे चातकिति । रेरे इति वीप्ता । हे चातक । सावधानमनसा स्वस्थचेतसा क्षणं क्षणमात्रं श्रृयतां मम वचः इति देापः । हि यसमाद्गगनेऽम्मोदा भेष वहषो वसन्ति किन्तु सर्वे एतादशाः करुणावन्तो न, कृतः केचिदृष्टिभिर्वसुधां पृथ्वीमार्द्रयि जल्टेन सिञ्चान्ति । केचिदृथा गर्जन्ति गर्जनां कुर्वन्ति । तस्मात् हे मित्र ! यं यं मेधं प्रयसि तस्य पुरतोऽप्रे दीनं वचो मा बृहि मा वद ॥ दातारं प्रति याचना कर्तव्या सर्वान्प्रति नेतिभावः । शार्दृष्टिविक्रीडितकृत्तिमिदम् ॥ ९०॥

भा० टी०--हे चातक! सावधान होकर मेरी वातको सुन, आकाश्रम् मेय बहुतसे हैं परन्तु सब एकसे नहीं होते, कितनेही तो जल वर्षाकर पृथ्वीक त्राकरदेतेहैं, कितने प्रथाही गर्भना कियाकरतेहैं, इसलिये जिसको तूं देखें उसीकेआंगे दीन होकर मत मांग ॥ ५१॥

कुण्डिं छिया—चातक सुन मेरे वचन सावधान मन होय। मेय यहत आकाशमें प्रकृति जुदी पन जोय॥प्रकृति जुदी पन जोय ोय परतें महिभारी ॥ कोई बृंद न देहीं गरज कर उपल प्रहारी॥ वाहीतों में कहत लेख मत यहसिर पातक। देखें जोही मेघ ताहि मत मांगे चातक॥ ५१॥

इति द्रव्यप्रशंसा समाप्ता।

अकरंणत्वमकारणैवियहः परधंने परंयोषिति चें रपृही ॥ सुजनवन्धुजनेप्यसीहिण्णुता प्रकृतिसिद्ध-मिर्दि हि दुरात्मीनाम् ॥ ५२ ॥

सं ६ टी ६ — ह्यानी दुर्जनानां प्रकृतिसिद्धलक्षणं योतयति । अकरणिति । प्राणिमात्रेषु स्वयंक्याव्यं द्यादीनता, अकारणिकातः कारणं चिना वैरं, परस्यान्यस्य धेने द्रव्ये तथाच परस्य योपिति रिक्यां रहेरेन्द्रा । सुजनेषु बन्युजनेषु सिह्ण्णोभीवः सिह्ण्णुता न सिह्ण्युता असिह्णुता अस्तरनशीळता । इदं दुरायानां प्रकृतिसिद्धं स्यागाविकं छक्षणिति शेषः । द्रुतविलिख्तं दृत्तम् ॥ ५२ ॥

भा ॰ टी॰—द्या न करना, विनाकारणही वेर करना, पराये धन और स्त्रीकी इच्छा करना, कुटुम्बियों और भित्रोंकी वात न सहना, ये सब हुर्जनोंके स्वाभाविक टक्षण हैं।। ५२॥

दोहा—दयाहीन विनकाज रिपु, तस्करता परपुष्ट।
सह न सकत सुख वन्धुको, यह सुभावसों दुष्ट॥५२॥
दुर्जनः परिहर्त्वयो विचया भूषितोऽपि सन् ॥
मणिनालङ्कृतः संपः किंसैसो ने भयद्वरः॥ ५३॥

सं० टी०—विद्यावानिष दुर्जनः परिहर्तव्य इति सर्पदृष्टान्तेन वदति । दुर्जन इति । दुर्जनो दुष्टजनः विद्यया भृषितोऽप्यलंकृतोऽपि सन् परिहर्तव्यस्याज्योऽस्ति । असो सर्पे। मणिनाऽ लंकृतोऽपि भयं करोत्तोति भयंकरो न किम् । अपितु भयंकर इत्यर्थः । अनुष्टुवृत्वृत्तीमदम् ॥ ५३ ॥

भा ० टी ० — दुर्जन यदि विद्यावान्भी हो तोभी उसकी संगति मत करे। क्या मणिसे भूपित सर्प भंयकर नहीं होता॥ ५३॥

सोरठा--विद्यायुतह् होय, तदपि दुष्ट तजदीजिये।

सर्पज्ज मणिधर कोय, भयकारी कह कीजिये ॥ ५३ ॥



सं की कि निर्मान कि स्वारित । हो भो नुक्षकता चेदगुणेन गुणरहितेन कि स्वसोऽपि भिः संत्रमुणानाच्याद्यतीति भावः । यदि पिश्नुनता दौर्जन्यमस्ति तर्हि पातको कि पिश्नुनता वैविदि पातको भित् भावः । सत्यं यथार्थभापणे चेदस्ति तर्हि तपसा किम् । सत्ये म्वेश्रेष्ठं पः । यदि भनेत्वः वारणं श्रुचि शृद्धमित तर्हि तीर्थेन तीर्थ यात्रया किम् । शृद्धान्तः करणे वैविद्योगि तिष्ठित इति भावः । यदि सीजन्यं सुजनताऽस्ति तर्हि निजैरात्मीयजनेः किम् । जनस्य सर्वे होषा खालभीया इति भावः । यदि सुमहिमा सुरह्णेकश्चेत् मण्डनेरितरभूपणेः सुन्दर सालकारपारणेः पित् । सुमिहिमेव परमोत्तमभूपणम् । यदि सद्विद्या उत्कृपविद्यास्ति तर्हि नेः किम् । सर्वधनेषु विद्यापनं अष्टतमं इति भावः । यद्यपयशोऽपंकीरितरित तर्हि मृत्युनां किं किंव मृत्युक्षविद्यादिति भावः । सार्दुन्विकीडितवृत्तिमदम् ॥ ५५॥

भा० टी॰—जिसमें लोभ है उसमें दूसरे अवगुणोंकी क्या आवश्यकता है, जो मुटिल है उसे और उपाय करनेकी क्या आवश्यकता है, जो सत्यवादी है, से तपसे क्या प्रयोजन है, जिसका मन शुद्ध है उसको तीर्थ करनेसे क्या अधिक गा, जो सज्जन हैं उनको मित्र और कुटुम्बियोंकी क्या कंमीहै, यशस्ती जुप्योंकेलिये यशसे बढकर दूसरा कौन भूपण है, विद्यावानको अन्यधनकी या आवश्यकता है, जिसको अपयश हैं उसको मृत्यूसे बढकर क्या चाहिये । धीत् अपयशी मनुष्यकेलिये मृत्युही उत्तम है।। ५५

छप्रय—भयो लोभ मनमांहि कहा तव अवगुन चिहिये। नेन्दा सवकी करत तहां सव पातक लहिये। सत्यवचन तप दान शुद्ध मन तीरथ जानह। होत सुजनता जहां तहां गुण प्रगट मानिहु। जस जहां कहां भूपण चहै सदिया जहां धन कहा। प्रपजस जु लयो या जगतमें तिन्हें मृत्युही है महा॥ ५५॥

श्रेशी दिवसधूसरे। गिळैतयोवना कॉमिनी सरी विगतवारिजं मुर्खमनक्षेरं स्वाँकृतेः ॥ प्रभुधिनप-रीयणः सततदुर्गतः सजीनो ॥ नृपाङ्गीणगतः खैँछो — मनिसि सर्ति शल्योंनि में ॥ ५६ ॥

सं टी - अधुना स्वमनिस यानि दुःखानि तानि निरूपयित । शशीति । शशी चन्द्रमा दिवसे धूसरो मिलनः, गलितं नृष्टं योवनं तारुण्यं यस्यास्तादशी कामिनी, निर्मात जाड्यं न्हीमंति गण्यंते व्रतरुंचौ दम्में शुंचौ कैर्तवं शूरे निर्घृणता मुनौ विमेतिता देन्यं त्रियोळापिनि॥ तेजैस्विन्यवेळित्रता मुर्खरता वक्तेंर्यर्डाकिः स्थिरे तैली नामें गुणो मैंवेत्से गुणिनां यो दुंजनेनेनिङ्कितः ॥५॥

सं० टी०—गुणिनां सर्वे गुणा दुर्जनैः कलंकिता इत्याह । जाड्यमिति । गुणिनां गुण्यो दुर्जनैनीकितःस को नाम मवेत् नास्येव । तःकथं व्हीमित लज्जावित पुरुपे जाड्यं मीह्यं स्व प्यन्ति । व्रते रुचिः प्रीतिर्यस्य तिसम् पुरुपे दम्भा गण्यते । शुची शुचिमित कितवस्य धूर्तस्य भावः केतवं प्रतारणं धूर्तता शूरे निर्वृणता निर्दयत्वम् । मुनौ मौनवित विमितता प्रज्ञारिहत्यं वन्तु परिः । प्रियालापिनि प्रियवक्तिर दैन्यं दीनत्वं । तेजिस्वन्यविष्तता वक्तिर मुखरता वाचाला। स्थिरे पुरुपे अशक्तिः शक्त्यभावः । एवं सर्वेष्विप गुणेपु दोपारोपो दुर्जनैः क्रियते । एवं दुर्जनैः ल्वितो न निन्दित इत्थं गुणो नास्ति ॥ शार्दुलविक्तीडितं वृत्तिमदं ॥ ५४ ॥

भा० टी—-दुर्जन लज्जावान पुरुपको मूर्ख, व्रतथारीको दंभी, पवित्रको पाला णिड, शूरको निर्देशी, मौनवत करनेवालेको मूर्ख, मिष्टभापीको दिस्त्री, तेत स्वीको गर्वीला, वक्ताको वक्तवादी, ओर स्थिरचित्तवालेको आलसी कहतेहैं, इस सं यह ब्रात होताहै कि ऐसा कोई गुण नहीं है जिसको दुर्जनोंने कलंक नहीं लगाया ॥ ५४ ॥

छप्य--लजायुत जो होंय ताहि मुरख ठहरावत । धर्मपृ ति मन मांहि ताहि दम्भी कहि गावत । अति पवित्र जो होंय ताहि कपटी कहि वोलत । धरे शूरता अंग ताहि पापी कहि तो लत । विक्रमी मत्र प्रियवचन रत तेजवान लम्पट कहत । पण्डि त लवार कहे दुष्टजन गुणको तज औगुन गहत ॥ ५४ ॥

छोभश्रेद्रेगुँगेन किँ पिर्शुनता येचिस्त किं पार्तकेः संत्यं चेत्तेपसी चें किं शुचि मैंनो येंचिर्स तिथेंने किम् ॥ साजैन्यं येदि किं गुँगेः स्वैम-हिमा वैचिर्त किं मंदिनेः सहिद्यी येदि किं जैन-रपपेशा यर्चिन्ति किं मृत्युनी॥ ५५॥ सं० टी० — लोभश्चेदिति । लोभो लुन्यकता चेदगुणेन गुणरहितेन कि स्वस्पोऽपि लोभः सर्वगुणानाच्छादयतीति भावः । यदि पिशुनता दोर्जन्यमस्ति तर्हि पातकैः कि पिशुनता सर्वोपिर पातकिमित भावः । सत्यं यथार्थभापणं चेदस्ति तर्हि तपसा किम् । सत्यमेव सर्वश्रेष्टं तपः । यदि मनोन्तःकरणं शुचि शुद्धमस्ति तर्हि तीर्थेन तीर्थ यात्रया किम् । शुद्धान्तःकरणे सर्वतीर्थानि तिष्टन्ति इति भावः । यदि सौजन्यं सुजनताऽस्ति तर्हि निजेरात्मीयजनैः किम् । सुजनस्य सर्वे लोका आत्भीया इति भावः । यदि सुमहिमा सुश्लोकश्चेत् मण्डनैरितरभूपणैः सुन्दर वस्त्रालंकारधारणैः किम् । सुमहिमेव परमोत्तमभूपणम् । यदि सद्विद्या उत्क्रप्रविद्यास्ति तर्हि धनैः किम् । सर्वधनेपु विद्याधनं श्रेष्टतमं इति भावः । यद्यपयशोऽपंकीर्तिरित तर्हि भृत्युनां कि तस्यव मृत्युकार्यकारितादिति भावः । शार्दुलविक्रीडितवृत्तिमदम् ॥ ५५॥

भा० टी॰—जिसमें लोभ है उसमें दूसरे अवगुणोंकी क्या आवश्यकता है, जो कुटिल है उसे और उपाय करनेकी क्या आवश्यकता है, जो सत्यवादी है उसे तपसे क्या प्रयोजन है, जिसका मन छुद्ध है उसको तीर्थ करनेसे क्या अधिक होगा, जो सज्जन हैं उनको मित्र और कुटुम्बियोंकी क्या कमीहै, यशस्त्री मनुप्योंकेलिये यशसे वहकर दूसरा कीन भूपण है, विद्यावानको अन्यधनकी क्या आवश्यकता है, जिसको अपयश है उसको मृत्यूसे वहकर क्या चाहिये अधीत अपयशी मनुष्यकेलिये मृत्युही उत्तम है॥ ५५

छप्ठय—भयो लोभ मनमांहि कहा तव अवगुन चिहिये। निन्दा सवकी करत तहां सब पातक लहिये। सत्यवचन तप जान शुद्ध मन तीरथ जानहु। होत सुजनता जहां तहां गुण प्रगट प्रमानिंहु। जस जहां कहां भूपण चहै सिद्धिया जहां धन कहा। अपजस जु छयो या जगतमें तिन्हें मृत्युही है महा॥ ५५॥

श्रशी दिवसधूँसरे। गिर्छंतयोवना काँमिनी संरो विगतवारिजं मुर्खमनक्षेरं स्वाँकृतेः॥ प्रभुधिनप-राँयणः सततर्दुर्गतः सर्जानो॥ न्याङ्गणगतः खेँछो मनाँसि सर्त शर्ल्यांनि में ॥ ५६॥

सं० टी०—अपुना स्वमनित यानि दुःखानि तानि निरूपपति । रासीति । रासी चन्द्रमा दिवसे प्तरो मलिनः, मलितं नष्टं योवनं तारण्यं पस्पास्तरको नामिनी, निर्मात वारिन कमलं यस्मात्तत् सरः सरोवरम् (शोभना आकृतिर्यस्य) स्वाकृतिस्तस्य (न विक् भक्षराणि वर्णाः यस्मिस्तत्) अनक्षरं मुखं, सततदुर्गतः निरन्तरं दारिद्यं प्राप्तः सजनः, प् नृपस्य राज्ञोंऽगणे चत्वरे गतः प्राप्तः खलो दुर्जनः, एते सत्तमे मम मनिस शल्यानि शल्य प्रहारं कुर्वन्ति ॥ पृथ्वीवृत्तम् ॥ ५६ ॥

भार्थाः निका मिलनचन्द्रमा, योवनहीन स्त्री, कमलरहित सरोह सुन्दर रूपवान मनुष्य मूर्स, धनवान रूपण, सज्जनपुरुष दरिद्री, और राज आप दुष्ट, ये सातों हमारे हृदयमें कांटेके समान खटकतेहैं।। ५६॥

कुण्डलिया-दोहा-फीको है शशि दिवसमें कामिन प् वनहीन। सुन्दर मुख अक्षरिवना सरवर पंकज छीन। ए पंकजछीन होत प्रभु लोभी धनको। सज्जन कपटी होत ट ढिंगवास खलनको। ऐ सातों हैं शल्य परम छेदत या जीव वृजनिधि इनकों देख होत मेरो मन फीको॥ ५६॥

नं कैश्रिचण्डकोपांनामात्मीयो नामं भूभुजाम् ॥ होर्तारमंपि जुझानं स्पृष्टो दहीति पार्वकः॥ ५७॥

सं ॰ टी॰—अत्यन्तक्रोधिनो नृपस्य कोऽपि प्रीयाही न भवतीति पावकदृष्टान्तेनाह ने चण्डकोपानामुप्राणां मृमुजां राज्ञां कश्चिदात्मीयः प्रीत्यही न भवति, यथा पावकोऽप्रिहीतारं कर्त्तारमि जुद्दानं द्वोमसमयेऽपि स्पृष्टः सन्दहित । अनुष्टुव्वृत्तम् ॥ ५७ ॥

्रा॰ टी॰—अत्यन्त कोधि राजाओंका कोईभी मित्र नहींहोता रोमकरनेवालकोभी अग्नि आहुति देतेसमय स्पर्शकरतेही जलादेताहै॥ ५७

दोहा—जे अतियापी भृष तें काहूतों न कृपाछ ।

होनकरतहं दिजनकों दहत अग्निकी ज्वाल ॥५७ मीनानमूकैः प्रवचनपटुश्चाहुँलो जलपकी वाँ घृष्टैः

पर्थि वसंति चै तद्दा दूरते श्रीप्रगर्नेः ॥ क्षान्त्याँ । 'नीहर्वदि' ने सहिते प्रायशी नीभिजीतः सेवा-

धैर्मः मरमग्रहेंने। योगिनामप्यैगम्यः ॥ ५८॥

ना।तशतकम् रा

₹6.

सं ० टी०—इदानीं तेनाधर्मकाठिन्यमाह—मोनेति । यदि सेनकेन मोनं धृतं तर्हि मूकः । वन्नपटुश्चेद्वातुलो वातादितोऽथवा जल्पको वाचालः । पार्थे स्थितः सन् धृष्टः, दूरतो भवति चेद-, वगरमः । क्षान्तः क्षमा धृता चेत् भीरुर्भयशीलः । यदि न सहते तदा नामिजातः मूर्बोऽप्रयोजकः, रवं प्रायशः सेनाधर्मः परमगहनः कठिनो योगिनामप्यगम्यः कर्तुमशक्यः । मन्दाकान्तावृत्त-। मेदम् ॥ ९८ ॥

भा० टी०—यदि सेवक मौन रहे तौ मूक गिनाजाताहै, यदि बोलनेमें चतुर हो तो वात्नी अथवा वकवादी समझाजाताहै, यदि पास रहे तो ढीट और दूर रहे तौ मूर्ल कहाताहै, यदि सहनशील हो तौ डरपोक और असहनशील हो तौ कुलहीन कहाजाताहै, सारांश यहहै कि सेवाधर्म अत्यन्त कठिन है, योगियोंसेभी होना दुर्गम है ॥ ९८ ॥

दोहा—चुप गूंगो लापर वचन निकट ढीठ जड दूर।
क्षमाहीन परिहास खलसेवा कप्टिह पूर॥ ५८॥
उज्ञासिताखिलंखलस्य विश्वङ्खलस्य प्राग्जातविस्तृतनिजाँधमकर्मवृत्तेः॥ देवाँदवाप्तविभवस्य गुणहिषोऽस्यँ नीर्चस्य गोचरंगतेः सुर्विमास्यते केंः॥५९॥
सं० टी०—येऽधमजनान् सेवन्ते ते सुखिनो न भवन्तीत्याह। उज्ञासितेति । नीचस्य

क्षुद्रजनस्य गोचरगतेः समीपवर्तिभिः पुरुषेः कैः सुखमास्यत उपविश्यते । कथम्भूतस्य नीचस्य उद्गतिताखिळखळस्य उद्गतिताः प्रकटीकृता अखिळाः समस्ताः खळा येन । पुनः प्राक् पूर्वजाता

इदानी विस्तृता निजा स्वकीया धर्मकर्मणां वृत्तिर्येन । एवं साते दैवाददृष्टवशात् प्राप्तो विभवो येन । पुनः कथम्भृतस्य गुणान् सद्गुणान् द्विपतीति गुणद्विद् तस्य गुणद्विपः । एवम्भूतगुणस्य समीपे

कैरिप सुखेन नैव उपविष्टु शक्यतेऽथवा सुखं प्राप्यते । वसन्तितिळकावृत्तिमिदम् ॥ ९९ ॥ भा० टी०—िजिसकी सम्पूर्ण दुष्टता भलीपकार प्रगट होगईहै, जिसके पूर्वजन्मके अधमकर्म इसजन्ममें उदय होरहेहैं, जो देवात् धनी होगयाहै, और जो अच्छेगुणों से द्वेप रखताहै, ऐसे निरङ्कुश नीचके पास बैठनेसे कौन सुख पाताहै ॥ ५९ ॥

कुण्डिलिया—संग न करिये दुष्टको जासों होय उपाध ॥ पूर्वजन्मके पाप सव उपज उठावें व्याध ॥ उपज उठावें व्याध दैववल होय धनीसो ॥ शुक्काग्रस्स सख्ये द्वेष कुबुधकों मित्र

Bilitainis

करेंसो ॥ निपट निरंकुश नीच तासु चितरंग न धरिये ॥ इल दुर्गुणखान तासुको संग न करिये ॥ ५९ ॥ आरम्भगुवीं क्षयिणी क्रमेणे लब्बी पुरंग वृद्धिमंती चै पश्चात् ॥ दिनस्य पूर्वाईपरीईभिन्ना छीयेंवें मेत्री खलसर्जनानाम ॥ ६० ॥

सं० टी०—अधुना खल्रसजनयेभित्रताया विभिन्नतां वर्णयति । आरम्भगुर्वे क्षि आरम्भे पुर्वे महती । न्नमेण क्षयिणी प्रतिक्षणं क्षयशीला, पुरा पूर्वे ल्ली प्रविक्षणं क्षयशीला, पुरा पूर्वे ल्ली प्रविक्षणं क्षयशीला, पुरा पूर्वे ल्ली प्रविक्षणं वृद्धिस्तातीते वृद्धिमती, दिनस्य पूर्वार्धे च परार्द्धे च ताम्यां भिन्ना लायेव खला दुर्जनाश्च सन्नि साधवश्च तेषां मेन्नी मिन्नता स्वति । यथा दिवसपूर्वार्द्धे लाया महती तदुत्तरे दिवसपूर्वार्द्धे लाया महती तदुत्तरे दिवसपूर्वार्द्धे लाया महती तदुत्तरे विवसपूर्वार्द्धे लाया खलानां मेन्नी आरम्भे गुर्वी परिणामे ल्ली भवति । यथा दिनपरार्द्धे आरम्भे क्ष्ये ल्ली पश्चात् दिनक्षये वृद्धिमती भवति तथा सज्जनानां मिन्नता आरम्भे ल्ली परिणामे वृद्धिः भवतीत्पर्यः । उपजातिवृत्तमिदम् ॥ ६०॥

भा । टी॰—दुर्जनमनुष्यकी पीति प्रातःकालके अनन्तरकी छापी समान है, जो प्रारम्भे लम्बी चौडी होती है और फिर क्रमसे घटती जर्ने परन्तु सजनकी मित्रता मध्यान्हके उपरान्तकी छायाके समान है, जो अर्थे भें कम होतीहै और फिर वढतीही जातीहै॥ ६०॥

कुण्डिलिया—छाया जैसी प्रातकी तैसी दुर्जनप्रीति पहिले दीरघ होय पुनि घटनलगे तजरीति ॥ घटनलगे व रीति प्रीतिको करे वहानो ॥ पे सज्जनकी प्रीति विरुध याके मन मानो ॥ पहिले सूक्ष्मरूप फेर दिनरात सवाया ॥ जिल् प्रीति बढे नित ऐसे ज्यों संध्याकी छाया ॥ ६० ॥

मृगमीनसर्जनानां तृणजलसंतोषैविहितरः तीनाम् ॥ लुव्धकधीवरैपिशुना निष्कारणैवैरिणो जगैति॥ ६१॥

सं० टी०—" लुब्बकादयः प्रयोजनंबिना वैरिणो भवन्ति " इति बदति । मृगमीतिति कासिन् जगति संसोरे लुब्बको व्यायः " व्यायो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकाश्च स" इत्यमरः ।धीवर किर्यतः "केर्सो दाक्राधीवरो" इत्यमरः । पिशुनो दुर्जनः "पिशुनो दुर्जनः खळः" इत्यमरः ॥ एते निष्का ण १ पर्यार्थका सूर्य पर सर्वतिष्य प्रतिविधिक इतिविधि **देश तेषा सूगमीनसञ्जनानां** विभागतप्रस्थान्त्र विधिने भागति । भागतिसम्बद्धाः ॥ ६६ ॥

प्तार्व्हार— हरिण घाम म्याकर रहताई तक्ष्मी व्याप्त उससे वैर कर-जारि एककी समाधीकर रहतीई नक्ष्मी महुला उससे वेर रस्ताई, श्रीर सक्तन किलोपशर्की लीनिई कीभी दुर्जन उनके शत्रु होजातेई, इन तीनींसे इन तीनों-हा वैर हम संसारमें दिनाकारणही होताई ॥ ६१॥

दोहा—माही जल सृगके सुबन सज्जन हितकर जीव। लुब्धक धीवर दुष्टजन विनकारण दुख कीव॥ ६१॥

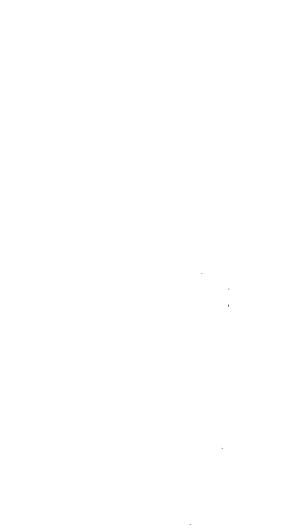
इति दुर्जननिन्दाप्रकरणम् ।

॥ अथ छुजनभशंसा ॥

वाक्ष्म सज्जनेसङ्गमे परगुंणे 'त्रीतिगुरी' नर्मता विद्यायां व्यक्षनं त्वेयोपिति 'रंतिळींकापेनादाद्वयमें॥ भिक्तः द्यां हित्या क्षित्रं क्रिते क्षित्रं क्षित्रं क्षित्रं क्षित्रं क्षित्रं क्षित्रं क्षित्

सं० टी०—नम्रतिदिगुणभृषिता नरा नमस्ताराही भवन्तीत्याह । वाण्छिति । सज्जनानां सायुजनानां संगमे समागमे वाण्छा इच्छा, परेषां गुणे प्रीतिरिभिक्षीचः, गुरै। नम्नता, विद्यायां व्यसनमासिक्तः, स्वस्यात्मनो योपिति स्त्रियां रितः प्रीतिः, छोकापवादात् छोकिनिन्दाया भयं, शृिकि शिवे भिक्तः, आम्मनो मनसो दमने निमेहे शक्तिः सामर्थ्यम्, खेळपु पिशुनेषु संसर्गः सम्बन्धस्तस्य मुक्तिस्त्यागः । एते ये निर्मेछा निर्दोषा गुणास्ते येषु वसन्ति तेभ्यो नरेभ्यो नमः नमस्याराऽस्तु । शार्द्छिक्षितिदतं वसमिदम् ॥ ६२ ॥

भा० टी०—सज्जनोकी संगितकी इच्छा, दूसरेके गुणोंसे मसद्य होना, पटेलोगोंके सामने झुकना, विद्या पढनेमें मन लगाना, अपनी स्त्रीते पीति करना, लोकनिन्दासे हरना, ईश्वरमें भक्ति, अपने मनको वशमें रखना, और दृष्टकी संगतिको त्यागना, ये सब उत्तमगुण जिसमें विद्यमान् हैं उन महापुरुषोंको नमस्कार है।। ६२।।



ः सं० टी०—इदानीं सतां महत्त्ववैचित्रयं वर्णयति । प्रदानिभिति । प्रदानं प्रकर्षेण यहत्तं देवच्छनमान्छादितं, गृहमुपगते प्राप्ते सम्भ्रमविधिरादरविधिः , प्रियं कृत्वा मौनमेकस्य प्रियं कृत्त वेन वदित । सदिस सभायामुपकृतेरेकेनोपकारः कृतस्तस्य कथनं करोति । छक्ष्म्यां सत्यामनुत्ते । क्ष्म्यां सत्यामनुत्ते । क्ष्म्यां सत्यामनुत्ते । क्ष्म्यां सत्यामनुत्ते । परस्य सत्कथाः निरमिभवसाराः निन्दारिहताः निरविध कर्तव्याः । इदं व्रतमिधारावःक । विने सता केनोपिदछं न केनापि । अयं सतां स्वामाविको गुणः । शिखरिणीवृत्तिमदम् ॥ ६४॥

भा० टी०-दानको गुप्तरखना, घरपर आयेद्भुए महमानका आदर करना, पराया भलाकर चुप रहना, दुसरोंके कियेद्भुए उपकारका सभामें वर्णनकरना, धन पाकर घमण्ड न करना, और पराई चर्चा निन्दारहित करना, ये तलवारकी धारके समान कठिनवतका सज्जनोंकेलिये किसने उपदेश दियाहै. ॥ ६४ ॥

छप्य—दियो जनावत नांहि गयें घर कर सतआदर। हितकर साधत मौन कहत उपचार वचन वर। काहूकों दुख होय कथा वह कवहुन भाषत। सदां दानसों प्रीति नीतियुत सम्पत राखत। यह खड़्रधारवत धारके जे नर साधत मन वचन। तिनकौसुनुहां इह लोकमें पूर रह्यो जसही रचन ॥६४॥

केरे शाध्यस्त्योगः शिर्रेसि गुरुपादप्रणियता मुंखे सत्याँ वाणी विज्ञायभुजंयोवीं र्थमतुळम् ॥ हिंदि स्वस्था वेंत्तिः श्रुंतमधिगतैकवेतिफळं विनीप्येश्व-येण प्रकृतिमहेंतां मंडनैमिदिंम् ॥ ६५॥

सं॰ टि(०—दानादिकमेव सज्जनानां भूपणं नान्यदिखाह । कर इति । करे हस्ते त्यागः सत्पात्रे दानं श्राच्यः प्रशंसनीयस्तदेव हस्तभूपणम् । शिरासे मस्तके गुरोः गुरुजनस्य पादयोधरणयोः प्रणिवता नम्रता । मुखे सत्या वाणी यथार्थकथनं तदेव मुखभूपणम् । विजयि- भुजयोरतुलं विरुपमं वीर्य पराक्रमः (युधि विक्रम एव भूजयोर्भूपणं कंकणं न) हदि हदये स्वस्ता निर्मेला वृत्तिर्वर्तनम् । निर्मेल वृत्तिरेव हदयस्य भूपणं नान्यः । श्रिष्मगतं प्राप्तं एकं मुख्यं वतमीन्धर प्राप्तिसाधनं तदेव तस्य फलं येन तत् श्रुतं शासाध्यपनम् । इदमैधर्येण वैभवेन विनाऽि प्रकृत्या स्वभावेन ये महान्तस्तेषां मण्डनं भूपणम् । शिखरिणीवृत्तिमदम् ॥ ६९ ॥

भा० टी०--हाथकी श्रोभा दानसे है शिरकी शोभा वडांके प्रणापकर्त है, ग्रुखकी शोभा सत्य वोलनेसे है, भुजाओंकी शोभा गुद्धमें अतुल विक्रम के है, हृदय स्वच्छतासे शोभाषाताहै, और कानकी शोभा शास्त्र श्रवण के है, और येही सब धन न होनेपरभी सज्जनोंके भूषण हैं॥ ६५॥

छप्य--करत करत ते दान शीस गुरुचरणन राखत। उस्सों बोलत सांच भुजनसों जय अभिलाषत। चितकी निर्वाचित श्रवणमें कथा श्रवणरित। निशदिन परउपकारसिहत दुर्व जिनकी मिति। ते विना साजसम्पत तक सोहत सकल विवास उनकी जुसंग नित देहु प्रभु तो यह सुधरे चपल मन ॥ ६५॥

संपत्सु महेतां चित्तं र्भवत्युत्पर्लेकोमलम् ॥ आपर्त्सु चं महाशैलशिलाँसंघातकर्कशम् ॥६६॥

सं वी०—सम्पत्काले आपत्काले च सतामन्तःकरणस्य या वृत्तिर्भवति तां वदिति । महतां साधुजनानां चित्तं मनः सम्पत्सु वैभवे उत्पर्णं कमलं तद्वत् कोमलं मृदु भवित । कित् आपत्सु आपित्तकाले महांश्वासो शैल्श्व तस्य शिलानां संघातः समूहस्तद्वत् कर्कशं कठोरं भवित । अनुष्टुव् वृत्तिमिदम् ॥ ६६ ॥

भा॰ टी॰—सज्जनमनुष्योंका चित्त धन होनेपर कमलसेभी अधिक कोमल होजाताहै। परन्तु आपित्तमें चनका चित्त पत्थरसेभी कठिन होजाताहै॥६६॥ सोरठा—सतपुरुषनकी रीति सम्पत्में कोमलहि मन।

दुखहीमें यह रीति वज्रसमानहि होत तन॥ ६६॥

संतत्तीयसि संस्थितस्य पर्यंसो नाँमापि नै ज्ञाँयते मुक्ताकीरतया तदेवे निल्नीपत्रस्थितं राजैते॥ स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यँपतितं तैन्मोक्तिकं जायँते प्रीयणाधममध्यमोत्तमगुणाः संसैर्गतो देहिनीम्॥६॥ सं० टी०—पुरुषस्योत्तममध्यमाधमगुणाः संसर्गात् जायन्तेइति जल्दछान्तेनाह । क्रिन्नित्ति । एकमेव जलं तत्संसर्गतोऽनेक गुणं भवति । तद्यथा । सन्तप्तायसि सन्तप्ते लोहे क्षिप्तं क्ष्मेयसो नामापि न ज्ञायते अभाव एव । तदेव जलं निल्नीपन्ने स्थितं मुक्ताकारतया राजते । तदेव जलं स्वातीमहानक्षन्ने मेखात् सागरे पतितं तदिप शुक्तिकामध्यगतं चेत् मुक्ताफलं जायते । रवं प्रायण प्रायशः पुरुषस्योत्तममध्यमाधमगुगाः संसर्गतो जायन्ते । तस्मात् मनुष्यदेहधारिभिकित्तमा संगतिः कार्यो न मध्यमाधमे इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ६७ ॥

भा० टी०—तप्तलोहेपर पडनेसे पानीकी वृंदका नामभी नहींरहता, परन्तु नहीं वृंद कमलके पत्तोंपर गिरनेसे मोतीकेसमान दीखतीहें, और नहीं वृंद स्वातीनक्षत्रमें समुद्रकी सीपोंमें पडनेसे मोती वनजातीहें, इससे यह जानपडता है कि मनुष्यके उत्तम, मध्यम, और अधमगुण संसर्गसेही होतेहें॥ ६७॥

सोरठा—तवे चुन्द है क्षीण कमलपत्र जे सरस हैं। मुक्ता सीपहि कीन थान मान अपमान है॥ ६७॥

येः श्रींणयेत्सुचैरितेः पितेरं सं पुत्री यँई तुरेवे हितं-मिच्छेति तैत्कलैत्रम् ॥ तैनिमैत्रमापेदि सुँखे चै समित्रियं येदेते त्रैयं जगैति पुण्यक्रैतो लभैन्ते ॥ ६८॥

सं ॰ टी ॰ — उत्तमपुत्रकछत्रमित्रान् मुकृतिन एव प्राप्तुवन्तीति चोतयांत । य इति । यः सुचिरतैः सदाचरणैः पितरं स्वजनकं प्रीणयेत सन्तोपयेत् स एव पुत्रे नान्यः । यङ्कृतेव हितं कल्याणीमच्छति तदेव कछत्रं भार्यो । नान्यं इति शेषः । यदापदि आपत्काछे सुखे च (समाना क्रिया यस्य तत्) समानिक्रयं तदेव मित्रं सुदृत् । एतत् त्रयं जगति छोके पुण्यकृतः सुदृतिनो छभन्ते प्राप्तुवन्ति । यसन्ततिष्ठकाषृत्तिमिदम् ॥ ६८ ॥

भा० टी०—जो अपने उत्तमचित्रोंसे पिताको मसन्न रखताहै, यथार्थमें वही पुत्र है, जो अपने पितका सदैव हित चाहतीहै यथार्थमें वही स्त्री है, और जो सुख और दुःख दोनोंमें समान रहे वही सच्चा मित्र है, ये तीनों इस संसारमें पुण्यवान्कोही मिलतेहैं॥ ६८॥

दोहा-पुत्रचरित तियहितकरन, सुखदुखभित्रसमान । मनरंजन तीनों मिलें पूरवपुण्यहि जान ॥ ६९ ॥ एँको देवैं: केरोवो वाँ शिवा वाँ ऐकं मिन्नें भूप-तिर्वी यैति वीं ॥ एँको वार्सीः पत्तिने वीं वेने वीं एकों नौरी सुन्देशी वों देशी वीं ॥६९॥

सं टी०—प्रवृत्तिनवृत्तिमार्गप्रकारमेदमाह । एक इति । एको मुख्यो देवः (प्रशल केशाः यस्य स) केशवः केशाद्वोन्यतरस्यामिति व प्रत्ययः' विष्णुर्वा शिवः शंकरो वा । एकं प्रित्रं भूपति राजा वा यतिः सन्यासी वा । एको मुख्यो वासो वसतिस्थानं पत्तने नगरे वनेश्ले वा एका मुख्या नारी भार्यो सुंदरी सुरूपा वा दरी पर्वतगुहा वा । शालिनीवृत्तमिदम् ॥ ६९ ॥

भा० टीका०—एक देवकीही सेवा करनी चाहिये केशव हो अथवा शिक् एकही मित्र करना जचित है, राजा हो वा तपस्वी, एक स्थानपरही रहना जिल है नगर हो, अथवा वन, और एकहीसे पीति करना जचित है सुन्दरी स्त्री हो अथवा पर्वतकी गुफा हो ॥ ६९॥

कुण्डलिया—सेवह केशवदेवकों के शिवकी कर सेव। मित्र एककर नृपतिकों के जोगेश्वर देव। के जोगेश्वर देव दुहुनमें एक हितृ कर। करिये नगर निवास किथों वनवास करह ढिर । पुत्रवती तियसंग अंग अंगन भोंटे वहु। कर गिरिगुहाप्रसंग प्रीतिसों नितप्रति सेवहु॥ ६९॥

नम्नत्वेनोन्नमन्तः परगुणैकथनैः स्वाँन गुणांन् ख्या-पर्यन्तः स्वार्थान् सम्पादयन्तो विततिप्रयतेशारम्भ-यत्नाःपरांथे ॥ क्षौन्त्यैवीक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्जनान् दूषयैन्तःसन्तःसार्श्वर्यचर्या र्जगति बहु-मैताः कस्य नौभ्यर्चनीयाः॥ ७०॥

सं॰ टी॰—असिन् संसारे नम्नत्वादिगुणसंयुक्ता बहुमान्याः साधवोऽर्चनीया भवन्तीसाह । नम्नत्वेनित । नम्नत्वेनोत्तमन्त उच्चा मान्या भवन्ति । खान् स्वकीयान् गुणान् परेपां गुणानां कर्यनः नह स्यापयन्तः कथयन्तः स्वान् गुणान् स्वयं न बदन्ति, परेपां गुणानुवादाः त्रियन्ते तरेव प्रसंगेन विगुणानुवर्धनं त्रिप्तते इति कृत्वा स्वार्थान् सम्पादयन्तः, परस्यार्थे वितता विस्तृताः प्रियतसाक्षारम्भाः ्रामीणि यत्नाध्य येषां ते, लाक्षेपाध्य ते रूद्याक्षराश्य तेर्मुखराणि मुखानि येषां तान् दुर्जनान् क्षान्स्यैव ् तमर्थेव दृष्पयन्त लाक्षयेण सहिता साध्ययां गतियेषां तथाभृता जगति बहुमता मान्याः सन्तः ेर्कस्य नार्थ्यर्थनीयाः प्जनीयां न भवन्ति । एवंभृताः सन्तः सर्वेषां पूष्या एवेतिभावः स्त्राध-ाटक्तमिदम् ॥ ७० ॥

भा० टी०—जो नमतासे ऊंचे होतेहें, जो आरोंके गुणोंका बखान करनेसे अपने गुणोंको प्रसिद्ध करतेहें, जो औरोंका उपकार करते हुए अपना कार्यभी साथम करतेहें, जो समाहीसे दुर्जनोंके निन्दा और कठोरवचनोंसे पूर्ण मुखको दूपित करतेहें, ऐसे अद्भुत आचरणवाले सन्तोंको जगत्में कीन पूजनीय नहीं समजताहें॥ ७०॥

हाप्य--नीचे वहें के चलत होत सबसे ऊंचे अति। परगुण कीरत करत आपगुण ढाकत यह मित। आपन अरथ विचार करत निशिदिन परमारथ। दुष्ट दुर्वचन कहत क्षमा कर साथत स्वारथ। नित रहत एकरस सवनसीं वचन कोप कर कहत निहं। ऐसे जु सन्त या जगतमें पूजावत सबके सुतंत्र हि ॥७०॥ इति सज्जनप्रशंसाप्रकरणम्।

भवेंन्ति नम्बारितरेवः फलोह्नेमैर्नर्वाम्बुभिर्भूरि विल-र्म्विनो घनाः ॥ अनुर्देताः सत्पुरुषाः समृँहिभिः स्वेभाव एविषे परोपकारिणाम् ॥ ७१ ॥

सं० टी०—अधुना वृक्षदृष्टान्तेन परोपकारिणां स्वभावं वर्णयति । भवन्तीनि । यथा फलानामुद्रभेः प्रादुर्भाधेस्तरवा वृक्षा नम्ना भवन्ति, घना मेघाः नवानि नृतनान्यम्बृनि जलानि तै भूमिं विलम्बन्त इति भूमिविलिम्बनो भवन्ति । तथा सत्पुरुपाः सज्जनाः समृद्धिभिरैश्वर्थेरनुद्धता भवन्ति । दक्षता न परोपकारिणामेपः स्वभावे।ऽस्ति । वंशस्थं वृत्तमिदम् ॥ ७१ ॥

भा० टी २— जैसे फल आनेपर दक्ष नमजातेहैं, जैसे नवीनजलसे पृर्ण होनेपर मेघ प्रथ्वीवर झुकजातेहें, वैसेही सज्जनमनुष्यभी धन पाकर नम्न हो जातेहें, अभिमान नहीं करते कारण यह है कि परोरकारीमनुष्योंका स्वभावहीं ऐसा होताहै॥ ७१॥ दोहा—नम्र होत फलभार तरु जलभर नम्र घटासु। त्यों सम्पत् कर सत्पुरुष नर्वे सुभावछटासु॥ ७१

श्रोत्रं श्रुतिनैव नं कुण्डॅलेन दानेन पाणिनं तुं कडूंणेन विभाति कार्यः करुणीपराणां परोपैकारे नितुं चंदनेने ७२

सं० टी०—श्रोत्रामिति । श्रोत्रं कर्णःश्रुतेन शास्त्रश्रयणेनेय विभाति शोभते ने कुण्डलेन कर्णाभूपणेन, तथा पाणिईस्तो दानेन विभाति कङ्कणेन न, अपरं च करणानाः दयार्द्राणां कायो देहः परापकारैर्विभाति चन्द्रनादिना न विभाति । तस्मात् पुरुषेः साम्रश्र दानादिकद्यावस्यमेव कर्तव्यमितिभावः । उपजातिर्वृत्तमिदम् ॥ ७२ ॥

भा० टी०—कानकी शोभा शास्त्र श्रवणकरनेसे हैं, कुण्डल कर्ते नहीं। हाथकी शोभा दान करनेसे हैं, कङ्कण पहिरनेसे नहीं। दयालुपुरुपींके दिन शोभा परोपकारसे है कुछ चन्दन लगानेसे नहींहै॥ ७२॥

कुण्डिह्या—कंकन ते सोहत न कर कुण्डलते नहि कान। चन्दनतें सोहत न कर जान लेहु यह जान। जान लेहु यह जान । जान लेहु यह जान दानते पाणि लसत है। कथाश्रवणतें कान परम शोभा र कि हैं। परमारथसों देह दिपत चन्दन सों टंकन। येसु सुकृत कि पहिरोद कुण्डल कंकन॥ ७२॥

पापाक्षिवारयित योजयैते हिताय गुँहां च गृहाति गुणान् प्रकटीकरोति । आपेहतं चे ने जहीति इदानि केटि सन्मित्रटक्षणियदे प्रवदिन्त सन्ते॥७३

संद ही है — स्थापन सीमायवश्यां वर्णवित । पापादिति । पापात् गावसमीत् विसा^{ति} हरिवरोति कर्जन संग्रहति । जिताय कर्णाणाय योजयोते, सुपं गोर्त्य च मृत्ति गोपाणीः, सु^{पाने} वार्शकोतिः श्राप्टन विष्ट्रत स प्रदाति स याप्टीतः, विस्तु क्षावे समये प्रते गति वर्षे इप्रतिकर्णकोतिः हे पर १६६ स्थितवश्याकिति सस्तः प्रवर्शन क्षायमित । यग्याति वर्षे भा० टी०—अपने मित्रको पापसे वचाना, हितकर्ममें लगाना, उसकी प्रस्तातको ग्रप्त रखना, भित्रके गुणोंको प्रकटकरना, दुःखमें मित्रका संग न छोडना, और समयपर सहायता करना, ये उत्तमभित्रोंके लक्षण सन्तोंने कहेहें॥७३॥ दोहा—पाप निवारत हित करत गुन गनि औगुन ढांकि।

प्राच-पाप निवारत हित करत गुन गान आगुन हाकि। इसमें राखत देत कछ सिन्मित्रन ये आंकि॥ ७३॥ पद्मौकरं दिनकेरो विकचीकैरोति चर्न्द्रो विकार्स- यति कैरवचक्रवालम् ॥ नाँम्यर्थितो जर्लंधरोऽपि जेंछ देशैंति सन्तैः स्वयं पर्रहिते सुकुर्तांभियोगाः॥ ७४॥ जींछ ददीति सन्तैः स्वयं पर्रहिते सुकुर्तांभियोगाः॥ ७४॥

सं टी०—"सन्तः स्वयमेव परिहतं कुर्वन्ति" इति दिनकरादिदृष्टान्तेन चोतयित । पद्माकरिमिति पद्माकरं सूर्यविकासिकमन्नामाकरं समुदायं दिनकरः सूर्यः विकचीकरोति । प्रकुर्छं करोति । 'प्रफुर्छोत्फुर्छसंफुर्छन्याकोशिकचरफुटाः' इत्यमरः । तथेव चन्द्रो रात्रिविकासिकेरवानां कुमुदानां चक्रवान् समुदायं विकासयित विकासितं करोति । एवं जन्नधरो मेघोऽपि नाभ्यार्थतः सन् जन्नं ददाति । यतः सन्तः स्वयं परिहते सुक्रताभियोगा अप्रार्थिताः सन्तः स्वयं परिहतं कुर्वन्ति । तथां स्वभाव एवायम् । वसन्तितिन्कावृत्तिमिदम् ॥ ७४ ॥

भा० टी०--सूर्य स्वयंही कमर्लोको विकसितकरताहै, चन्द्रमा स्वयंही कुमुदिनीको मफुल्लितकरताहै, और मेघ विनामांगेही जल वर्षाताहै, इसका यह कारण देकि सज्जनमनुष्य आपही विनाकहे औरोंके भला करनेमे तत्पर रहतेहैं॥७४॥

दोहा-शिश कुमुदिनि प्रफुलित करत कमल विकासत भानु। विन मांगत घन देत जल त्योंही सन्त सुजानु ॥७१॥

एंके सत्पुर्रुषा: परार्थघर्टकाः स्वार्थं परित्यंच्य ये'॥ सामीन्यास्तुं परार्थमुद्यमंश्वतः स्वार्थाविरोधेन ये"॥ ते"ऽमी" मानुषरार्क्षसाः परिंहितं स्वार्थीय निर्विन्तिये"॥ ये"निर्वेन्ति निर्रेथकं परिंहितं ते" के" नैं जीनीमहे॥७५॥

सं० टी०---एम रति । स्वार्थे परित्यस्य त्यकाया ये परार्थपटनाः परकार्य हार्यन्ति ते सत्पुरुषाः । स्वार्थरयाविरोधेनादे। स्वपार्य काला पधात् परकार्थ ये कुर्वन्ति ते सामान्या मन्यकाः ।

सौर आपभी अग्निमें क्दनाही चाहताया कि पुनः शीतल जलके छीटे पाकर अपने मित्रको लोट आया जान शान्त होगया, सचहें सज्जनोंकी मित्रता ऐसीही होतीहै॥७६॥

कुण्डिलिया—पानी पयलों मिलतही जान्यों अपनो मित । आप भयों फीकों वहें जलकों कियों सुचित्त। जलकों कियों सुचित्त तसपयकों जब जानी । तब अपनों तन बारि बारि मन प्रीतिह आनी । उफन चल्यों मीध अग्नि शान्ति जल छिरकत ठानी । सत्पुरुपनकी प्रीति रीति ज्यों पय और पानी ॥ ७६ ॥

इतेः स्वीपिति केशेव: कुर्लमित्रस्तद्वीयहिषीमित्रश्च शरणोधिनः शिखरिणीं गणीः शेरैते ॥ ईतोऽपि" वडवानेलः सेहं समस्तिसांवर्तकेरिंहो वितेतमूर्जितें भेरेंसहं चैं सिन्धोविषुः ॥ ७७ ॥

सं० टी०—सतां सहनशीलतां समुद्रदृष्टान्तेन दर्शयति । इत इति । अहो इत्याश्चर्ये । क्षेत्रोः समुद्रस्य वपुर्विततं विस्तृतमूर्जितमित्विलिष्टं भरं भारं सहत इति भरसहमस्ति । तत् न्यम् । इत एकतो देशे केशवो विष्णुःस्विपिति निद्रां करोति । इतस्तदीयद्विषां तद्वैरिणां कुलं समूहः ।ते । इतश्च शरणार्थिनां शरणागतानां शिखरिणां पर्वतानां गणाः समूहाः शेरते । इतोऽपि खवानलः समस्ताः सांवर्तकाः प्रलयकारिणोऽप्रयस्तैः सह शेते । एवं विलक्षणरूपं परस्य भरसहं पुरित्याश्चर्यम् । सज्जनाः समुद्रवदुपकारिणः सर्वाधाराश्रयम्ताश्च भवन्ति । प्रव्वीवृत्त्तिमद्दम् ॥ ७७ ॥

भा० टी०—समुद्रमें एक ओर श्रीविष्णुभगवान् शयन करतेहैं. दूसरी गेर उनके शत्रु असुर पडेहें, एक और शरणागत पर्वतोंके समृह पडेहें, और एक गैर वडवानळ पलयके घोर आग्रिसहित जलको औटारहाहै, देखो समुद्र श्शाल वलवान् और सहनशील है। कि इन सबसे विलक्कल नहीं घवडाता। सज्जन नभी समुद्रके समान अत्यन्त सहनशील होतेहैं॥ ७७॥

छप्पय—इत सोवत श्रीकृष्ण इतें वैरी दानव गन। इत-गें गिरवर वृन्द सरन सोवत निर्भयमन। इतकों वाडव अग्नि हित जलमांहि निरन्तर। मच्छ कच्छ इत्यादि रहत सुखसों सव ।लचर। अतिही अगाध ऊचों अधिक सहनशीलताकी अवध। गेस्तार अमित कहिये कहा अद्भुत गित राखत उद्धि॥ ७७॥ तृष्णां छिन्धि भँज क्षमां जीह मदं पाँपे रीतं मी कृथीः क्षेत्यं ब्रुह्मेनुर्थीहि साधुंपद्वीं सेर्वस्व विद्वीं नम् । भीन्यान्मानेय विद्विषोऽप्यनुनेय प्रस्योपय स्वीन्गुंणान्कीर्ति पाळेंथं दुःखिति कुर्ह द्यौंमेतित्सेतां छक्षणेम् ॥ ७८ ॥

सं० टी-अधुना सतां छक्षणं वर्णयति । तृष्णामिति । तृष्णां सृहां छिन्य । ह्यां स्मान्ति भज सेवस्य । मदं दर्पं जिह त्यज । पापे पापकमिण रितं प्रीति मा क्रयाः मा कुर । ह्याहि, यथार्थ भापणं कुरु । साधूनां सज्जनानां पद्यां मार्गमनुयाहि अनुगच्छ । विद्वजनान् पिट्यापि जनान् सेवस्य । मान्यान् मानय । विद्विपोऽप्यनुनय सान्त्वय । स्वान् स्वकीयान् गुणान् प्रस्यापि कीर्तियशः पाछय । दुःखिते दयां कुरु । एतत् सतां सज्जनानां छक्षणम् । शार्द्विविक्रीडितं वृत्तिमिदं॥ १८

भा० टी०—वृष्णाका छेदनकरो, क्षमा धारणकरो, अभिमानका परि त्याग करो, पापमें मन मत लगाओ, सत्य वोलो, साधुजनोंकी पदवीको प्राप्तकों विद्वानोंकी सेवाकरो, मान्यपुरुषोंका आदरकरो, शत्रुकोभी प्रसन्नरक्षे अपने गुणोंको प्रसिद्धकरो, यशका पालन करो, और दुःखियोंपर द्या करो, येर्ट सब सत्पुरुषोंके लक्षण हैं॥ ७८॥

छप्य—तृष्णाकों ताजि देहु क्षमाको भजन करहु नित दया हियेमें राख पापसों दूर राखि चित । सत्य वचन मुह् बोल धर्मपदवी जिय धारहु । सत्पुरुषनकी सेव नम्रता अति विस्तारहु । सब गुणसु अपने गुप्त रिख कीरत पर पालन करहु करि दया दुखित नर देखके सन्त रीति यह अनुसरहु ॥ ७८ मर्नसि वचसि कौये पुण्यपीयूषपूँणीस्त्रिभुवनमुपका-

्श्रेणिभिः त्रीणयन्तः ॥ परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य

नित्यं निर्नेहिद विकैसंतः सीन्त सन्तैः कियन्तः॥७९॥

सं ॰ टी॰—-असिन् जगित स्वप्रकाशमानानां साध्नां दर्शनमतीव दुस्तरामित्याह्र ।ति । मनिस दृदये वचित, वाण्यां, काये, देहे पुण्यं सुक्तनेव पीयूपममृतं तेनपूर्णाः । अ अणीनिरुपकारपंक्तिभिद्धिसुवनं श्रीणयन्तस्तर्पयन्तः । परेषां गुणास्तेषां परमाणून पर्वती ्रत्य पर्वतप्रमाणान् कृत्वा नित्यं निजहिंद स्वान्तःकरणे त्रिकसन्तः प्रकाशमानाः सन्तः सज्जनाः । त्यन्तः विरलाः सन्ति । परोपकारकारिणः सन्तो दुर्लभा इति भावः ॥ ७९ ॥

भा० टी०—जिनके तन, मन और वाणीमें पुण्यरूपी अमृत भराहुआ है, जनने अपने उपकारोंसे तीनों लोकोंको प्रसन्न किया है, और जो दृसरेके पर-णुवरावर गुणोंको पर्वतके समान वढाकर अपने हृदयमें सदा प्रसन्न रहतेहैं से सज्जन मनुष्य इस संसारमें विरलेही हैं॥ ७९॥

दोहा--अमृत भरे तन मन वचन निशिदिन जग उपकार। परगुण मानत मेरुसम विरले जन संसार॥ ७९॥

किं तेन हेमिगिरिणा रजताँद्रिणा वाँ यंत्राश्रितांश्र्य तरंवस्तरंवस्तं एवं ॥ मन्याँमहे मर्छयमेवं यदाँश्र-येण कङ्कोछिनंवकुर्टंजा अँपि चन्द्रनाःस्युः॥ ८०॥

सं० द्वा०—-परोपकारकारिणः सज्जनाः स्वकीयोत्तगगुणानन्यष्यिप स्थापयन्तिति मह-॥न्योक्तया व्यनक्ति । किमिति । कि तेन हेमगिरिणा भेरणा रजताद्विणा रोष्यगिरिणा किलासेन या म्तोऽस्याधितास्तरवस्तरव एव नत्वात्मसदशाः सुवर्णस्त्रप्यस्त्याः छताः । धतम्ताभ्यां कि प्रयोजनम् । १स्मात् मल्याद्वि बहु मन्यामेहे यते।ऽस्याधिताः कल्कोलनिम्बवुद्धजा वृक्षाः अपि चन्दनाःस्युक्षन्दमा ।व भवन्ति चन्दनवृक्षवद्भासन्त इति चन्दनवृक्षाणां परोपकारः । वसन्तात्तलया वृक्षित्रम् ॥८०॥

भा० टी०—वह सोनेका सुमरेपर्वत, और चान्दीका कॅलासपर्वत किस जामका है जिसके आश्रित इक्ष सदा इक्षदी चनेरहे (साने चांदीक न हुए) हम ते मलयाचलपर्वतकीही वडाई करेंगे कि जहां कल्कोल, नीम और मुटजके अभी चन्द्रनकेसमान होजातेहैं॥ ८०॥

सोरठा-ऐरे निलज सुमेर तो साथी पाथर रहे। मलयागिरि कहें हेर कुटज नीम चन्दन किये॥८०॥

अथ घैंयप्रशंसा ।

रैत्नेर्महाँहेरितुतुंपुर्ने देवां नं भेजिरे भीर्मविषेण भी-तिम् ॥ सुंधां विनी ने प्रयेंयुविरीमं ने निध्यती-र्थादिरमेंन्ति धीरीः ॥ ८९ ॥ सं० टी०—" धीरपुरुपा ।निश्चितार्यप्रानिविना उत्रोगं न त्यजन्ति" इति क् मथनोद्योगप्रवृत्तदेवदृष्टान्तन दर्शयति । स्तौरिति । धीरा निश्चितार्यात् न विस्मन्ति न विश्व किन्तु तस्य प्राप्तिपर्यन्तमुद्योगं कुईन्ति । अत्र दृष्टान्तः । देवा महामृत्ये रत्नैनं तृतुनुः कंक्ष्रेः प्रापुः । तथाच भीमेन भयंकरेण विषेण भीति भयं न मेजिरे न सिपेबिरे, भवंकरिकेः भयं न प्रापुरित्यर्थः । तु सुधाममृतंविना विरामं विश्वामं न प्रययुः न प्रापुः । निश्चितार्यक्ष्यपुः वे देवा विरामं न प्राप्ता इति भावः । इन्द्रवज्ञावृत्तमिदम् ॥ ८१ ॥

भा॰ टी॰—अनमील रत्न पाकर देवता सन्तुष्ट न हुए, भयंकरिक्ति भी भयभीत होकर उनने समुद्रका मथना न छोडा, और, अमृतको निकाले कि विश्राम न किया, इससे यह सिद्ध हुआ कि धीर मनुष्य, प्रारम्भिक्षेहिं कार्यको विना प्रा किये नहीं छोडते॥ ८१॥

छप्य्य—महा अमोलक रत्न नाहिं रीझे सुर तिनसीं महा हलाहल जान प्राण डरपत नहिं जिनसों। रहत चित्तकी वृष्यि अमृतसों अतिही। तैसेंही नरधीर काज निश्चे कर माहि। सब दोषरहित अरु गुणसहित ऐसे कारन मन घरति तिहिको सुअर्थ अमृत लहत कोऊ दुखकों नहिं करत॥ ८१॥

कंचिद्धेमो शय्या कॅचिदंपि च पर्यक्वश्रादानं कंचि-च्छाकाहारः कंचिदंपि च शाल्योदनेर्हा वः॥ कॅचि-त्कन्थांधारी केंचिदंपि च दिव्याम्बेर्यका मनेर्वी कार्यार्था ने गेंणयति दुःखें ने च सुखें हु ॥ ८२॥

सं टी०—मनस्वा कार्यायां पुरुपः सुखं दुखं च न गणयतीत्याह—क्राचिदिति । क्रांचित् भूमो शय्या शयनं । क्राचिदिपिच न पर्यके शयनं करोति, क्रांचिच्छाकाहार शाकमें क्राचिदिपिच शाल्योदने रुचियस्य स शाल्योदनभोजी । क्राचिद् कंथां धारयतीति कन्धाधार

ंच दिव्यं सुन्दरमम्बरं वस्त्रं घरतीति दिव्याम्बरघरः । स कार्यार्था कार्येच्छुः मनस्वी विवे ुःखं सुखं च न गणयति । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ८२॥

भा० टी०-कभी पृथ्वीपर सोरहतेहैं, कभी उत्तमपढंगपर शयमक भी साग पात खाकर रहजातेहें, और कभी चांवळादिका उत्तम भोज , कभी गृद्डी छोंडकर दिन वितादेह, और कभी दिव्यवस्त्र भार रतेहै, धेर्पवान् पुरुपकों जब कार्य साधन करना होताहै तो सुख और दुःखको पामही गिनताहै॥ ८२॥

दोहा—भूमिशयन कहुं पलँगपे शाकहार कहुं मिए।
कहुं कंथा सिरपाँव कहुं अथीं सुख दुख इए॥ ८२॥
ऐश्वैर्यस्य विभूषणं सुजनेता शोर्थस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपश्माः श्रृतस्य विनयो वित्तस्यं पीत्रे
व्ययः॥ अंक्रीधस्तपस्मां प्रभवितुधर्मस्य निव्यार्क्ता सर्वेषामिप सर्वकीरणमिद्धं श्रीलं पैरं मूषणैम्॥८३॥

सं० ही०—शोल्मेव परमोत्तमभूषणिमत्याह । ऐश्वर्थेति । सुजनता सोजन्यमैश्वस्य वैभवस्य विभूषणमलङ्कारो भवति । ऐश्वर्ये प्राप्ते सित सुजनतेव सम्पादनीयिति भावः ।
गौर्यस्य वीर्यस्य वाक्संयमः वाङ्नियमः । शौर्थे सित वाण्या तस्यानुद्धाटनं कर्तव्यमितिभावः । ज्ञानस्य
वेभूषणमुपशमः शान्तिरिक्त । श्रुतस्य शास्त्रश्रवणस्य विनयो नम्रता विभूषणमिति । वित्तस्य धनस्य
त्रि सत्पत्रि व्ययो दानं धनवित सित दानमवश्यं करणीयम् । तपसोऽक्रोधः । प्रभवितुः समर्थस्य
तमा क्षान्तिः समर्थेन क्षमाऽवश्यमेव कार्या । धर्मस्य विभूषणं निर्व्याजता कपटराहित्यम् ।
त्रियामिष जनानां सर्वगुणकारणिमदं शीलं परमं श्रेष्ठं भूषणमित्ति । " सर्वे गुणाः स्वभावतः
सेद्धा भवन्ति " इतिभावः । शार्दूळविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ८२ ॥

भा. टी०-ऐश्वर्यका भूषण सज्जनता है, अपनी वाणीको वशमें रखना
पूरके भूरताकी शोभा है, ज्ञानकी शोभा शान्ति है, शास्त्रका भूषण विनय है, धन
की शोभा सत्पात्रको दान करना है, तपकी शोभा क्रोध न करना है, प्रभुत्वकी
शोभा क्षमा है, धर्मका भूषण निष्कपटता है, और अन्य सवगुणोंका भूषण और
कारण शील है।। ८३।।

कुण्डलिया-मण्डन है ऐश्वर्यको सज्जनता सनमान। वाणी सज्जन शूरतामण्डन धनको दान। मण्डन धनको दान ज्ञानमण्डन इन्द्रीदम । तपमण्डन आक्रोश विनयमण्डन सोहत सम। प्रभुतामण्डन क्षमा धर्ममण्डन छ्ळखंडन। सव-हिनमें सर्दार शीळता सबको मण्डन॥ ८३॥ निन्देन्तु नीतिनिंपुणा यैदिवा स्तुवंन्तु छद्देमीः समाँविशतु गच्छैतु वा यथेष्ट्रेम् ॥ अँद्यैवै वाँ मर्रणमर्सेतु युगीन्तरे वाँ न्यार्थ्यातपर्थः प्रविचैछन्ति पेदं ने धीरीः ॥ ८४ ॥

सं० टी०—धीरपुरुपा न्यायपथात् कदाचिदिष न प्रविचलन्तीति वर्णयति । निर्न्ति । निर्न्ति । निर्न्ति । निर्न्ति । निर्म्ति । निर्मित् । परित् । परित । परि

भा॰ टी॰—नीतिविशारद मनुष्य चोहे निन्दा करे चाहे प्रशंसा करें लक्ष्मी चाहे आवे चोहे चली जाय, मृत्यु अभी आजाय और चाहे युगके अन्तम हो परन्तु धैर्यवान पुरुष न्यायके मार्गसे एक पगभी नहीं हटते॥८४॥

छप्य-नीतिनिपुण नर धीर वीर कछ सुजस करो किन अथवा निन्दा कोटि कहो दुर्वचन छिनिहं छिन । सम्पत्हू चित जाऊ रही अथवा अगणित धन । अविह मृतक किन होहु हो अथवा निश्चल तन।पर न्यायपंथकों तजत नहिं बुद्ध विवेक गु ज्ञाननिधि।यह संगसहायक रहत नित देत लोक परलोक सिधिश

भयाद्रीस्य करण्डपीडितर्तनोम्छीनेन्द्रियस्य क्षुधौं कृंत्वाखुँविवेरं स्वैयं निपेतितो नृंत्तं मुंखे भोगिनः॥ तृंत्तस्तिपिशितेनें सर्वेरमैसो ते नैवे यौतः पर्था छोकौः पश्यत देवैमेवें हि नृणीं वृंदो क्षेये कारणेम्॥८५।

मं॰ टी॰—देवमेव हि नृगां वृद्धिक्षययोः कारणिमिति सर्पदृष्टान्तेन वर्णयति । भर दास्येति । कश्चित् सर्पे व्याउन्नहिणा धृत्वा करण्डमध्ये निश्चितस्तस्य स्थिति वदित । कथंभृतस्य सर्पः स्यादास्य "शहमस्मान्नमुक्तः स्यभिति" भग्ना आशा यस्य । पुनः करण्डपीडिततनोः करण्डे दंशिता तनुर्यस्य । पुनः श्रुत्रया म्डानेन्द्रियस्य । एवं जाते सति देववद्यात् कश्चिदानुर्मृपकत्वत्रगरे तरण्डस्य विवरं छिद्धं कृत्वा नक्तं रात्रावन्तः प्रविष्टः सन् भोगिने। मुखे पतितः पश्चात्त-खोः पिशितेन स सर्पस्तृप्तस्तेनैव छिद्रमार्गेण विर्ह्योतः। अतो भो जना यूयं स्वस्थास्तिष्ठत मद्रप्टमेत्र नृणां वृद्धे। क्षये च कारणमस्ति। अदृष्टवशात् यद्गविष्यति तद्गविष्यति । शार्द्कु-तीडितं वृत्तमिदम्॥ ८९॥

भा॰ टी॰—एक सर्प पिटारेमें वन्द होनेसे पीहित जीवनकी आशा हकर वैठाहुआ भूत्वसे उसकी इन्द्रियां शिथिळ होगईथी। इतनेहीमें रात्रिके एय एक मूपक पिटारेमें छेदकर भीतर छुसा और सर्पके मुखमें स्वयं गिरपहा। भी उसको खाकर सन्तुष्ट होके उसी छेदकी राहसे वाहर निकलगया। इसलिये होगो!देखो मनुष्यकी वढती और घटतीका केवल दैवही मुख्य कारण है॥८९॥ कुण्डिलिया—जैसे काहू सरपहूं छवरेपकर धस्वोसु। देसिर ट पस्वोसु भयो पीडित अति केदी। इन्द्री विह्वल भूख पिटारी में छेदी। वाहीको भिख माँस छेद है निकस्यो ऐसे। मनकों थिर राख करें प्रभु ऐसे जैसे॥ ८५॥।

पौतितोऽपि कराधातैरुत्पंतत्येर्वं कन्दुंकः॥

त्राँयेण साधुर्हत्तानामर्स्थायिन्यो विप्त्तयः ॥ ८६ ॥

सं० टी०—साधुवृत्तीनां विपत्तयःअस्थायिन्यो भवन्तीति फन्दुकदृष्टान्तेन दृर्शयति । तेत इति । यथा करस्य हस्तस्याघातैस्ताडनैः कन्दुकः पातितोऽपि पुनरूर्ध्वमुख्पतत्येव । तथा तो बाहुत्येन साधुवृत्तानां सज्जनानां विपत्तयः अस्थायिन्यो भवन्ति । अनुष्टुवृवृत्तिमदम् ॥ ८६ ॥

भा ॰ टी॰—जैसे नैंद हाथसे फेंकनेपरभी ऊपरहीको उठती है, इसीपकार यः साधुननोंका दुःस थोडेही दिनोंका होताहै ॥ ८६ ॥

हा—करको माखो गैंद ज्यों लागि भूमि उठि आत।

साधुसखनकी सों विपति छिनहींमें मिटजात ॥ ८६॥ आर्ळस्यं हि मनुष्याणां शरीररेयो महाँन् रिर्पुः॥ नारत्युद्यमसमो बन्धुर्यं केत्वा नीवेसीदिति॥ ८७॥

सं० दी०—इदानीमुचमप्राधान्यं वर्णयिति । आउत्यमिति । आउत्यमुचीगराहित्यम् । च्याणां शरीरे तिष्टतीति शरीरत्थो महान् रिपुः शत्रुः हि इति निश्चयनास्ति । उचमेनोचोजेन । बन्धुनं। यमुचमं फ्रत्वा मेनुष्या नाऽत्रसीदिति दारिद्यादिदुःखं न प्रामोति । उचोमोऽवश्यं कर्तव्य । भाषः ॥ अनुष्टुब्वृत्तमिदम् ॥ ८७ ॥

निन्दैन्तु नीतिनियुणा यैदिँवा स्तुवन्तु छक्ष्मीः समाँविशतु गच्छेतु वा यथेष्टम् ॥ अँद्यैवै वाँ मरणमस्तु युगाँन्तरे वाँ न्यार्थ्यात्पर्थः प्रविचैक्षिछन्ति पेदं ने धीरीः॥ ८४॥

सं० टी०—धीरपुरुपा न्यायपथात् कदाचिदिप न प्रविचल्तिति वर्णयिते । ि त्विति । नीत्यं नये निपुणा विशारदाः कुशलाः पुरुषा निन्दन्तु निन्दां कर्वन्तु, यदि वा पु स्तुर्ति कर्वन्तु, लक्ष्मीः सम्पत् यथेष्टं यथेच्छं समाविशत्वागच्छतु वा गच्छतु । अद्येव मरणं १५ वा युगान्तरेऽन्यस्मिन् युगेऽस्तु । परन्तु धीराः पुरुषा न्याय्यात् पथः न्यायमार्गात् कद्वि प्रविचलित्त । वसन्तितल्लकावृत्तमिदम् ॥ ८४ ॥

भा॰ टी॰—नीतिविशारद मनुष्य चाहे निन्दा करे चाहे प्रशंसा तर्द्रिया करे चाहे प्रशंसा तर्द्रिया चाहे आवे चाहे चली जाय, मृत्यु अभी आजाय और चाहे युगके हो परन्तु धैर्यवान पुरुष न्यायके मार्गसे एक पगभी नहीं हटते॥ ८४॥

छप्पय-नीतिनिपुण नर धीर वीर कछु सुजस करो किन अथवा निन्दा कोटि कहो दुर्वचन छिनहिं छिन । सम्पत्हू जाऊ रहो अथवा अगणित धन । अविह मृतक किन होहु ले अथवा निश्चल तन।पर न्यायपंथकों तजत निहं वुद्ध विवेक इ ज्ञाननिधि।यह संगसहायक रहत नितदेत लोक परलोक सिधि

भग्नाशैस्य करण्डपीडितर्तनोम्छीनेन्द्रियर्स्य क्षुर्धां कृत्वाखुविवेरं स्वेयं निपैतितो र्नकं मुंखे भोगिनः॥ वृंतस्तित्पिशितेन्नं सर्व्वर्मसो ते नेवं यौतः पर्था छोकीः पश्येत द्वेमेवें हि निणीं वृंदो क्षेये कारणम्॥८%

मं टी॰—देवेस्व हि चुणां तृद्धिश्ययोः कारणिति सर्पद्रष्टातेन वर्णयति । स् इ.स.ति । ब्राह्मित् सर्वे व्याउपहिणा धृता करण्डमध्ये निवित्तसत्तस्य स्थिति वदित । सर्थमृतस्य में भग्रद्धस्य १ व्यद्धस्य स्थापिति । भग्ना आशा सस्य । पुनः सारण्डपीडिसत्तगेः स्था इ.दिन्य तनुर्दस्य । पुनः क्षुयया स्थानिव्यस्य । पूर्व प्राते सति देववदात् साधिदरपृष्ट्यस्य । तत्कारण्डस्य विवरं छिद्रं कृतवा नक्तं रात्रावन्तः प्रविष्टः सन् भोगिने। मुखे पतितः पश्चात्त-रपालोः पिशितेन स सर्पस्तृप्तस्तेनैव छिद्रमार्गेण विद्यातः । अते। भो जना यूयं स्वस्थास्तिष्ठत देवमदछमेत्र नृणां वृद्धां क्षये च कारणमस्ति । अद्दृष्टवशात् यद्भविण्यति तद्भविष्यति । शार्द्कु-वित्रोदितं क्षत्मिदम् ॥ ८९ ॥

भा॰ टी॰—एक सर्प पिटारेमें वन्द होनेसे पीडित जीवनकी आशा छोडकर वैटाहुआ भूखसे उसकी इन्द्रियां शिथळ होगईथी। इतनेहीमें रात्रिके समय एक मूपक पिटारेमें छेदकर भीतर घुसा और सर्पके मुखमें स्वयं गिरपडा। सर्पभी उसको खाकर सन्तुष्ट होके उसी छेदकी राहसे वाहर निकलगया। इसलिये हे लोगो। देखो मनुष्यकी वढती और घटतीका केवल दैवही मुख्य कारण है॥८९॥

कुण्डिया—जैसे काहू सरपहूं छवरेपकर धस्वीसु। देसिर फूट पस्वीसु भयो पीडित अति कैदी। इन्द्री विह्वल भूख पिटारी मृसें छेदी। वाहीको भिंख माँस छेद है निकस्यो ऐसे। मनकों तृं थिर राख करें प्रभु ऐसे जैसे॥ ८५॥

पौतितोऽपि कराधातैरुत्पैतत्येर्वं कन्दुंकः॥ आँयेण साधुर्वत्तानामर्स्थायिन्यो विपत्तयः॥ ८६॥

सं ० टी ०—साधुवृत्तीनां विपत्तयः अस्थायिन्यो भवन्तीति कन्दुक्तदृष्टान्तेन दर्शयित । पातित इति । यथा करस्य हस्तरयाघातैस्ताडनः कन्दुकः पातितोऽपि पुनरूर्ध्वमुत्पतत्येव । तथा प्रायो बाहुल्येन साधुवृत्तानां सज्जनानां विपत्तयः अस्थायिन्यो भवन्ति । अनुष्टुवृवृत्तिमदम् ॥ ८६ ॥

भा॰ टी॰—जैसे गैंद हाथसे फेंकनेपरभी फपरहीको उटती हैं, इसीपकार प्रायः लायुजनोंका दुःख थोडेही दिनोंका होताहै ॥ ८६ ॥ कोहा—करको सान्त्रो गेंद ज्यों लागि भूमि उठि आत।

साधुसखनकी त्यों विपति छिनहीमें मिटजात ॥ ८६॥ आर्छस्यं हि मनुष्याणां शरीररेथो महाँन रिर्पुः॥ नीरत्युद्यमसमो वन्धुर्यं केत्वा नीवसीदिति॥ ८७॥

सं व्हानिमुद्यमप्राधान्यं वर्णयति । सालस्यमिति । सालस्यमुद्योगराहित्यन् । मनुष्याणां शरीरे तिष्ठतीति शरीरस्थो महान् रिपुः शत्रुः हि इति निश्चयेनास्ति । उपमेनदेशोने समो बन्धुन्। यमुद्यमं कृत्वा मेनुष्या नाऽत्रसीदिति दारिग्रादिदुःखं न प्राप्नोति । उपोनोऽनस्यं कर्तव्य दिन् माथः ॥ सनुष्टुब्वृत्तमिदम् ॥ ८७॥

भा॰ टी॰—आलस्य गतुष्योंके बरीरमें महाशबु है, उनोगक समान ष्यका दूसरा कोई बन्धु नहीं कि जिसके करनेसे मनुष्य कभी दुःस नहींपाता । दोहा—आलस वैरी सन्त तन सब सुखकों हरलेत । त्योही उद्यम बन्धुसम कियें सकल सुख देत ॥८७

छिन्नोऽपि रोहँति तर्रुः क्षिणोप्युं प चीयते पुने श्रन्द्रः ॥ देश विम्देशंतः सैन्तः संतर्प्यन्ते में विप्लुता छोके ।।८८।

सं० दे ००- दुःखप्राप्ताविष सन्ते। न सन्तप्यन्ते ' इत्याह । छिन्न इति । वर्ष्ट्र हिछन्नोऽषि निकृतोऽषि पुना रोहित । तथा क्षीणोऽषि कलाक्षीणो पि चन्द्रः पुनक्पचीयते अप्राप्तोति । इत्यनेन विमृशन्ते। विचारयन्तः सन्ते। विष्टुता आपदा न सन्तप्यन्ते दुः विने। न भवन्ति ॥ आर्थावृत्तीमदम्॥ ८८॥

भा॰ टी॰—कलमिकया हुआ वृक्ष वहकर फिर फैलजाताहे, चन्द्रमा घटका फिर वहजाताहै. यह विचारकर सज्जन दुःख पानेपरभी सन्ताप नहिं करते॥ ८८।

दोहा--छीन पत्र पछवित तरु छीन चन्द्र वढवार । सतपुरुषनकी विपति छिन सम्पति सदा अपार॥८८॥

इति घैर्यप्रशंसा।

अथ दैवप्रशंसा।

नेता यस्य बृहरैपतिः प्रहॅरणं वर्षं सुराः सैनिकाः स्वर्गी दुर्गमनुष्रहेः किले हैरेरेरावेती वीरणः॥ इत्य र्थियवलान्वतोऽपि वर्लिभद्रग्नेः परेः संगरे तिद्यक्तं वैरमेवे देवशरेणं घि रिधैग्वेथा पोर्हेषम् ॥ ८९॥

सं टी — दैवे प्रतिकूळे सर्वे यत्ना विफला भवन्तीति इन्द्रदृष्टान्तेन दर्शयित । नेतिति । यस्य इन्द्रस्य वृहस्पतिनेता नायकोऽस्ति । वर्ज कुल्किशं प्रहरणमायुधम् । सुरा देवाः सैनिकाः दुःखेन गम्यते तहुर्गे स्वर्गः । हरेरनुप्रहः कृपा किलेति प्रसिद्धम् । वारणः गजः ऐरावतः । । इस्येनन प्रकारेणैश्वर्ये वल्क्ष्य ताभ्यामन्त्रितो युक्तोऽपीन्दः बालिभिः परैः शत्रुभिः संगरे संप्रामे भगः

ंपराजितः । तत्तस्मात् दैवशरणमेव वरमिति व्यक्तं स्पष्टम् । देवहीनं पौरुपं दृथा विग्धिगिति । देवस ंहायतांविना पौरुपं निष्फलमितिभावः । शार्दूलविक्रीडितवृत्तमिदम् ॥ ८९ ॥

भा० टी० — वृह्स्पितसमान जिसके मंत्री हैं, वज्र जिसका अस हैं, विवतागण जिसकी सेना हैं, स्वर्ग जिसका गढ हैं, और ऐरावत जिसके चढनेका हाथी हैं, ऐसा ऐश्वर्थवलसपन इन्द्र शत्रुओंसे संग्रापमें हांदताही रहा, इस लिये दैवही श्वरणके योग्य हैं, और वृथा पुरुपार्थको विकार हैं। ८९॥

छप्पय--सुरगुरु सेनाधीश सुरनकी सेना जाके। शस्त्र हाथ-िलये वज्ज स्वर्ग सो दृढगढ ताके॥ ऐरावत असवार प्रभूको परम अनुग्रह। ऐसी सम्पति सोंज सिहत सोहत सु इन्द्र यह ॥ सो युद्ध माँहि दानवनसों छहत पराजय खोय पति। शोभा समाज संग्रही वृथा सवसों अञ्चत देवगति॥ ८९॥

कर्मांयत्तं फैळं पुंसां वुँद्धिः कर्मानुँसारिणी ॥ त्रंथापिँ सुधिया भाष्ट्रेयं सुविचार्येवं कुर्वती ॥ ९०॥

सं० टी०—बुद्धिमता सुविचारपूर्वक्रिय कार्य कर्तव्यिमित्याह । कर्मेति । यद्यीय पुंसां फ्रष्टं मुखदुःखादिकं कर्मायत्तं कर्मोधीनगरित तथा बुद्धिः कर्मानुसारिणी कर्मानुमामिनी व्यक्ति तथाि पुधिया बुद्धिमता मुविचार्यिव कर्म बुर्वता भाव्यम् । अनुप्रुवृत्तिगिदम् ॥ ९०॥

भा ॰ टी॰--यद्यपि मनुष्योंको उनके क्यानिसार फल मिलताँ, और दुद्धिभी कर्मके अनुसारही होजातीहै तथापि बुद्धिमानोंको एचित है कि कार्य विचारकर करें॥ ९०॥

दोहा—फलह पावत कमेते घुषह कर्म अधीन।
तद्यपि बुद्धिविचारके कारज करों प्रवीन॥ ५०॥
खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किर्रणेः संतापितो मस्तेके
वार्डछन देशमनातपं विधिवशात्तार्लस्य मृंछं गर्तः॥
तैताप्यस्य महीफलेन पंतता में संस्विद्धं शिरं
प्रीयो गर्नेछाति यशैं भारवैरहितस्तिश्चेर्वं विद्यापेदः॥ ५॥

सं० टी०——भाग्यहीनो नरो यत्र गच्छित तत्र दुःखमेत्र लभत इति त्र उद्धान्त वर्णयित । खल्ताट इति । यथा खल्ताटः पुरुपो विहरटन् दिवसेश्वरस्य दिनकरस्य सूर्यस्य गिर्मस्तके सन्तापितः सन्ननातपं धर्मशून्यं देशं वाच्छित्रच्छन् विधिवशात् दैववशात् वर्णविष्ठाल् वर्षाटवृक्षस्य मूलं गतः । तत्रापि तिस्मन् स्यलेऽपि दैववशादकस्मादेव पतता महाफलेनास्य टस्य शिरः सशद्वं यथास्यात्तथा भग्नमभूदिति शेपः । तथा प्रायो यत्र यस्मिन् स्थाने वर्षाहितो भाग्यहीनो नरो गच्छित तत्रैव तं प्रत्यापदो यान्ति ॥ शार्दूलिविक्नीडितं वृत्तमिदम् ॥ ९१ वर्षा

भा० टी०—एक गंजे मनुष्यका सिर जव सूर्यकी किरणोसे जलनेत्रण तव वह छायाकी इच्छा करके दैवयोगसे तालके मेडके नीचे गया। वहां जां ही शीघ एक वडा फल गिरा। जिससे उसका शिर दूटगया। इसका यह भागां है कि भाग्यहीन पुष्प जहां २ जाताहै वहां २ विपत्तिभी उसके पीछे जाती है॥९१॥

छप्ठय—टांट उघारे मूढ वारहू सिरपर नाहीं। तपी जेटको घाम वेलकी पकरी छाहीं। तहां वेलफल एक शीसपर पत्नो सुवाके। फूटि गयो करि शोर पीर वाढी तनुताके। सुब टार जा विरम्यो सुवस तहां इते दुसकों सहत। निर्भाष पुरुष जित जात तित वेर विषाति अगनित लहत॥ ९१॥

श्राशिदिवाकरेयोर्यहपींडनं गजभुजैङ्गमयोरेंपि वन्ध-नम् ॥ मतिमतां चै विछोक्षय दरिर्द्रतां विधिरेहीं वैछवानिति में मैंतिः ॥ ९२ ॥

मं ० टी ० — देवगतिर्विष्ठयसीति सद्यान्तं वर्णयति । दाशीति । दाशी चन्द्रः दिगासरः सूर्वस्तवेर्ष्टरेण राष्ट्रणा पीटनं । राजा द्विपः भुजरानः सर्पः तथारिप वंथनं । गतिगतां निद्रार्थं दरिवतं दारिवं विकेतय द्वया विविदेवं बलवान् बलिप्टेर्डस्तीति मे माम मतिसस्त । अहे। इत्याश्चर्ये द्वतिर्वेद्धत्त्वसीत्तरः ॥ ९.२ ॥

भाव दीव-सूर्य और चम्द्रमामें प्रदेणकी पीटा देखे, हस्ती और सर्पका अंग्रह देखा और दुविमानीकी दीस्त्री देखे, मुककी यही निथय होबाहै कि देवर्गी करी चयवान है।। ९२॥

छप्य-गिं इसि निरादिन फिरं प्रहणसी पीटा पार्षे। बृहत् काय गत तुग्त नेतु छयुसी वैध जावे॥ महाभयंकर संग मंत्रवस रहे मौन गह ॥ जोगी अटल अकाम होय कामी इक क्षण सहँ ॥ अधिगत शास्त्रसमूह महापंडितवर ज्ञानी ॥ निर्धन सहें कलेश विधाता गति वडजानी ॥ ९२ ॥

सृजिति तांवदशेषगुणोकरं पुरुषर्तनमळकॅरणं भुवः॥ ताँदीप तत्क्षणभाक्षि कैरोति चेदिहर्हे कष्टैसपण्डित-ता विधेः ॥ ९३॥

सं ॰ टी ॰—विधेरपण्डिततामाह । सृजतीति । ब्रह्मा ताबदादी अशेषा ये गुणास्तेषा माकरं खानि सर्वगुणानामुत्पत्तिस्थानं भुवः पृथिव्या अलंकरणमलंकारभृतमेतादृशं पुरुपरत्नं सृजित तदिषि पुरुपरत्नमि तत्क्षणभंगि तत्क्षणनाशशीलमलायुः करोति चेदहहेति खेदं काष्टं यथा स्यात्तथेयं विधेब्रह्मणोऽपण्डितताऽज्ञातताऽस्ति । द्वत्विलिम्बतं वृत्तमिदम् ॥ ९३ ॥

भा० टी०—विधाता पुरुपरत्नको सर्वग्रुणोकी खानि और पृथ्वीका भूषण वनाताहै, परन्तु यह वडे कप्टकी वात है कि उसका जीवन क्षणभङ्गुर ही वनाताहै। इसमें विधाताकी मूर्खताही है॥ ९३॥

दोहा—सव गुणगुत भूषण मही पुरुषरत्न नर कीन्ह ॥
ये लागत मोहि मन्द विधि क्षणभंगुर तन दीन्ह ॥ ९३ ॥
पैत्रं नैवं यदा करीरेविटपे दोषी वसन्तर्स्य किं
नोलिंकोडेप्येवलोकिते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूपणम् ॥
धारी नै वे पतीन्त चार्तकमुखे मेघस्य किं दूपणम् ॥
धेर्तपूर्वं विधिना ललाईलिखितं तैन्मांजितुं केंक्षमः॥ ९४॥

सं० टी०—ाविधिलितं मार्जितुं मःशक्य इति करीरवृक्षादेर्दृष्टान्तेन वर्णयति । पश्चिति करीरविद्ये करीरवृक्षे यदा पत्रं नेव भवति तदा वसन्तस्य किं दोषः । यगुल्को दिवार्धाते दिवार्डिप दिवसेऽपि नाऽवरोकते तर्हि सूर्यस्य दूपणं किस् । यदि चातकमुखे धारा जराधारा नेव पतान्ति तर्हि भेघस्य दूपणं किस् । यत् यस्मात् विधिना त्रह्मणा जन्मकाले रालाटे रिधितं तन्मार्जिन् कः क्षमः समर्थः न कोऽपि । प्रारम्बमेव वरीय इति भावः । दार्यूलिक्किटित्रृत्तिन्दमः ॥ ९७॥

भा० टी०—यदि करीरके इसमें पत्ते नहीं हमते तो वसन्तका क्या होत है! यदि इह दिनमें नहीं देखसमता तो सूर्यका क्या दोष है! यदि चातक के मुसमें जलकी धारा नहीं पडती तो मेघका इसमें क्या दोप है?। सत्यतो यह है हि कुछ विधाताने ललाटमें प्रथमही लिखदियाहै उसको कीन मेटसक्ताहै ॥ ९४॥

छप्य — कहा वसन्ति दोष करीरिह पात न आहीं। ज्यों अंध्यार दिवस रिव दुपण नाहीं।। ज्यों चातक दुर्ण पढ़े निहं जलकी धारा॥ दूपण देवे जोग नहीं घन देखि जिस्सा यही जिव जान लिख्यों जो भाल विधाता॥ मेट न जिं कोय समझ जिय लीजे जाता॥ ९४॥

इति दैवप्रशंसा ।

अथ कर्मप्रशंसा ।

नमस्यामो देवाँ झनुँ ह्तिविधस्ते उपि वदागा विधिर्व-न्यः सोऽपि" प्रतिनियतकर्भेकफेंट्रः ॥ फैंटं कर्मा-यत्तं किर्ममर्रगणः किं चे विधिर्ना नैमस्तैंत्कर्मभ्यो विधिरापि नै ये वैधः प्रभैवति॥ ९५॥

मं ० दें। ० — द्वानी पाने शायते । नमस्याम इति । देवानिन्द्रादीन् यणं नगरं ननस्याम इति । देवानिन्द्रादीन् यणं नगरं ननस्याम इति । देवानिन्द्रादीन् यणं नगरं ननस्याम पाठं दातुम्हाताः । श्रयं निर्मिति प्रतिनिर्मितं सन्दर्भ तर्मस्याम् पाठं दद्वति । नायन्वयाठं दातुं हाताः । पाठं तायत् समि सन्दर्भन यादे नेत्रति अस्तिः देवस्थान विश्वता च विभागसम्बर्भास्या नगः । येग्यो विश्वति प्रमर्थतः । विश्वति ।

्राप्ट कार्या निवास में हम नमस्याम् अस्तिहे पान्तु वेशी विधिते भा हम जिस्सी नमस्याः वर्ग्नेहे परन्तु विधासानी हमारे, क्षीके अनुमार्ग्ही दहि, इस्टिये जब देवता और विधि दीवीदी क्षीके भाषीन है तथ उन्नेति विकास है। वस ति क्षीकीदी नमस्याः सम्बेहे, जिसपा विधानाकाणी विकासका १९०॥ दोहा—वन्दन सवही सुरनकूं विधिह्कों दण्डोत । कर्मनकी फल देत ये इनकी कहा उदात ॥ ९५ ॥ नहीं येन कुठाँठवित्रयमिती न्नह्माण्डभाण्डोद्दे विद्युर्येन दशावतारगहने क्षिंतो महासङ्कटे ॥ रुद्रो येन कपाठपाणिपुटके मिक्षाटनं कारितः सूर्यो आम्यति नित्यमेर्व गर्मने तर्रम नमेः कर्मणे ॥ ९६ ॥

सं टी ० — त्रम्हेति । येन कर्मणा त्रम्हाण्डमेव भाण्डं भाजनं तस्योदरे त्रम्हा कुळाळव-क्त्रीविश्वयमितो नियंत्रितः सृष्टिरचनायामिति होषः । यथा कुळाळो वहुप्रकारभाण्डरचनां हिरीति तथेव व्रम्हाऽपि नानाप्रकारसृष्टिरचनां करोतीत्यर्थः । येन कर्मणा विष्णुहिरिर्दशावतारा गमादयस्तन्त्रस्ये यहहनं दुःखं तदेव महत्सङ्कटं तिसम् क्षिप्तः पातितः । येन कर्मणा रुद्रो बहादेवः कपाळं नरकपाळं तेन सहितो यः पाणिपुटकः करसंपुटकस्तिमन् या भिक्षा तद्रर्थमटनं त्रमणं कारितः । तथा येन सूर्यो , नित्यमेव गगने साकाहो भ्राप्यति भ्रमणं करोति तस्मं कर्मणे

भा० टी०--जिस कर्मने बम्हाको सुम्हारकेसमान सृष्टि रचनेमें नियत किया, जिसने विष्णुको दशअवतार छेनेके संकटमें डाला, जिसने रद्रकोभी खोपडी हाथमें छे भिक्षा मांगनेका दुःख दिया, और जिसने सूर्यको नित्य आका-क्षमें भ्रमण करनेकी पीढा दी, उसकर्मको हम नमस्कार करतेहैं॥ ९६॥

दोहा—विधिकों कियो कुम्हार जिन हरिकों दश अवतार। भीख मंगावत ईशकों ऐसी कर्म उदार॥ ९६॥

ैनैवौर्कृतिः फर्लित 'नैंव कुर्लं ने शिंछ विधापि'' "नैवैं ने चें यत्नेकृतीपि सेवाँ॥ भाग्यानि पूर्वतपीसा खर्लुं सञ्जितीनि कौंछे फर्लेन्ति पुरुषिस्य येथेवें वृक्षीः॥९७॥

सं० टी०—सर्वत्र भाग्यभेव पालति नाहातिरिति इक्षहद्यान्तेन दर्शयति। नेदेति । साहातिः समस्यपं नेय पालति । नेव कुछं साबाछं । नेव शीछं । विद्यापि नेव । यानेन हाता सेवाऽपि नेव पालति भिन्तु पूर्वमाचरितं यत्तपरतेन सञ्चितानि पुरुतस्य भाग्यानि माछे समये वृद्ध द्व पालन्ति ॥ ९७॥ जलकी धारा नहीं पडती तो मेघका इसमें क्या दोप है ? । सत्यतो यह है कि कुछ विधाताने ललाटमें प्रथमही लिखदियाहै उसको कीन मेटसक्ताहै ॥ ९४॥

छ्रप्य—कहा वसन्ति दोष करीरिह पात न आहीं। उह लगे अंध्यार दिवस रिव दुषण नाहीं॥ ज्यो चातक मुखम पढ़े निहं जलकी धारा॥ दूषण देवे जोग नहीं घन देख विचार सत्य यही जिव जान लिख्यों जो भाल विधाता॥ मेट न सिव कोय समझ जिय लीजे जाता॥ ९४॥

इति देवप्रशंसा ।

अथ कर्मप्रशंसा ।

नमस्यामो देवाँ झर्नुं ह्तिविधेस्ते रिप वश्गा विधिर्व-न्यः साउपि प्रतिनियतकर्भेकफ्ळेदः॥ फैळं कर्मा-यत्तं किर्ममर्रगणः कि चै विधिर्ना नैमस्तित्कर्मभ्यो विधिरापि नै ये वैयः प्रभैवति॥ ९५॥

सं व दी ० — इटानी प्रांत शायते । नगर्याम इति । देवानिन्द्रादीन् वर्ष गण्निन्द्रादे । ति ते देवानिन्द्रादीन् वर्ष गण्निन्द्रादे । ति ते देवानिन्द्रादीन् वर्ष शर्य विक्रियोग् भारति देवानिन्द्राद्धाः । श्रयं विक्रियोग् प्रति देवानिन्द्राद्धाः । प्रति साव कि प्रति प्रति वर्ष वर्षाः । परि साव कि स्वित वर्ष वर्षाः । परि साव कि स्वित वर्षः । वर्षः वर्षः वर्षः वर्षः वर्षः वर्षः वर्षः वर्षः । वरः । वर्षः । वर्षः । वर्षः । वरः । वरः । वरः । वरः । वरः । वरः । वरः

स्तार की द — देवता श्रीकी कम नमस्त्राग का ते हैं परानु वेशी विशिष्ट आ है, कम विभिन्ने नमस्त्राम कर्में हैं परानु विभावाशी कमारे का वेशि अनुसारी देन के क्षार्टिय कर देवता श्रीम विशिष्ट देशियी कमेंके मार्चान हैं एक उनमें कर्म कर के किए की की मिल्लियों नमस्त्राम क्षार्टिक जिसका विभावाशाशी कर्म कार्यका १९६॥ दोहा—न्वन्दन सवही सुरनकूं विधिह्कों दण्डोत । कर्मनको फल देत ये इनको कहा उदोत ॥ ९५ ॥ ब्रह्मा येन कुलॉलविश्वयमिती ब्रह्माण्डभाण्डोट्रे विज्णुर्येन दशार्वतारगहने क्षिंतो महासङ्कटे ॥ रुद्धो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः सूर्यो आम्यति नित्यमेर्व गरीने तरैम नमैं कैमिणे॥ ९६॥

सं० टी०—त्रम्हेति । येन कर्मणा त्रम्हाण्डमेव भाण्डं भाजनं तस्योदरे त्रम्हा बुद्धाल्य-तिवित्रियमितो नियंत्रितः सृष्टिरचनायामिति शेषः । यथा बुद्धाले बहुप्रकारभाण्डरचनां तित तथेव त्रम्हाऽपि नानाप्रकारसृष्टिरचनां करोतीत्यर्थः । येन कर्मणा विष्णुर्हिर्दद्यावतात्त तद्यस्तन्मध्ये यद्गहनं दुःखं तदेव महत्सङ्घटं तिस्मन् क्षितः पातितः । येन कर्मणा रुद्रो तदेवः कपालं नरकपालं तेन सहितो यः पाणिपुटकः करसंपुटकारतिमन् या भिक्षा तद्र्धमटनं नणं कारितः । तथा येन सूर्यो नित्यमेव गर्मने भाषाशे भाष्यित भाग्णं करोति तर्मं कर्मणं तः । शार्ट्विविक्वीडितं वृत्तमिदम् ॥ ९६ ॥

भा० टी०--जिस कर्मने ब्रम्हाको सुम्हारकेसमान सृष्टि रचनेमें नियह त्या, जिसने विष्णुको दशअवतार लेनेके संबद्धें टाला, जिसने रुद्रकोभी पिटी हाथमें ले भिक्षा मांगनेका दुःख दिया, और जिसने सूर्यको नित्य आका-में भ्रमण करनेकी पीटा दी, उसकर्मको हम नमस्कार मस्तेहें॥ ९६॥

दोहा—विधिकों कियो कुम्हार जिन हरिकों दश अवतार। भीख मंगावत ईशकों ऐसी कर्म उदार॥ ९६॥

नैर्वार्क्ततः फलेति नैव कुले ने शिलं विद्यापि'' ''नैवैं में चे यत्नेकृतीपि सेवी॥ भाग्यीनि पूर्वतपेसा खेलुं सञ्जितीनि कैले फलेन्ति पुरुषेस्य येथेवैं वृद्धीः॥९७॥

संo टीo—सर्वत्र भाग्यमेव पालति नार्राविधिते ह्याराहतेन वर्शवित शिवित । बाहरित स्वयं नेव पालति । नेव कुछं साकुछं । मैव शीछं । विद्यापि नेव । यन्तेन स्वता संगठि नेव पालि त्तु पूर्वमाचरितं यत्तवस्तेन संविधानि पुरुष्य नाग्वानि साठे समये वृद्ध इद पालित ॥ ९७॥ भा० टी॰—मुन्द्रस्वरूप, उत्तमकुल, शील, विद्या और यत्नसे की हुई वि सब मनुष्यको कुछभी फल नहीं देतेहैं, केवल पूर्वजन्मकी तपस्यह सिव्चित कियेहुए भाग्यही मनुष्योंको समयपर वृक्षकी नाई फल देतेहैं ॥ ९७ दोहा—विद्या आकृति शील कुल सेवा फल नहिं देत । फलत कर्महू समयमें ज्यों तरु फलनसमेत ॥ ९७ वेने रेणे श्राह्मजलाशिमध्ये महाँ पाँचे पर्वतमर्रंतके वां। सुप्तं प्रमृत्तं विधिमस्थितं वां रक्षेनित पुण्योंनि पुराकृतीनि॥ सुप्तं प्रमृत्तं विधिमस्थितं वां रक्षेनित पुण्योंनि पुराकृतीनि॥

सं टी० सर्वत्र पूर्वक्रतानि पुण्यान्येत्र रक्षन्तीत्याह । वन इति । पुरा पूर्व पुण्यानि सत्कर्माणि । वनेऽरण्ये रणे युद्धे रात्रुश्च जलं च, अग्निश्च तेपां मध्ये महार्णवे स् पर्वतस्य मस्तके सुप्तं निद्धितं प्रमत्तमुन्मत्तं वा विषमे नतोन्नतभूमौ स्थितं पुरुपं रह उपेन्द्रवज्राष्ट्रत्तिमदम् ॥ ९८ ॥

भा. टी॰—वनमें, लडाईमें, शत्रु जल और अग्निकेमध्यमें समुद्रमें । पहाडकी चोटीपर सोतेहुए, वेहोशीमें और विपमअवस्थामें केवल पूर्व ज कर्मही मनुष्यकी रक्षाकरतेहें ॥ ९८॥

दोहा—वन रण जल अरु अग्निमें गिरि समुद्रके मध्य।
निद्रा मद होरिह कठिन पूरवपुण्यहि सध्य॥ १८।
यो सौंधूंश्र्य खलोन्कॅरोति विद्धंषो मूर्खान्हितान्द्रेषिणः
प्रत्यंक्षं कुरुते परोक्षममूँतं हालाहिलं तत्क्षणीत्॥
तीमाराध्य सिक्रियां भगवंतीं भोक्षं फैलं वाञ्छितं
हे सिंधो व्यस्तिगुणेषु विपुँलेष्वारुषां वृथा मा कुर्थाः॥९९।

सं ० दे(०—इदानीं साक्ष्मियाफलमाह । येति । या सिक्ष्मिया खलानिप साधून् करोति । मूर्खान् विदुपः पण्डितान् करोति । द्वेपिणो वैरिणो हितान् करोति । परोक्षं प्रत्यक्षं करोति । हालाहलं विपममृतं करोति । तां सिक्ष्मियां भगवतीमाराध्य यदि वाञ्लितं फलं भोक्तुविच्छि । साथे । विप्लेषु गुणेषु व्यसनैः प्रीतिभिरास्थां वृथा मा क्रथाः मा क्त्रुरु । सिक्ष्मियां भगवतीमार्थं , तां नास्मिन् युगे किश्चिद्दिष फलं न भवतीति भावः ॥ शार्दूलविक्षीढितवृत्तियद्दम् ॥ ९९॥

भा ॰ टी॰-- जो सिक्तिया दुर्जनोंको सज्जन बनातीहैं, जो मूर्बोंको पण्डित जोर राज्जको मित्र बना देतीहें, जो परोक्षको प्रत्यक्ष और विषको अमृत कर देती हैं, ऐसी सिक्तियाभगवतीकी आराधना करो, यदि मन मांगा फल चाहतेहो। हे साधो ! बहुतसे गुणोंके साधन करनेनें इटकर दृथा श्रम मत करो॥ ९९॥

छप्पय—करत दुष्टकों साधु मूढ पण्डित ठहरावत । करत शत्रुकों मित्र विपिह अमृत ठहरावत। नृपित सभाको नाँव सिक्तिया देवी किहये। ताकी सेवा किये सकल सुख सम्पत उहिये। यह जो प्रसन्न व्हें है नहीं तो गुण विद्या सब अफल। सुन बात चतुर नर तू यहै वाहीसों व्हे है सकल॥ ९९॥

गुणेवद्रगुणवद्दौं कुर्वता कार्यमादौ परिणेतिरवधीर्या यर्त्ततः पण्डितेन ॥ अतिरेमसकृतानां कर्मणीमा-विर्पेत्तेर्भवाति हृद्यदाही शल्यर्तुल्यो विपार्कः॥ १००॥

भा ॰ टी॰—कोई कार्य अच्छा हो चाहे बुरा हो करनेवाले बुद्धिमान्को चित्र हैं कि मथम उस कामका परिणाम से।चले, वर्षों कि विनाविचारे सहसा कियेहुए कामका फल मनुष्यके हृदयमें मरणपर्यन्त कांटेकेसमान खटकताहै।।१००॥ दोहा—कारज आछो अरु बुरों कीजे वहुत विचार। विना विचारे करतही होत रार अरु हार॥ १००॥

स्थाल्यां वेदूर्यमेथ्यां पर्चति च लगुनं चंद्नीरिधं-नायैः सौवंणेर्लाङ्ग्लांभेविलिखंति वसुधामक्रमूलस्य हेतोः॥ कृत्वां केपूरिखंडान्धृतिमिहं कुरुते कोद्रवा-

णां संमतादेश दियेमां कर्मभूमिं ने चैरित मनुजो थे-रेंतैपो मंदभींग्यः ॥ १०१ ॥

सं० टी०--अस्यां पृथि०यां जन्म प्राप्य यस्तपो नाचरति स पुरुपः कीदशो भर्त स्यनेन श्लोकेनाह । स्थाल्यामिति । मनुजो मनुष्यः इमां कर्मभूमि प्राप्य यस्तपः स्वधर्मनिष्टां सिंह न चरति स मन्द्रभाग्यः स्वहितं न जानाति । अत्र दृष्टान्तः । यथा वैदूर्य्यमय्यां रत्नखिक सुवर्णस्थाल्यां छशुनं चन्दनकाष्टैः पचित पाकं करोति । यथा सुवर्णमेयैर्छाङ्गछाप्रैहेटार्फ़ैर्ग् पृथ्वी विळिखित मूर्मि शुद्धां करोति किमर्थमर्कपूळस्य हेते।रर्कवृक्षाणां रोपणार्थ । कर्पूखन कर्पूरवृक्षान् छित्वा तत्र समन्तात् कोद्रवाणां दृतिमावरणं कुरुते । तथेमां भूमि प्राप्य तपस्व विषयभोगान् भुंक्त इत्यर्थः ॥ शार्दृळित्रिक्तीडितं वृत्तिमदम् ॥ १०१ ॥

भा ॰ टी ॰ — वह पुरुष मानो रत्नों से भृषित सोनेकी थार्डीमें चन्दन लकडी जला लहसन पकाना चाहताहै, और खेतमें सोनेका इल चलाकर आह ष्टर्सों को वोताहै, और कप्रके हर्सों को काटकर कोद्रोंके हर्सों की चारोओर उनि चाढ लगाताहै, जो मन्द्भागी इस कर्मभूभिमें जन्म पाकर तप नहींकरता ॥१०१

छप्पय--चरी लसनिया मांहि तिलनकी खलकों रां^{धत} आक रुईके हेतु यु हुमि कंचन हल सांधत । कोटू निपजनका खेत घनसारिह डारत । तैसेही नरदेह पाय विषया विस्तारत इह करस भूमिको पाय करजे नहिं जप तप वत करहिं। मृढ महानर जगतमें पाय मोटि सिरपर घरहिं ॥ १०१ ॥

मजीत्वम्मेसि याँतु मेरुशिंखरं शत्रूं अयँत्वाहँवे वाणि-ज्यं कृषिसेवनादिसकला विधाः कलीः शिक्षेतु॥ आर्केश विपुँछं प्रयीतु खगैवत्कृती प्रयीतं पैरं नीभा-वैयं भवेतीहें कर्मवरोतो भाव्यस्य नैादाःकुतः ॥१०२॥

सं ० टी ६ -- यद्राच्यं तदवस्यं भवत्येवेत्याह । मजेति । अम्भासि जले मजतु । मेरारीए यतु । आह्वे युद्धे हात्रृत् जयतु । वणिजः भावः वाणिज्यं कृषिसेवनादि सकठा विद्याः क^{छा} शिक्षतु अभ्यस्यतु । विषुष्टं पुष्कलमाकाशं खगवत् पक्षिवत् यातु गच्छतु । एतादशं नाना^{वि} ें परमुख्येष्टं प्रयन्नं कृत्वाऽपि इह्छोके कर्मवशतो यदभाव्यं तन्नमवति भवितन्यं भवर्षेव भाव्यर

ाराः ब्तः प्रयानं विनापि भवति । शार्दृत्विमादितंष्टतिमदग् ॥ १०२ ॥

भा० टी०--चाहे समुद्रमें इवजाओ, चाहे मेहपर्वतके शिखरपर चढ गओ, चाहे शहुगोंको युद्धमें जीतलो, चाहे विनज, खेती, सेवा आदि सव रेपालोंमें निष्ण होजाओ, और चाहे वहा युवकर पक्षीकेसमान आकाशों उजाओं परन्तु (जानलो कि) जो अनहोनाहे वह कभी न होगा और जो ोना है वह किसीमकार टल नहींसक्ता॥ १०१॥ होहा—चूड समद्र अरु मेरु चढ शत्रु जीत व्योपार। खेती विद्या चाकरी सवमें भावी सार॥ १०२॥ भीमें वृंनं भवेति तस्य पुरं प्रधानं सैवों जनैः सुज-

भीम वन भवीत तस्य पुर प्रधान सर्वा जनः सुज-नैतामुर्पयाति तस्य ॥ ईत्स्ना चै भूभवैति सन्नि-धिरत्नैपूर्णा यस्यास्ति पूर्वसुकैतं विपुँठं नरस्य॥१०३॥

सं ० टी०—भीमिमिति । यस्य नरस्य पूर्वे सुकृतं विपुलं पुष्कलं भवित तस्य भीमं भयंकरं वनमरण्यं प्रधानं श्रेष्ट पुरं नगरं भविते । सर्वो जनः दुर्जनोऽपि सुजनस्य भावः सुजनतां याति । कृत्का समग्रा भृः सन्त उत्तमा निधयो रत्नानि च तैः पूर्णा भवित । वसन्तिति छका वसन्ति । १०३॥

भा० टी०—जिस मनुष्यके पूर्वजन्मके पुण्य वहुत होतेहैं भयानक वन उस पुरुपकेल्यि सुन्दर नगर होजाताहै, सब डुष्टजन उसके मित्र होजातेहैं, और सब पृथ्वीभी अनेकरब्रॉसे पूर्ण होजातीहै ॥ १०३ ॥

दोहा--वन पुर है जग मित्र है कप्ट भूमि है रल।
पूरवपुण्यहि पुरुपके होत इते विन यल॥ १०३॥

को ठीमो गुणिसेङ्गमः किमसुँ प्राझेतरेः सङ्ग्राँतः को हाँनिः समयं च्यातिर्निपुणिता की धर्मतित्वे रेतिः॥ कैं शूँरो विजितेन्द्रियः प्रियर्तमा कीनुबेंता के धेनं विद्या किं सुर्वेमप्रवासेगमनं राज्यं किर्माज्ञाफेंठं॥१०४॥

सं॰ टी॰—क इति । लाभः को गुणिसङ्गमः गुणीनां पुरुपाणां समागमः । असुखं किं प्राज्ञादितरे मूर्वीस्तैः सह संगतिः । हानिः का समयन्युतिः यस्मिन् समये यदवश्यं कर्तन्यमेश त्तन कर्त समयो गतः तेव हानिस्टियंः । नियुणिया आसूना का या पर्मनिते गीतः प्रितिः। कः विजितानिन्द्रियाणि येनासौ । प्रियतमा का यानुवता पतिनता । पर्न कि निया शहरूवारः सुखं किमप्रवासगमनं । राज्यं कि आशाक्तरं । यपात्तमा सर्वे शुभाजुभं भवति तदेव राज्यं शर्द्धविकीडितं मृत्तिमदय् ॥ १०४ ॥

भा० टी० — लाभ क्या है १ गुणियोंका समागम। दु:स क्या है हि सी संगति करना, हानि क्या है १ समयपर चूक जाना। निषुणना क्या है १ कि भीति रखना, जूरता क्या है १ इन्द्रियोंको क्या एसना, स्त्री कोन अच्छी है जो पित्रता है। धन क्या है १ विद्या। सुख क्या है १ परदेश न जाना। है राज्य क्या है १ आज्ञाका चलना॥ १०४॥

छप्पय—कहा लाभ सत्संग कहा दुख मृरख संगत। सम नाश वड हानि सुघड रंग धर्मकी रंगत। शूर कीन इन्द्रीजि सुख का रहे स्वदेश निरन्तर। धन का विद्या अमित नार क आज्ञातत्पर। राज वही सुखमूल प्रजा जो आज्ञाकारित जन्म सुफल सोई जान भजे जो अधम उधारन॥ १०४॥

मालतीकुसुंमस्येवं हेँ गंती स्तो मनैस्विनः॥ मूर्श्री वा सर्वलोकस्यँ शीर्यते वैन एवं वी॥१०५॥

सं० टी०—मनिस्ति हे गती भवत इति माछतीकुसुमदृष्टान्तेन वर्णयित । माई तीति । माछत्याः कुसुमं पुष्पं तस्येव मनिस्तिनो विवेकिनः पुरुपस्येह हे गती दशे स्तः। यद कुसुमेन सर्वछोकस्य मूर्धि मस्तके स्थीयतेऽथवा वन एव शीर्यते शीर्णीभूयते तद्दन्मनिस्तः पुरुष छोकमान्या गृहे वा वनेऽरण्यवासिनो भवन्तीत्यर्थः ॥ अनुष्टुव्वृत्तमिदम् ॥ १०५ ॥

भा० टी०—मनस्वीपुरुपोंकी मालतीके फूलकेसमान दोही गति होती हैं, या तौ वे सबके मस्तकपर रहतेहैं या वनमेंही कुझलाजातेहैं॥ १०५॥

सीरठा—जातीपुष्पसमान उत्तमनरकी होय गति। कै सिर चढें सुजान। कै जंगलविच झुर झरें ॥१०५॥

अप्रियवर्चनद्रिः प्रिवचनौढ्येः स्वदारैपरितुष्टेः ॥ परपरिवादैनिट्तेः कंचित्कँचिन्मंडिता वसुधा ॥ १०६॥ सं० टी०—अस्मिन् संसारे प्रशंसनीयगुणैर्युक्ताः पुरुषा विरष्टा इत्याह । अप्रियंति । अप्रियंवचनदिरदेः अप्रियंवचनेषु दरिद्रास्तैः, प्रियंवचनेषु आढ्याः सम्पन्नास्तैः, स्वदारेषु परितृष्टैः सन्तृतैः, परापत्रादात् पर्रानिदाया निवृत्ताः एवमादिभिर्गुणैर्युक्तैः पुरुषैः काचित् काचित् स्थष्ठे वसुधा भूमिः मण्डिता शोभिताऽस्ति ॥ आर्यावृत्तमिदम् ॥ १०६ ॥

भा० टी० — अभियवचन न बोलनेवाले, मीठे वचनाकी खानि, अपनी ही स्त्रीसे तृप्त, और परनिन्दा न करनेवाले पुरुपोंसे कही २ प्रथ्वी शोभाय-मान् है, अर्थात् ऐसे मनुष्य सर्वत्र नहीं होते ॥ १०६ ॥

दोहा—अप्रियवचनदरिद्रता प्रीतिवचन धनपूर । निजतियरित निन्दारिहत वे महिमण्डल शूर॥ १०६॥

कद्धितंस्यौपि हिं धेर्यवृत्तेर्न शक्यंते धेर्यगुणः प्रमाष्ट्रिम् ॥ अधोमुखस्यापि कृतेरेय विह्नेनीधिःशिखी यीति कदीचिदेवे ॥ १०७॥

सं० टी०—धेर्य वृतेर्धेर्य कोऽपि मार्जितुं न शक्य इति सदद्यान्तमातः। पार्टार्धतिति। कदि्यितस्य कष्टं प्राप्तस्य धेर्यं वृत्तिर्धतेतं यस्य तस्य पुरुपस्य धेर्यस्यो यो गुणस्तं प्रमार्त् नाशं प्राप्तिवृत् केनाऽपि न शक्यते। अत्र द्यान्तः। अधःकृतमुखस्य यक्तेः शिखा पादाचिद्प्यपे। न याति विन्तु मद्या कर्ष्यमेव याति। धोरः आपत्प्राप्तावपि धेर्यं न त्यजतीति भावः॥ उपजाति वृत्तिगिद्म्॥ १०७॥

भा० टी॰ — फैसाही कष्ट वर्योन पडे परन्तु पर्धवान मनुष्यका धीरज नष्ट नहीं होसका, अभिकी ज्वाला कैसी नीचेको वर्यो न फरदीजाव परन्तु फिर् भी वह ऊपरहीको जायगी नीचेको नहीं जाती ॥ १०७॥

दोहा—धीरज गुण ढांक्यो चहत नाहिं ढकत कोजचाल।
जैसे नीचो अग्निमुख ऊंची निकसत झाल॥ १०७॥
कान्ताकटार्झंविशिखा नें दहींन्ति यस्ये चित्तं नें निर्द्हिंति कोपकृशानुतापः॥ कैंपीन्त भूरिविधेयार्थं नें
लोभपीशैलोंकित्रयं जयीति केंद्सिमिदिं सें धीरें:॥१०८॥

सं॰ टी॰—कालाकटाक्षेति । यस पुरुष्य चित्तं कान्तावं स्त्रीयां कटाक्याः के प्राप्तास्त एव विशिष्या बाणास्ते न दर्शन्तं, तथा कोपः मेथाप्य करामुस्क्रीसास्य ताने च निर्देशीय सस्मीकरोति, तथा भूरि बहुवे। विषयाः लोभ एव पाशाः वन्धनानि तैर्थस्य चित्तं न कर्पन्ति, सर्धः पुरुषः कृत्तनं सम्पूर्णिमदं लोकत्रयं जगत्रयं जयति वशीकरोति ॥ वसन्त तिलकावृत्तमिदम् ॥ १०८

भा० टी०—िस्त्रयोंके कटाक्षरूपी वाण जिसके हृदयको नहीं वेधते, े रूपी अग्निकी ज्वाला जिसके चित्तको दग्य नहींकरतीहै, तथा विषयभोग के वित्तके लोभपाशमें वांधकर नहीं खींचते, वही धीरपुरुप इन तीनों लों को अपने वशमें करलेताहै ॥ १०८॥

दोहा—तिय कटाक्ष शरपतन वच दहत न कोपहि आगी लोभपाश खेंचत न मन ते विरले रहें जागि॥१०० ऐंकेनांपि हि[®] शूरेणं पादांकान्तं महीतलम् ॥

कियंते भारकरेणेव परिरंकुरिततेजसा॥ १०९॥

सं० टी०—एक एव शूरः सम्पूर्ण जगद् वशीकरोतीति सूर्यदृष्टान्तेन स्पष्टपति। एकेनेति। यथा परित आसमन्तात् स्पुरितं दीतिमत्तेजो यस्य तेन भास्करेण दिवाकरेण महीतलं पृथ्वीतलं पादैः किरणराक्रान्तं न्यातं क्रियते, तथा एकेनापि हि शूरेण महीतलं भूतं पादाभ्यामाक्रान्तं न्यातं क्रियते। अनुष्टुव् वृत्तमिदम् ॥ १०९॥

भा० टी०--एकही शूर सारी पृथ्वीको पाँवतले दवाकर ऐसे वश कर रेताई जसे अकेलाही तेजस्वी सूर्य सारेजगत्को प्रकाशित करदेताहै ॥ १०९॥

दोहा—वडौ साहसी होत जो काम करत झुकझूम।
श्रवीर और अरु सूर यह लांघ जात रणभूम॥१०९॥
विह्निस्तस्य जलायते जलानिधिः कुल्यायते तत्थीणानमेर्कःस्वल्पीशालायते मृगीपतिः सँद्यः कुर्रङ्गीयते॥
व्यालो माल्यगुणायते विपर्रसः पीयूपविधीयते
वर्त्त्याङ्गेऽशिललोकविद्यभतमं शीलंसमुन्मीलित॥११०॥

स्० दीइ—चोक्षियपुरसस्यानमुक्त्या अध्यमुक्त्या भवन्तीति दर्शयति। यस्य पुरस् कार् अन्तिकविकामां सम्पूर्णलेखानामानस्यम् बह्नमं बह्नमतस् ।नियतमं दक्षितं समुस्मीन राष्ट्रपूर्णने सस्य विकासिकारमधाने द्वीत जावायने जावभिष्याचाति जातभिष्य दक्षितवे। भवतीति भाषाः। भग जलिभिः समृद्रः मुल्यायते कुल्याल्पसिरत्तद्वदाचरित मुतरे। भवतीत्यर्थः । तत्क्षणात् क्षणमात्रात् भरुपर्वतः स्वत्यशिलायते स्वल्पशिलावदाचरित । महानिप भेरुः स्वल्पपापाणवद्भवतीत्यर्थः मृगपितः सिंहः सद्यः कुरंगायते कुरंगो हिरिणस्तद्वदाचरित । क्षितकूरोपि सिंहः कुरंगवत भवतीत्यर्थः । ज्यालः सर्वे।ऽपि माल्यगुणायते माल्यस्य गुणः रज्जुस्नद्वदाचरित । सर्पे।ऽपि कूरतां त्यजतीति भावः । विपरसः पीयूपवर्णयते पीयूपममृतं तस्यवर्षे वर्षणं तद्वदाचरित । विपमिष स्वस्यमावं स्यजतीति भावः । शार्दूलविकोडितं वृत्तिमिदम् ॥ ११०॥

भा० टी०—-जिस पुरुषके अंगमें सवजगत्को मोहनेवाला शील विरा-जमान है, उस पुरुषको अग्नि जलकेसमान जानपडताहै, समुद्र छोटीसी नदीके समान दिखपडताहै, मेरुपर्वतभी छोटीसी शिलाकेसमान ज्ञातहोताहै, सिंहभी उसके आगे हिरन होजाताहै, सर्पभी पुष्पोंकी मालाकेसमान होजाताहै, और विपभी अमृतकी दृष्टिकेसमान होनाताहै॥ ११०॥

छप्पय—अग्नि होत जलरूप सिन्धुजवर पद पावत । होत सुमेर हुसेर सिंहके स्यार कहावत । पहुपमालसम व्याल होत विष्हू अमृतसम । वनहू नगरसमान होत सव भांति अनुपम । सव शत्रु आय पायन परत मित्रहु करत प्रसन्न चित्त । जिनके सुपुन्य प्राचीन शुभ तिनके मंगल मोद नित ॥ ११०॥

लजागुणोधर्जननीं जर्नेनीमिवं सैवामत्यन्तशुर्देहद-यामनुवर्तमानाम् ॥ तेजेस्विनः सुखंमसूनिप संत्य-र्जन्ति सत्यव्रतव्यंसनिनो नें पुनंःप्रतिर्ज्ञाम् ॥ १११॥

सं० टी०—तेजित्वनः पुरुपाः स्वप्रतिज्ञां न स्यजन्तीति स्वजननीदृष्टान्तेनाह । टक्रीति । सत्यमेवव्रतं तदेव व्यसनं येषां ते तेजित्वनः पुरुपाः प्रतिज्ञां न त्यजन्ति पुनरन्यां न कुर्वन्ति । सर्थभूतां प्रतिज्ञां टक्जाया ये गुणास्तेषामोघः समुदायस्तस्य जननीम् । पुनः कथंभूतां स्वां स्वकीयां जननीमिवात्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानां । अतस्तेजित्वनः सुखमसून् प्राणानीपे त्यजन्ति परन्तु स्वप्नतिज्ञां न त्यजन्ति । वसन्तितिङकाष्ट्रचिमदम् ॥ १११ ॥

भा० टी०—सत्यव्रतके धारणकरनेवाले तेनस्थी मनुष्य लज्जा आदि गुणोंको उत्पन्नकरनेवाली, माताकेसमान शुद्धहृद्यवाली और स्वाधीन रहनेवाली अपनी मतिज्ञाको कभीही निहंत्यागते परन्तु हां प्राणोंकोभी (उसके वर्ध) सुखसे त्यानदेवेहें॥१११॥ कुण्डित्या—मैथ्या लजा गुणनकी निज मेयासम मान तेजवन्त तनको तजत यांकों तजत न जान ॥ याकों तजत जान सत्यवतवारेहू नर । करत प्राणको त्याग तजत नहिंद वचन वर । शरत आपनी राख रह्यो वह दशरथरेया । र वल हरचन्द टेक यह जसकी मेया ॥ १११ ॥ इति श्रीमद्गर्दहरिविरचितं भाषाटीकोषेतं नीतिशतकं सम्पूर्णम्॥

ओम् ।

श्रीहरिम्बन्दे ।

श्रीवृन्दावनविहारिणे नमः

अथ भर्तृहरिविरचितं ।

द्वितीयं शृंगारशतकं प्रारम्यते।

शम्भुस्वयंभुँहेरयो हरिणेक्षणांनां येनीकिर्यन्त सर्तेतं गृहकर्मदासाः ॥ वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय तंस्मे नेमो भगवते कुसुमीयुधाय ॥ १ ॥

सं० टी०—इदानीं शृंगारशतकं व्याख्यायते । सम्यावचारितं चेत् परिणामे वैराद्धिम् मेवाऽरित । निन्दास्तुतिः स्तुतिनिन्दा वा द्वौ प्रकारौ स्तः । अत्र तावत् स्तुतिनिन्दाप्रकारः । क्वां शृंगारश्च नग्वरः एतत्सकाशात् सुखं तन्नश्वरं परिणामे दुःखमेव । एवं सित विपयिभिरिवचार्य वर्षः तरं स्तूयते सा स्तुतिरादौ तां विख्खिति । शम्भुरिति । शम्भुः शिवः स्वयम्भः त्रह्या हरिविं हण्यते महान्त ईश्वरा येन मदनेन सततं निरन्तरं हरिणेक्षणानां गृहकर्मदासाः कृतास्तस्म कुसुमायुः कामदवाय नमेऽस्तु । कथंभृताय वाचामगोचराणि चरित्राणि तैर्विच्त्राय नानाप्रकाराय । वसन्ति तिल्काकृतिस्तम् ॥ १॥

भा॰ टी॰—जिसने शिव, ब्रह्मा, और विष्णुभी हरिणकेसमान नेत्रों। हियों के गृहकार्य करनेके िये दास बनारक्खा है, और जिसके चरित्रवाणी से नहीं होसके हैं, उस पुष्पायुव कामदेवको हम नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥ दोहा—विधि हरि हरहू करतहें सृगनेनी की सेव । वचन अगोचर चरित गति नमो कुसुमसर देव ॥ १ ॥ स्मितेन भावेन चें लर्जिया भिया पराङ्मुखेरर्घक-टार्स्वीक्षणेः ॥ वैचोभिरी प्यक्तिंल हेन लिलेया सम-स्तिभावेः खेंलु वन्धैनं स्त्रियः ॥ २ ॥

सं० दी०—तत्रादो ह्नियः स्मितभावादिना पुरुपमवर्यं वधन्तीति द्योतयि । स्मितेनित । न हास्येन, भोवन चित्ताभिप्रायेण, टज्जया, भिया भयन, पराङ्मुखैरद्धीनि कटाक्षेण वीक्षितानि होकनानि तेः, वचोभिः परोत्कर्पासहिष्णुतेष्यी तयेष्यया कल्हेन, लील्येति समस्तभावैः सम-प्राभिः खटु निश्चयेन ह्नियः पुरुपस्य वन्यनं भवन्तीति । वंशस्यं वृत्तमिदम् ॥ २ ॥

भा॰ टी॰—मन्द्र र प्रसकराना, लज्जा करना, मुख फेरलेना, तिरछी से देखना, भोटो २ वार्ते करना, ईप्यो करना, कल्ह करना और अनेकप्रका-भाव पगटकरना इत्यादि सववार्तासे स्त्री पुरुपका वंधनस्वरूपही है।। २॥ दोहा—रसमें त्योंही रोसमें दरशत सहज अनूप।

वोलिन, चलिन, चितौनिमें विनता वंधनरूप ॥ २ ॥ भ्रूचातुर्याकुञ्चितीक्षाः कटौक्षाः स्निग्धा वाँचो लिज-तान्ताश्चं हासाः ॥ लीलार्मन्दं प्रस्थितं चैं स्मितं चैं स्नीपामते हुँ एपं चौर्युंधं चैं ॥ ३ ॥

सं टी०—मृचातुर्योदीन्येव स्त्रीणां भूपणिमत्याह । भूचातुर्येति । भूचो यच्चातुर्ये कुंचितानि अक्षीणि नेत्राणि येपु, एवंभृताः कटाक्षाः । क्षिग्याः स्नेहयुक्ता वाचः । छजितान्ता गुक्तोऽन्तो मय्यो येपाते छजागर्भिता इत्यर्थः हासाः हास्यानि । छिछ्या स्वभावेन मन्दं शनैः वतं प्रयाणं स्मितं हास्यं च । स्त्रीणामेते पदार्था भूपणमळङ्कारः आयुषं शस्त्रं च भवीन्त ।

डेनीवृत्तमिदम् ॥ ३ <u>॥</u>

भा० टी०-मेंहि टेढी कर कटाक्ष करना, मधुर २ वात वेळिना, लिजित होकर किराना, लीलासे मन्द् मन्द चलना, और पुनः टहरजाना इत्यादि भावधी योंके भूपण और शस्त्र हैं, अर्थात् की इन्हीं भावोंसे पुरुपको वशमें करलेतीहैं॥३। छप्पय-करत चातुरी भौंह नयनहू नचत चिते वौ । ः चितको चाव चोंपसों मृदु मुसकेवो । दुरत मुरत रा गात अरसात जह्मावत । उझकत इत उत देख चलत के छविछावत । यह आभूषण तियनके अंग शोभा घरन । अर शस्त्रसमान हैं युवजन मनमृग वधकरन ॥ ३॥

कैचित्सुर्भूमंगेः कैचिद्पि चं छजापरिणतैः कैचि-द्वीतिर्ज्ञस्तैः केचिदपि चं छीछोविछस्तिः ॥ नवी-ढींनामे भिर्वदर्नकमछैर्नेत्रचैछितैः स्फुरेन्नीछा ब्जानां प्रकर्रपरिपूर्णा इवे दिशैंः ॥ ४॥

सं० टी०—भूभंगळजाभीत्यादिभावेन स्त्रियः पुरुषं मोहयन्तीति दर्शयित । किर्मितः प्रथमसंगतानां नावोद्धानां वदनान्येव कमळानि तैः नेत्रचिळतेः नेत्राणि चिळतानि येपु के एफ्रिकीटाजानां प्रकरः समुदायस्तेन परिपूर्णा इव दिशो भवन्ति । वदनानि कमळानीव तेपु चिळतानि तान्येव भ्रमरास्तैः पूर्णानि दश्यन्ते । कथंभूतेर्वदनैः । कचित् सुभूभङ्गेर्भूभङ्गार्थाः यपु तेः । कचित् सुभूभङ्गेर्भूभङ्गार्थः यपु तेः । कचित् सुभूभङ्गेर्भूभङ्गार्थः यपु तेः । कचित् स्त्रिः । कचित् सं कचित् स्त्रिः । कचित्र सं विळासितेः शोभितेः ॥ शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ४ ॥

भा० टी०—नवोढा स्त्रियां अपने मुख्कुमलमं स्थित चंचलनेत्रांको । उपर फेरतीहुई कभी भुकुटियोंको टेढी करलेती हैं, कभी लाजसे सिर डक लेते कभी भयभीत होजातीहैं, और कभी लीलामय विलास करनेलगतीहैं, इसतरह धर वह अपनी दृष्टि फेरतीहैं उधरही नीलकमलोंके समृहोंका अनुभव होनेलगती

छप्य — कबहु भोंहको भंग कबहु छजायुत दरसत। ससकत संकि कबहु छीछा वरपत। कबहुक मुख मृहुहास हितवचन उचारत। कबहुंक छोचन फेर चपछ चहुंओर रत। छिन २ सुचरित्र विचित्र किर भरे कमछ जिमि दशहु विधि एसी अनूपनारी निरम्ब हरपत रहिये दिवसनिशि॥ ४॥

वैक्यं चन्द्रविकासि पङ्कजपरीहाँसक्षमे छोचँने वँणीः स्वर्णमपाकरिष्णुरिछनीजिष्णुःकचीनार्यंयः॥वक्षो-

जीविभकुम्भतंभ्रमेंहरों गुंवीं नितंबस्थैली वींचां हीरि चें मींद्वं युंवतिषु स्वामीविकं मंडेनम् ॥ ५॥

रं टी ०—चान्यविकासि वक्त्रमित्यादीनि स्त्रीणां स्वामाविकभूगणानि सन्तीत्याह । विश्वामाति । वक्त्रं मुखं चन्द्रविकासि चन्द्रवह्वतुं शोभायमानं च । पंकजानां कमलानां परीहासो कसनं ताद्योग समर्थे लोचने । वर्णः कान्तिः स्वणं सुवर्णमपाकरिल्णुः सुवर्णतोऽधिकः । कचानां सानां चयः समुदायोऽलिनीं भ्रमरीं जिल्णुः । वक्षोजी स्तनौ इभस्य गजस्य कुम्भा गण्डस्थलं स्य संभ्रमः शोभा तस्य हरो । गुर्बी पृथुला नितम्बस्थली किटपथात्प्रदेशः । मार्दवं वाचां चनानां हारि अत्यन्तकोमलानि वचनानि एते पदार्था युवातिपु स्वामाविकं स्वभावेनैव मण्डनं विनत्त । शार्द्व्विक्रीवितं वृत्तिमदम् ॥ ९ ॥

भा० टी०—चन्द्रमाकेसमान रज्जवल मुल, कमलकीभी हंसी करनेवाले नेत्र, वर्णकी दमकको मन्दकरनेवाली देहकी कान्ति, भ्रमरीके समूहोंकी शोभाको जीतने नेत्र केश्न, हस्तीके कुम्भस्थलकी शोभा हरनेवाले दोनों स्तन, विशाल दोनों नितम्ब गौर मन हरणकरनेवाली कोमल वाणी ये सब खियोंके स्वाभाविक भूषण हैं ॥६॥ छटप्य—करत चन्द्र छिव वदन अद्भुत छिव छाजत। कमल- विहसित नैन रैन दिन प्रफुलित राजत। करत कनकद्युति शिन अंग आभा अति उमगत। अलकन जीते भौर कुचनकर कुम्भ किये हत। मृदुता भरोर मारे सुमनसुख सुवास मृगमद कृदन। ऐसी अनूप तियरूप लिख छाँह धूप निह गिनत मन॥५॥

स्मितं किञ्चिद्वक्तें सरलँतरलो दृष्टिविभवः परिरूपन्दो वाचामिनवविलासोक्तिस्रसः ॥ गैतीनामार्रम्भः किसलियतलीलापिरकरः स्पृतंतिंयास्तारेण्यं कि मिहें निहि रैम्यं मृगदर्शः॥ ६॥

निं टी दिन्ताहण्यकाले स्त्रीणां दृष्टिपातादयः सर्वे भावा अत्यन्तरमणीया भवन्तीत्याह । सितिमिति । ताहण्यं तहणतां स्पृशन्या मृगदशः ।किं रम्यं न अपि तु सर्वे रम्यमेवास्ति । तिर्कि दिवत्रे रखे किंदित्त् रिम्तमस्यं हास्यं । सरलस्तरलक्षञ्चलो दशोविभवः सामर्थ्यम् । विलासेन दर्शनशक्तिः । अभिनवा नवीना विलासोकिस्तया सरसो मधुरो वाचां वचनानां परिस्पन्दो रचना ।

गतीनां गमनानां आरम्भः किसलयितलीलापरिकरः किसलया नवपल्लवाः अत्यन्तप्रदविष्ठाः स्विमित्यर्थः ॥ ६ ॥

भा॰ टी॰—मन्द मन्द मुसकुराताहुआ मुख, सीघे और चश्चल धीक नवीन विलासकी एक्तिसे मधुर २ वात करना, और नवीनपल्लवकेसमान मन्दः गितसे गमन करना, इत्यादि तरुणीस्त्रियोंके हायभाव क्या मनोहर नहीं होतेहें ॥ ६ विहा——मन्द हसन तीखे नयन सरस वचन सविलास। गजगमनी रसणी निरख कों न करें अभिलास॥ ६ ॥

द्रष्टंच्येषु किसुत्तेमं सुगहेशां प्रेमप्रसन्नं मुंखं घ्रातं-च्येर्ज्वपि किं तदास्येपवनः श्रीच्येषु किं तहेचः॥ किं स्वादेषुं तदोष्ठपञ्चवरंसः स्पृॅंश्येषु किं तत्तिनु-ध्येंये किं नवयोवेनं सुहद्येःसेंवित्र तहिश्चमेः॥ १

सं० टी—द्रष्टव्येष्विति । सुहृद्येः आसक्तिचित्तेः द्रष्टव्येपु दर्शनीयवस्तुपु किमुत्तनं हिं व्यम् । मृगहशां मृगले।चनानां स्त्रीणां प्रेम्णा प्रीत्या प्रसन्तं मुखं । व्रातव्येपु सुगंधितकः किमुत्तनं । तदास्यपवनः तस्या मुखादागतो वायुः । श्राव्येपु श्रवणयोग्यपदार्थेपु किमुत्तनं । तः वचनम् । स्वादेपु किमुत्तनं । तस्या ओष्टपल्लवस्य रतः । स्पृश्येपु स्पर्शयोग्यपदार्थेपु किं । तः तनुः शरीरं । घ्येयं घ्यातुं योग्यं किं तस्या नवयावनम् । सर्वत्र सर्वदा तहिश्रमो विलासः स्मर्णिः शर्तृत्विविक्रीडितं वृत्तिहिदम् ॥ ७ ॥

भा० टी०—रसिकोंके देखनेयोग्य उत्तम् वस्तु क्याहे? मृगन्यः वियोका प्रस्त मुख, सुंयनेयोग्य उत्तमपदार्थ क्याहे? व्हियोंके मुखकी भार मुननेयोग्य क्याहे? व्हियोंके मधुर वचन, स्वादिष्ट उत्तमपदार्थ क्याहे ? विक बाष्ट्रपद्धवद्या रम, स्वर्धकरनेयोग्य उत्तमवस्तु क्याहे ? व्हियोंका हारीर । व्याक क्योव्याव्य क्याहे ? नवयुवनीका नवयोवन, आर उसके विकास ॥ ७ ॥

हुष्य — कहा देखिये योग्य प्रियाको अति प्रसन्न सुख कहा सृथिये सोधि श्वास सागंधि हुग्त दुख । कहा दीजिये का प्राणस्मार्गकी वातन । कहा कीजिये स्वाद अध्यक असृत अख तन । प्रमिषं कहा ताके जुतन ध्यानकहा जीवन सु छवि । स्व भांति सकलमुखको सदन जान सुजस गावत सुकावि ॥ ७॥ एँताः स्खलद्दलयसंहतिमेखलोत्थझङ्कारनूपुररवाह-तराजहंस्यः ॥ कुर्वन्तिं कस्य नं मँनो विर्वशं तरुण्यो वित्रस्तमुग्धहरिणीसँहशैः कटाँक्षैः ॥ ८ ॥

सं० टी०—तरुण्यः स्वकटाक्षैः कस्य मनः स्वाधीनं न कुर्वन्ति आपि तु सर्वस्य कुर्वन्ती-याह । एता इति । एतास्तरुण्यः कटाक्षैः कस्य पुरुपस्य मनो विवशं स्वाधीनं न कुर्वन्ति अपि तु विस्य कुर्वन्त्येव । कथंभृताः स्खटन्ति शन्दायमानानि वर्ण्यानि तेषां संहतिः मेखलाश्च ताभ्य ग्रीथतो संकारः श्चणत्कारस्तेन सहतादशानि नृपुराणि तेषां ग्वान्छन्दात् शाहता जिता राजह तानां स्त्रियो याभिस्ताः । कथंभृतैः कटाक्षैः विवस्ता भयभीता मुग्धा हरिण्यम्तासां यदा प्रेक्षणानि ।त्सदशैः । वसन्ततिस्वकावृत्तमिदम् ॥ ८ ॥

भा० टी०--जिन्होने चंचल्रकंकणोंके शब्द, क्षुद्रघंटियाओं (फॉदनी) की विन और नृषुरके झनकारसे राजहंसिनियोंकी चालको जीतिलयाँहे ऐसी नवयुवती ।यभीत हरिणीके समान नेत्रपात कर किसके मनको विवश नर्हा करदेतींह ॥८॥

दोहा--नृपुर किंकिन किंकनी चोलत अमृत वेन । काके मन चस करन हित मृगनेनिनके नेन ॥८॥

कुंकुमपङ्ककलङ्कितदेही गीरपयोधरकम्पितहीरा॥ नृपुरहितरणत्पद्पद्या कं नँ वज्ञीकुंठते भुँवि रामा॥ ९॥

र् दिः — इह रामा खी सर्वमेव वर्षाकृति हत्याः । बुद्धमेति । कुटुमरा प्रत्कः हर्दमस्तेः ^{सं} विद्वातो देहो यस्याः सा, गीरी प्रयोगरी स्तनी ताम्यां कामितो हाते यस्याः सा, स्ट्रु विषय हर्ष्यात्र रणन्ति हान्द्रायमानानि प्रदान्येव प्रवानि यस्याः सा, एवंभूता रामा स्ट्रुरी खीस्ति ह पुरुषं स्वीकृति अपि तु सर्वानिष । वेशवहत्त्वविद्यम् ॥ ९ ॥

भा टी॰--वेशस्या खाँरसे लिनका देर शोभित होराहँ, जिनके योहे भोरे स्नात ए हार शृपरहाई, बाँर नृषुरमधी हंस जिनके चरणराधीदमहाँके हन्द में देनीहैं बासुन्दरी शीरम प्रशीपराक्षण एम्परी अपने महामें की बरहे की है। ॥॥ हा---इहा---हारहलें हुन्दरायक रुपको सर रंजित देह।

है नुषुरध्यनि पद्यासलकीयो हि न करें इस पेह ॥९।

नूँनं हि" ते किववेरा विपरीतेंबोधा ये नित्यैमीहर वें लापिनीनाम् ॥ यौभिविं लोलतरतारक हि एपेंतिः शकादेंयोऽपि विजितीं स्ववैं लाः केंथं तीं ॥ १

सं टी० —ये सामिनीनामवली इत्याहुः ते सिन्तिसा विपरीतवीधा इत्याह । नृति सि दिन्यः काविशेष्ठाः नृतं निश्चयेन विपरीतवीधाः विपरीत्रज्ञा नृतन्तः ये सामिनीनामवला नृतन्तः वे लोखतराः तारसाध्यसुपुर्ता नियमः विद्यानिः प्राप्तिः प्राप्तिः प्राप्तिः प्राप्तिः प्राप्तिः प्राप्तिः प्राप्तिः प्राप्तिः विद्याने विद्याने विद्याने प्राप्तिः प्रापतिः प्राप्तिः प्राप्तिः प्राप्तिः प्रापतिः प्राप्तिः प्रापतिः प्राप्तिः प्रापतिः प्रापतिः प्रापतिः प्रापतिः प्रापतिः प्रापतिः प्रापतिः प्राप्तिः प्रापतिः प्

भा॰ टी॰—ये कत्रिवर निस्तन्देह उल्टीसमझवाले हैं। से इल अवडा करतेर्दे, भला जो अपनी नेत्रोंकी पुतलियोंके चश्चलकटाकी हैं। केर्जा यह करलेर्दि वे अवला किसप्रकार होसक्तीहैं॥ १०॥

देहि।—कामिनकों अवला कहत ते नर मृढ अचेत है। इन्द्रादिक जीते हगन सो अवला किहि हेत ॥ कित्री नृनमाज्ञाकरस्तस्याः सुभुवो मकरध्यजः॥ कित्री यंतस्तक्षेत्रसंचारमृचितेषु प्रवर्तते॥ १९॥ दोहा--अरुण अधर कुच कठिन हम भोंह चपल दुंख देत।
सुथिररूप रोमावली ताप करत किहि हेत। १५॥
गुरुणा स्तर्नेभारेण मुखचन्द्रेणं भारवताँ॥
श्रेनेश्वरार्भ्यां पादाभ्यां रेजें श्रहमयीवं सों॥ १६॥

सं टी - गुरुणेति । सा स्त्री गुरुणा महता स्तनयोः कुचयोः भारेण । भःस्वता तेजीवता गुरुमेव चन्द्रस्तेन, हानैर्भन्दं चरतस्ताभ्यां पादाभ्यां चरणाभ्यां प्रहमयीव सूर्यादिभहप्रचुरेव रेजे शोभितवती । पक्षे गुरुणा वृहस्पतिना, भास्वता सूर्येण चन्द्रेण वा शनश्चराभ्यां पादाभ्यां शनैश्वरेण । अनुष्टुबृबृत्तमिदम् ॥ १६ ॥

भा० टी०—वह स्त्री गुरु (बृहत्) स्तर्नोके भारसे, भारतान (प्रकाशः उक्त) ग्रुखरूप चन्द्रमासे और मन्दगामी दोनों चरणोंसे ग्रहमयीसी दीख । ई॥१६॥

छप्पय—केश राहुसम जान चन्द्रसों सोहत आनन। द्वाद-शमें दें अर्क नैन केतुहि अलकानन। मन्दहास है शुक्र इथ बानी कृहि जानों। सुरगुरु जान उरोज कर्ण मंगलहि वखानों। अति मन्द चाल सोई मन्द्रमति महा मनोहर जुवति यह। सपही कलदायक देखियत जाकों सेवत नवों यह।। १६॥

तस्योः स्तैनो येदि घँनो जर्घनं विर्हार वर्कत्रं चँ चारुं तैव चिंत्तं किंमाकुलत्वेम् ॥ पुर्ण्यं कुरुंदेव थेंदि तेषुं तीवास्ति वार्च्छा पुर्ण्योविनीं ने हिं भवन्ति समीहितोंथीं:॥ १७॥

सं० टी०—पुण्यैर्विना मनोरमकामिनीप्राप्तिन भवतीत्याह । तस्या इति । हे चित्त ! विदे तस्याः स्तनो पना कठिना तथा च जपनं विद्यारि क्रीटायोग्यं, तथाच वनत्रं मुखं चारु मुन्दरं, विदे तब ब्याकुल्यं भिमर्थ । यदि तेषु स्तनादिषु तव चाञ्छाऽस्ति पुण्यं कुरूव । सर्विदित्तर्याः वभीष्सितार्थाः पुण्यैर्विना न भवति न सिद्धयन्तीत्यर्थः । वसन्तितिलकावृत्तीत्वस् ॥ १७॥

मा० टी०-हे वित्त! यदि उस स्त्रीके कुच यहोर हैं और जयन दिहार िंतरने येएय हैं और उसका मुख सुन्दर है तो तूं उसको देखकर क्यों ज्याहुइ

सैति प्रदीपे सँत्यैशी सर्त्सु तारार्विन्दुषु ॥ विना में मृगशावाक्या तमीभूतैमिदं' जगते ॥ १४

सं० टी०—सतीति । प्रदीपे सित अग्नी सित तारा नश्चत्राणि रिवःसूर्यः १९३० तेपु सत्सु अपि मृगस्य हरिणस्य शावो वालस्तस्याक्षिणीवाक्षिणी यस्यास्तया द्विया विना इं: जगत् तमाभूतमन्वकारावृतं भाति । अनुष्टुवृत्वतिमदम् ॥ १४॥

भा० टी०—यद्यपि, दीपक, अग्नि, तारागण, सूर्य और चन्द्रमा वेक् मकाश्रमान पदार्थ विद्यमान हैं परन्तु मुझको तौ मेरी मृगनयनी स्त्रीके विनी सन्दर्भसार अंघकाराष्ट्रतही दीखताहै ॥ १४॥

दोहा—दीप अगिनि मिन चन्द्रमा जग मग जोत सुरारि मृगनेनी कामिनि विना लगत सबै अधियार ॥ १४ ॥ येद्वृत्तैः स्तर्नेभार एषै तरले नेत्रे चले क्रूले रागान्धेषु तदोष्ठेपैळ्ळविमदं कुर्वन्तुं नामें व्यथीम्॥ सोभाग्यीक्षरपङ्किरेवे लिखिती पुष्पीयुधेन स्वैयं मध्य स्थापि करोति तापेमधिक रोमावैली केने सी॥१५

सं० टी०—यदिति । हे सामिनि ! यद्यस्मात् कारणात् तत्र एप वृत्तो वर्तुलः साने कुचयोर्भारः तरेले चञ्चले नेत्र चले चञ्चले शुभे भूलते, इदमाष्ट्रपहृत्रमेतानि सर्वाणि भारि नामिति निश्चयेन, रागः प्रीतिः तयान्धेपु व्यथां कुर्वन्ति तत् कुर्वन्तु । कुतः पुष्पायुधेन मरि स्वयं तत्र भाले सीभाग्याक्षरपंक्तिरेव लिखिता वर्तते । अते। इसमाकं किमीप न चलित । परि इयं तत्रोदरे रोमावली मध्यस्थापि अधिकं तापं करोति तत् केन कारणेन तत्र ज्ञायते । सिर्मि विज्ञीडितं वृत्तमिदम् ॥ १९ ॥

भा० टी०—उन्नत (उटेहुए) कुचोंका भार, चञ्चल नेत्र चञ्चल भुर्हें और दोनों अपरपछन थे रिसकोंक शरीरमें पीड़ा करें तो करें क्यों कि हैं मस्तकों साभाग्यके अक्षरोंकी पंक्ति कामदेवन स्वयं अपने हाथसे लिखीं परन्तु यह तेरी रोमावली मध्यस्य होकर्मी अधिकपीड़ा देतीहैं, नहीं गाई इसका क्या कारण है। सारांत्र यह है।कि उन्नत, चचल और रागवान है आयः पीड़ा देताही है, परन्तु मध्यस्थरूप यह रोमावली क्यों अधिक ताप उत्पं कर्री है अधीन कर्षी विपरीत कर्रीहै॥ १५॥

दोहा--अरुण अधर कुच कठिन हग भोंह चपल दुंख देत। सुधिररूप रोमावली ताप करत किहि हेत॥ १५॥ गुरुणा स्तर्नेभारेण मुखचन्द्रेणं भारवताँ॥ श्रेनेश्वरार्भ्यां पादार्भ्यां रेजें यहंमयीवं सी ॥ १६॥

सं टी - गुरुणेति । ता स्त्री गुरुणा महता स्तनयोः कुचयोः भारेण । भास्तता तेजीवता गुजमेव चन्द्रस्तेन, हानैर्भन्दं चरतस्ताभ्यां पादाभ्यां चरणाभ्यां प्रहमयीव सूर्यादिष्ठहप्रचुरेव रेजे हो।भितवती । पक्षे गुरुणा वृहस्पतिना, भास्त्रता सूर्येण चन्द्रेण वा हानैश्वराभ्यां ग्रानैश्वरेण । सन्षुवृहत्तिव्स ॥ १६ ॥

भा० टी०—वह स्वी गुरु (वृहत्) स्तनों भारते, भारतान (मकाशायका) मुलक्ष्य चन्द्रमासे और मन्द्रगामी दोनों चरणोंसे ग्रहमयीसी दील ते है।।१६॥ छप्पय—केश राहुसम जान चन्द्रसी सोहत आनन । द्वाद-शमें दे अर्क नैन केतुहि अलकानन। मन्द्रहास है शुक्र वृध वानी कहि जानों। सुरगुरु जान उरोज कर्ण मंगलहि वखानों। अति मन्द्र चाल सोई मन्द्रमति महा मनोहर जुवति यह। सवही कलदायक देखियत जाकों सेवत नवों ग्रह ॥ १६॥

तस्योः स्तैनो येदि घँनो जर्घनं विहारि वर्कत्रं चं चारुं तैव चिंत किंमाकुलत्वेम् ॥ पुर्ण्यं कुरुंव थेंदि तेषुं तीवास्ति वार्वेषा पुर्ण्यविना ने हिं भवन्ति समीहितार्थाः ॥ १७॥

सं० टी०—पुण्यैर्विना मनोरमकामिनीप्राप्तिन भवतीत्याह । तस्या इति । हे चित्त ! विदि तस्याः स्तनो घनो कठिना तथा च जघनं विहारि क्रीडायोग्यं, तथाच वक्त्रं मुखं चारु सुन्दरं, विहि तव व्याकुळत्वं किमर्थ । यदि तेषु स्तनाहिषु तव चाञ्छाऽस्ति पुण्यं कुरुष्व । समीहितायी मभीन्तितायीः पुण्यैर्विना न भवन्ति न सिद्धयन्तीत्यर्थः । वसन्ततिळकावृत्तमिदम् ॥ १७॥

भा० टी०—हे चित्त! यदि उस स्त्रीके कुच कठोर हैं और जयन विहार किरने योग्य है और उसका मुख सुन्दर है वी त्ं उसको देखकर क्यों व्याकुछ होताहै, यदि उनमें तेरी इच्छाहै तो पुण्यकार्य कर क्योंकि विना पुण्यके मने सिद्ध नहींहोतेहैं ॥ १७ ॥

कुण्डिलिया—रे चित जो चाहे रमण कुच कठोर नवना तौ तू कर कुड सुकृत अव मिलैजु वह सुकुमार। मिलैजु सुकुमार वकं भौं लघड विहारी। सुन्दर मुख मृदुहास कंज अंखियां कारी। यौवन मद भरपूर प्रेम सों सदा प्रफुछित। अधीर धर धीर मिलै वह अवस अरे चित॥ १७॥

मार्त्सर्यमुर्त्सार्य विचार्य काँर्यमार्याः समर्पादिमिः वदन्तु ॥ सेव्या नितम्वाः किलं भूधराणामुर्तं समर-समरिवलासिनीनाँम् ॥ १८ ॥

मं० ही०—भूधरस्त्रीनितम्बयोर्भध्ये कः सेवनीय इति प्रच्छित । मात्सर्येति । भी भ क्षेत्राः गण्सर्य उप्मार्थ त्यक्त्या अवस्यं कर्तव्यकार्यं विचार्य मर्यादयासह समर्थादं इदं कार्यं वर् निक्र । यदि परमार्थक्षेत्रत्तिहं भृवराणां पर्वतानां नितम्बाः सेव्याः नो चेत् स्मरस्य मदनस्य भूगनेत विद्यानिनीनां नितम्बाः सेव्या इति । उपजातिर्वत्तम् ॥ १८ ॥

भा० टी०—हे श्रेष्ट्रपुरुषो ! मत्मरताको त्यागकर मर्यादासहित वि पूर्वक कहा कि केना पर्वनांकेही नितम्ब सेवनेयोग्य हैं, और कें कामरें उपह्रमें भगेर्द्र स्त्रियोंकेही नितम्ब सेवनेयोग्य हैं॥ पर्वतके मध्यभाग विस्कृतिक कार्यकामको नितम्ब कहनेहें॥ १८॥

देहि।—नीच वचन सुन अनख तज करह काज छहि भेग केता सर्वे गिरवरन के कामिन कुच सेव ॥ १८ ॥ मंसीरऽस्मित्रमीरे परिणानित्ररेछे हैं गंती पण्डिनीनां नखज्ञानामृनाम्भः खुनळिलियियां यीतु कांछः कर्जाचित् ॥ नो चेन्सुम्यांगर्नीनां स्तनज्ञवनभरान् भेजनंतीजिनीनां स्यूलेपस्थर्यकीषु स्थिगनकर-नळ्डां होतां हो स्वानकर- सं० टी०——असिन् संसारे पण्डिता गितद्दयेन कालयापनं कुर्वन्तीत्याह ! संसार इति । निस्ननसारे सारराहिते परिणातितरले परिणामचञ्चले संसारे पण्डितानां द्वे गती स्तः । अतस्तवन्त्रानेनैवामृतोदकेन प्लुता स्नाता अतएव लिलता तीक्ष्णा धीर्येपामेवंभूतः कालः कदाचिद् यातु । म्लित्ता साता अतएव लिलता तीक्ष्णा धीर्येपामेवंभूतः कालः कदाचिद् यातु । म्लित्ता स्ति । नोचेत्तिः स्तनजघनयोर्भरस्तिस्मन् आभोगः पूर्णः सम्भोगो यासां तासां । स्थाइनानां स्थृत्येपस्यस्थलीपु भूमिपु स्थेगितः करतलस्पर्शस्तिस्मन् लोलानां सतृष्णानामुचतानां । साथाइत्तिमदम् ॥ १९॥

भा. टी॰—इस असारसंसारमें जिसकी अन्त अवस्था अति चश्चल है ।ण्डितोंकी दोही उत्तम गित हैं, कि यातों तत्त्वज्ञानरूपी अमृतरसमें स्नान हरनेवाली जिनकी निर्मल बुद्धि हैं उनहीका समय अच्छा व्यतीतहोताहै, अथवा अपने पुष्ट स्तन और जघनसे जो स्त्री भोगमें सुखदाई हैं उनके शरीरपर हाथ दिये अञ्चलतासे जो उद्योगमें तत्पर हैं उनका काल भलीभांति व्यतीतहोताहै ॥ १९ ॥ उप्पट्य—अल्पसार संसार तहां है वात शिरोमाणि । ज्ञानअमृतके सेन्धु सगन वहें रहे बुद्धिवनि । नित्यानित्यविचारसहित सब आधन साधें। की यह प्रौढा नारि धारि उरमें आराधें। चैतन्य मदन अंकुशपरित सिसकत ससकत करत रिस। रस मसत कसत विल्ज वह हंसत इह विधि वित वह दिवसिनसी ॥ १९ ॥

मुखेन चन्द्रकोन्तेन महाँनीठेः शिरोरुंहैः॥

पाणिभ्यां पद्मरागांभ्यां रेजें रत्नमयीवं सां॥ २०॥

सं ० टी ०—मुखेनेति । सा स्त्री चन्द्रवत् कांतं सुन्दरं तेन मुखेन तथा महान्तश्च ते नीळास्तैः कृष्णवर्णेः शिरोरुहैः केहैः तथाच पद्मं रक्तकमलं तद्दत् रागो रक्तिमा ययोस्ता-म्यां पाणिभ्यां हस्ताभ्यां रत्नप्रयीव रेजे शुशुमे । अनुष्टुवृक्तभिदम् ॥ २०॥

भा॰ टी॰—चन्द्रकान्तसे मुस्र, महानील्से केश, और पद्मरागकेसमान रंगवाले दोनों हाथोंसे वह स्त्री रत्नोंकी खानकेसमान शोभायमान है ॥ २० ॥

दोहा-चन्द्रकान्त सम मुख लसत नीलम केशहि पाश। पद्मरागसम कर लसें नारी रत्नप्रकाश॥ २०॥

संमोहयन्ति पद्यैन्ति विडम्बयैन्ति निर्भर्त्सयँन्ति रमयँन्ति विषादयन्ति ॥ एताःप्रविश्यै संदुयं हिंदुयं नराणां किंै

विषाद्यान्त ॥ ५ताःत्रावश्य सद्य इद्य नराणा ।व नार्मै वामनर्यना ने समाचरन्ति ॥ २१ ॥ सं दी • — संमोहयन्तीति । एताः वामानि सुन्दराणि नयनानि यासां ताः वामानि नराणां पुरुषाणां सदयं दयायुक्तं हृदयं प्रविश्य संमोहयन्ति मोहमुत्पादयन्ति, मदयन्ति, विडम्बर्गत् निर्मर्त्सयन्ति, परंच रमयन्ति, विषादयन्ति विषादमुत्पादयन्ति, तस्मात् एताः ह्नियः किनानः समाचरन्ति अपि तु सर्वमेव आचरन्ति । वसन्तितिळकावृत्तिमदम् ॥ २१॥

भा० टी०—ये सुन्दरनेत्रवाली श्री मनुष्यके कोमलहृदयमें प्रवेशकर जो मोहलेतीहैं, मत्त करदेतीहैं, उसकी विडम्बना करतीहैं, उसकी डांटदेतीहें, उसके रममाण करातीहैं, और उसकी अपने विरहसे दुःखी करतीहैं, फिर क्या रहा जिसके यह नहीं करतीं, अर्थात् ये सवकुछ करनेको समर्थ हैं ॥ २१ ॥

सोरठा—मोह प्रलाप प्रमाद ज्ञाननाश निर्लज्जता। शोक कलेश विषाद कहा न कर हिय नार घुस॥२१॥ विश्रम्यं विश्रम्यं वनद्रुमाणां छायासुँ तन्वी विचर्चार काचितं॥ स्तनोत्तरीयेणं करोद्धतेनं निवारयर्थन्ती

श्रिश्तों मयूखान्य ॥ २२ ॥

सं टी॰—अथ भोगादिलक्षणमुन्यते । विश्रम्येति । काचित्तन्वी कृशाङ्गी विक्षिणे वा वनद्रुमाणां वनस्थितवृक्षाणां छायासु विश्रम्य विश्रामं कृत्वा । आदरार्थे वीष्सा । स्तनेतिरीये स्तनेतिरिवन्नेण करेणोद्धृतं तेन शशिनश्चन्द्रस्य मयूखान् किरणान् निवारयन्ती विचवर्षिण गमनं कृतवर्ता । उपजातिर्धृतम् ॥ २२ ॥

भा॰ टी॰—कोईएक स्त्री वनके द्वक्षोंकी छायामें वेरवेर विश्राम कर्ती हुई अपना अंचल (स्तनोंके ऊपरका साडीका भाग) हाथसे उठा उससे चन्द्रमांके किरणोंको रोकतीहुई जातीहै। यह क्रशाभिसारिका नायका है॥ २२॥

दोहा—नारि विरहनी तरुतरें वैठी शशिसों भाग। चन्द्रकिरनकों चीरसों दूर करत दुख पाग॥ २२॥

अर्द्शने दर्शनमात्रकाँमा दृष्ट्वाँ परिष्वंगरसैकलोलाँः॥ आर्िं गिताँयां पुनंरायताक्ष्यामाशास्मेहे विग्रह्योरभेदम् ॥२३॥

सं० टी०—अदर्शन इति । आयतास्याः प्रियमुक्या अदर्शने दृष्टिगोचात्वाभावे दर्श नमेव दर्शनमध्ये तासिन् वामेर छाछसा थेपां तथाभृता वयं सा इति शेषः । अस्ति भ^{वि} परोडम्बुज्यमाने इत्यस्तिति भाष्यात् । तां दृष्ट्वा परिष्यद्वारेसे खाळित्वनरसे एकस्मिनेव छोडा तृष्णाः । आयताक्ष्यां दीर्घलोचनायां पुना रतिसमये आलिङ्गितायांसलामुभयोर्विप्रहयोर्देहयोर-दः सातत्येनैकत्र स्थितिमाशास्महे इन्छामः । अभिलिषतिविषयप्राप्ताविप विषयेन्छा न निवर्तत ्वेतिभावः । वृत्तमुपजातिरिदम् ॥ २३ ॥

भा० टी०—जबतक हम स्त्रीको नहींदेखते तवतक तौ हमको उसके ंखनेहीकी इच्छा रहतीहै, और जब देखलेतेहैं तव उससे आलिक्ननरसका ंगुल चाहतेहैं, और जब उसका आलिक्ननभी प्राप्तहोजाताहै तव यह इच्छा करतेहैं कि यह मृगनयनी हमारे शरीरसे अलग न हो ॥ २३ ॥

छपरहाः—विन देखे मन होय वाय कैसे कर देखे। देखे ते चित होत अङ्ग आलिङ्गन सेखे। आलिङ्गनते होत याहि तनमय करराखे। जैसे जल अरु दूध एकरस त्यों अभिलाखे। मिलरहे ति मिलवो चहत कहा नाम या विरहको। वरन्यो न जात अद्धृत चिरित प्रेम पाठकी गिरहको॥ २३॥

मार्लेती शिरेसि जृम्भणोन्मुखी चन्द्रंनं वेंपुषि कुंकुमान्वितम्॥ वक्षाँसि त्रियतमां मनोर्हरा स्वेंगे एषं परिशिष्टें आगेतः ॥२४॥

सं० टी०—मालतीति । यस्य मालती पुष्पमाला शिरिस वर्तते कीहशी जूम्भणोन्मुंखौ विकसन्मुखी विकसिता । तथा वपुषि शरीरे चन्दनं कुंकुमेन अन्तितं युक्तं । तथा च वक्षिस हृदये प्रियतमा अतिशयेन प्रिया वर्तते । तस्य स्वर्गः परिशिष्टोऽत्रशिष्टः उर्वरितः एषोऽत्र भूमी आगतः अत्रापि स्वर्गमोगो भवतीति भावः । रथोद्धतावृत्तमिदम् ॥ २४ ॥

भा० टी०—खिलेहुए मालतीके पुष्पोंकी माला गर्लेमें पढीहो, केसरयुक्त चन्दन शरीरमें लगाहुआहो, और सुन्दर प्यारी स्त्री छातीसे लिपटीहो तो जान-लोकि स्वर्गका शेप सुख पहीं प्राप्तहुआहै ॥ २४ ॥

दोहा—केशरसों अंगिया सनी वनी नयनकी नौक।

मिली प्राणप्यारी मनौ घर आयौ सुरलोक ॥ २४॥

प्रौद्धौमें ति मनौंगमानितर्गुणं जाताभिर्लाषं ततः

सैंब्रीडं तद्नुं शुथोद्यतेमनुं प्रत्येस्तयेयं पुनैः॥ प्रेमाई-

स्पृहणीयनिंभेररहःक्रीडाप्रगेंहमं तैतो निःशंकांगविकर्षण दिकसुँखं रभेंयं कुलस्त्रीरतमें ॥ २५॥

सं ॰ टी॰—प्राङ्मामेतीति । कुल्ह्लीरतं रम्यं कथं प्राक् पूर्व मा मा इति मनाभेते समानितगुणं स्वयमेत्र आगमिष्यति इति कारणात् आदरो नैत्र इतः । ततो जाताभिलां र जाता, ततः सत्रीडं लज्ज्या सह आगता।तदनु श्रव्योद्यतं शिथिलतया उद्यता । अनु पश्चात् प्रचितं । पुनः प्रमणा आर्दः स्पृहणीयः निर्भरः आदरः तेन रहः एकान्ते ऋडियां प्रगत्भं सक्त ततः निःशक्तमङ्गस्य विकर्पणमाकर्पणं तेन अधिकं सुखं। एवं शनैः शनैः सक्तल्जिमिति कार रम्यगित । शार्दलिक्जीडितं वृत्तिभिदम् ॥ २५ ॥

भा॰ टी॰—पिहळे तो नहीं नहीं करना, फिर अभिलापा ुर्शहित और लजासे शरीरका ढीलाकरदेना, धीरता त्यागदेना, प्रेमरसम भीगत मराहनेपोग्य एकान्तकीडाका चातुर्थ विस्तारकरना, और फिर निडर हो क्षेप स्वचनेका अधिक सुखलाभ करना, इत्यादि मनोहर गुण उसमें हैं, इसहि निश्य जानलोकि कुलसीही रमणकरनेयोग्य है॥ २५॥

छप्ण्य—ना ना कहि गुण प्रगट करित अभिलापलाः जुन । शिथिल होय घर धीर प्रेमकी इच्छा करि उत । निर्म रसकों लेत सेजर न खेतिह माहीं । क्रीडामांहि प्रवीण नारी स्वि या सनमाहीं । यह सुरत मांझ अतिही सुरत करत हरत हि गित करें । कुलवधु कामिनी केलि कर कलह कामकी सवटेंं॥

रंगित निपतितानां सस्तधीमाहकौनां मुकुंछितन नीनां किंचिंदुर्नाछितानाम् ॥ सुरतजानितखेदस्विन्नगि स्पंकीनामधरमंथु वधूनां भाग्यवस्तःपिवन्तिं ॥ २६॥ छ्टप्य खुले केश चहुंओर फैल फूलनको वरसत। सदमद छाके नेन दुरत उधरतसे दरसत। सुरतखेदके स्वेद कलित सुन्दर कपोल गाहि। करत अधररसपान परत अमृत समान लाहि। ते धन्य धन्य सुकृती पुरुष जे ऐसें उरझे रहत। हितभरे रूप योवन भरे दम्पति सुखसंपत लहत॥ २६॥

आमीलितनयंनानां येः सुरतैरसोऽनुँसंविदं कुरुते ॥ मिथुँनेभिंथोऽवधारितैमविर्तथमिद्मेवँकामानिर्वहणं॥ २७॥

सं टी - न्यामिनर्वहणमाह । आमीलितेति । आ ईपन्मीलितानि नयनानि यासां तासां स्त्रीणां यः सुरतरसः अनुसंविदं सुखं कुरुते इदमेव अवितयं कामस्य निर्वहणं कर्तव्यं । मिथुनै-र्ट्टन्टेर्मियः परस्परमवधारितं ज्ञातमन्यो द्येतन्त्रजानाति । गीतिर्वृत्तम् ॥ २७ ॥

भा० टी॰ आलस्यभरे नेत्रवाली स्त्रियोंकी कामसे तृप्तिकरनाही कामका पूजन है, इसको स्त्रीपुरुष दोनो परस्पर जानतेहैं॥ २७॥

दोहा—मृगनैनी आलसभरी सुरतसेज सुखसाज।

पूजिहें दम्पति काम मिलकरिहं सुमङ्गल काज॥२०॥ ईद्मनुंचितमक्रीमध्री पुंसौं यैदिहें जरास्वैपि मान्मैथा

विकाराँः ॥ भेंदपि भें में केंतं नितम्बिनीनां स्तनपर्तना-विध जीवितं भेंतं वीं ॥ २८ ॥

सं ० टी ० — इदिमिति । पुंसां यत् यस्मात् जरासु वृद्धावस्थायामि मन्मथस्येभे मान्मथाः विकाराः कृताः इदमनु चितं कृतं । अक्रमश्च क्रमोऽिपनैव । यदिप नितार्म्वनीनां स्तनपतनाविध

١

स्तनयोः पतनपर्यन्तं जीवितं रतं वा न ऋतम् । इदमपि अनुचित ऋतम् ॥ पुष्पिताप्राष्ट्रत्तमिदम् ॥२८॥

भा॰ टी॰ -- यह विधाताने वहा अनुचित कार्य कियाहै कि मनुर्ध्याके वृद्धावस्थामें भी कामविकार प्रगट होताहै, और ऐसेही स्त्रियों को भी ऐसा न वनाया कि जवतक उनके स्तन न गिरें तभीतक जीवें अथवा तभीतक काम-चेष्टा उनको उत्पन्नहो ॥ २८॥

दोहा—विधिना है अनुचित करीं वृद्धनरन तन काम । कुच ढरकतह् जगतमें जीवतराखी वाम ॥ २८॥

स्पृहणीयनिभैररहःक्रीडाप्रगेर्हमं तैतो निरंकां िर्ध दिकसुँखं रमेंयं कुलस्त्रीरतम् ॥ २५॥

सं ॰ टी॰—प्राङ्मामेतीति । कुल्ह्लीरतं रम्यं कथं प्राक् पूर्वं मा मा इति मनामे अमानितगुणं स्वयमेव आगमिष्यति इति कारणात् आदरो नैव कृतः। ततो जाताभिलां र जाता, ततः सत्रीडं लज्ज्या सह आगता।तदनु श्च्योद्यतं शिथिलतया उद्यता। अनु पृथात् प्रक्षियं। पुनः प्रमणा आर्दः स्पृहणीयः निर्भरः आदरः तेन रहः एकान्ते क्रीडायां प्रगल्मं सक्तल्ला ततः निःशङ्कमङ्गस्य विकर्षणमाकर्पणं तेन अधिकं सुखं। एवं शनैः शनैः सक्तल्ज्ञामिति कार्यममित । शार्द्लिक्कीडितं वृत्तमिदम्॥ २५॥

छप्यय—ना ना किह गुण प्रगट करित अभिलापला ने जुत । शिथिल होय धर धीर प्रेमकी इच्छा किर उत । किरा कि से जिस में कि प्रविश्व के से प्रेम के इच्छा किर उत । किरा कि से जिस में कि प्रविश्व के से जिस में से अतिही सुरत करत हरत कि पानि के हैं। कुलवधु कामिनी केलि कर कलह कामकी सवटरें॥ कि

उंगिम निपतितानां सस्तधीमाहकानां मुकुंछितन्य नीनां किंचिदुन्मीछितानाम् ॥ सुरतजानितखेदस्विन्नगणः स्थितीनामधरमंधु वधृनां भाग्यवन्तःपिवन्ति ॥ २६॥ छ्रिप्य खुले केश चहुंओर फेल फूलनको वरसत। सदमद छाके नेन दुरत उधरतसे दरसत। सुरतखेदके स्वेद कलित मुन्दर कपोल गाहि। करत अधररसपान परत अमृत समान छाहि। ते धन्य धन्य सुक्रती पुरुष जे ऐसे उरझे रहत। हितमरे ह्रप योवन भरे दम्पति सुखसंपत लहत॥ २६॥

आमीिलतनयैनानां येः सुरतैरसोऽनुँसंविदं कुरुँते ॥ मिथुँनैमिथीऽवधारितैमविर्तथिमिद्मेवँकामानिर्वहणें॥ २०॥

सं० टी०--कामानिर्वहणमाह । आमीछितेति । आ ईपन्मीछितानि नयनानि यासां तासा स्त्रीणां यः सुरतरसः अनुसंविदं सुखं कुरुते इदमेव अवितधं कामस्य निर्वहणं कर्तव्यं । मिथुने-ईन्हें(मंथः परस्परमवधारितं ज्ञातमन्यो होतन्नजानाति । गीतिर्वृत्तम् ॥ २७ ॥

भा० टी॰—आलस्यभरे नेत्रवाली स्त्रिपोंकी कामसे तृप्तिकरनाही कामका पूजन है, इसको स्त्रीपुरुप दोनो परस्पर जानतेहैं॥ २७॥

दोहा--मृगनैनी आलसभरी सुरतसेज सुखसाज।
पूजहिं दम्पति काम मिलकरिं सुमङ्गल काज॥२०॥

इंद्मनुचितमक्रीमध्यं पुंसौं येदिहे जरास्विपि मान्मिथा

इद्मनुष्यतमकनव्य पुरा पादह जरात्वाप मान्स्या विकाराः ॥ यदिपि र्वं ने क्वेतं नितिम्विनीनां स्तनपतिना-

विध जीवितंं रैंतं वीं ॥ २८॥

सं ॰ टी॰—इदिमिति । पुंसां यत् यस्मात् जरासु वृद्धावस्थायामिष मन्मथस्येभे मान्मथाः विकाराः कृताः इदमनुचितं कृतं । अक्रमश्च क्रमोऽपिनैव । यदिष निताम्बनीनां स्तनपतनाविष स्तनयोः पतनपर्यन्तं जीवितं रतं वा न कृतम् । इदमिष अनुचित कृतम् ॥ पुष्पिताप्रावृत्तमिदम् ॥२८॥

भा टी ० — यह विधाताने वडा अनुचित कार्य कियाहै कि मनुष्यों के वृद्धावस्थामें भी कामाविकार प्रगट होताहै, और ऐसे ही स्त्रियों को भी ऐसा न वनाया कि जबतक उनके स्तन न गिरें तभीतक जीवें अथवा तभीतक काम-चेष्टा उनको उत्पन्नहो ॥ २८॥

दोहा—विधिना है अनुचित करीं वृद्धनरन तन काम । कुच ढरकतह जगतमें जीवतराखी वाम ॥ २८॥

एँतत्कामफैंछं छोके' यें द्वैयोरेकचित्तताँ॥ अन्यचित्तकृते काँमे र्जावयोरिवं संगर्भः॥२९॥

सं० टी०—छोके स्त्रीपुरुपयोरेकचित्तता एव कामफलिमलाह। एतदिति । छोके यत्र स्त्रीपुरुषयोरेकचित्तता एकचित्तत्वमेतदेव कामस्य फलमस्ति । अन्यस्मिन् पुरुषे अन्यास्यां योणिति यचित्तं तेन कृते कामे सित शवयोः मृतयोः सङ्गम इव भवतीति शेषः । अनुष्टुवृक्तमिदम्॥१९।

भा० टी॰—समागमकेसमय स्त्रीपुरुपका एकचित्त होजानाही काम फुळ है, यदि समागममें दोनोंका एकचित्त न होय तो वह मृतकके समागम समान है।। २८।।

दोहा—नारिसमागम कामफल दुहुनहि चित्त इक हो। जो कहुं होय विभिन्नत शवसंगमसम जोय॥ २९॥

प्रणयमधुराः प्रमोहाढाँ रसीदर्रुसास्तथाँ भणितमधुँ मुग्धप्रायाः प्रकाशितसंमदाः ॥ प्रकृतिसुभगा विश्रमभीही स्मरोदयदायिनो रहींसि किमिपि स्वेरालापी हरितिं मृगीहशाम् ॥ ३०॥

सं शे विश्वासयोग्याः । स्मरस्य कामस्योदयं ददतीति ते स्मरोदयदायिनः । हिरणीवृत्तिस्म ॥ ३०॥

भा० टी०—मृगनयनी स्त्रियोंके प्रणयपीतिते पधुर प्रेमरसपूर्ण शृंगार रससे आलस्ययुक्त सुननेमें सुन्दर, अव्यक्त आनन्द प्रकाशकरनेवाले, स्वभावहींसे सुन्दर, विश्वासयोग्य, सार कामदेवको उत्पन्नकरनेवाले वाक्य एकान्तमें मनकी इरलेतेई ॥ ३० ॥

दोहा—प्रणयमधुर आलसभरे सरससनेह समेत।
मृगनेनिनके ये वचन हरें चित्तकों लेत॥ ३०॥

र्वतां गोंगे पापवारिणि वारिणि ॥ हण्यां वां मनोहारिणि हारिणि ॥ ३१॥

ा इति । हे पुरुष ! त्वया पापं वारयतीति पापवारि तत्त्वभावे गङ्गाया इंके., तस्मिन् वारिणि जले आवासः वसतिः क्रियताम् । गङ्गातीरे पुण्यसम्पादनार्थं वासः भयताभितिभावः । वा अथवा हारोऽस्ति यस्मिस्तिस्मन् मनोहारिणि तरुण्याः युवत्याः स्तनमध्ये कुच-यमध्ये आवासः स्थिक्तिः क्रियताम् । सांसारिकसुखसम्पादनार्धमितिभावः ॥ अनुष्टुवृत्तुत्तीमदम्॥३१॥ भा० टी - पापहरनेवाले गङ्गाके तटपर वासकरना उचित है, अथवा नोहरहारयुक्त तरुणीस्त्रीके स्तनोंके मध्यमे वासकरे ॥ ३१ ॥ दोहा--वास कीजिये गङ्गतट पाप निवारत वारि। कै कामिनिकुचयुगलको सेवन करहु विचारि ॥३१॥ प्रियपुरेतो युवतीनां तार्वतपदमातनोतुं हँदि मानैः॥ भवैति नै र्यावचंदनतरसुरिभिनिभिर्छःपवनैः ॥ ३२ ॥ सं ० टी०-प्रियेति । तात्रत् प्रियस्य पुरतोऽप्रभागे युत्रतीनां हृदि माने।ऽहंकारः पदमा-नोतु विस्तारयतु । यावचदंनतरुणा वृक्षेण सुरभिः सुगंविः सुनिर्मेलः खच्छः लियानिल इसर्थः न भवति । इति भोगादिलक्षणम् । गीतिर्वृत्तिमिदम् ॥ ३२ ॥ भा ॰ टी ॰--मानिनासियों के हृदयमें मान तभीतक उहरताहै जवतक के चन्दनकी सुगंधिसे पूर्ण मलयाचलका वायु नहींचलताहै ॥ ३२ ॥ दोहा-तवही जो मन मान यह तवही छैं। भूभंग। ज्योंलों चन्दनसे मिल्यो पवन न परसत अङ्ग॥३२॥ अथ ऋतुंवर्णनम् । तत्रादौ वसन्तस्य । परिमळेमृतो त्रातीः शाखा नवांकुरकोटँयो मधुरवितोत्कण्ठा वांचःप्रियाः

प्रसरित भेधो राज्यां जातो न कर्यं गुणोद्यः ॥ ३३॥
सं वी - विश्वतं कामवर्द्ध सर्वप्राची प्रवृत्ते वर्षः । ३३॥
सं वी - विश्वतं कामवर्द्ध सर्वपदार्थानां प्रावृक्षां भवतीति तत्रादौ वसन्तं वर्णविति । परिमलेति । परिमलेन सुगन्धिना स्तः युक्ताः वाताः पवनाः वान्तीतिशेषः । दृक्षाणां
शालाः नवांकुरकोटयः नवांकुरयुक्ता समवन् । पिकपक्षिणां कोकिलपित्रणां प्रियाः मधुरविरतो-

एँतत्कामफॅलं लोके येह्रैयोरेकचित्ततों ॥ अन्यचित्तकृते काँमे श्वयोरिवं संगर्मः ॥२९॥

र्में ही • — लेके सीत्युक्योरिकिनिस्तता एन कामफलियात। एतिरिति । लेकिक क्षुण्योरिकिन का एकिन सत्योत्येरेन कामस्य फलमस्ति । अत्यस्मिन् पुक्ते अरणस्य कि किंग्रोके को को सति स्वयोत्युवयोः सङ्गम इन भवतीति सेपः । अनुपूर्वतिर्धि

अतः की -- समागमने समय सीमुहपका एकचित हो जानावी है कर है, की राजागममें दोनों हा एकचित न होप तो यह मृतकके मण

> रोहा — नारियामागम कामफल बुहुनहि चित्त इक है जेर कई होच भिनिज्ञत सबसंगमराम जीय॥ २१

प्रत्यसम्भाः प्रमोद्दाहां ग्याद्हांमाग्नर्था भणितम स्वयस्य प्रकाशितसंसदाः ॥ प्रकृतिस्मिता विश्वसी स्वीट्यद्विता ग्रीमि क्षिपि ग्वगहापी हर्म स्वीट्याय ॥ ३०॥

वंतां गोंगे पापवारिणि वौरिणि ॥ रुप्या वां मनोर्हारिणि हारिणि ॥ ३१॥

दें ने, तस्मिन् वारिणि जले आवासः वसतिः क्रियताम् । गङ्गातीरे पुण्यसम्पादनार्थं वासः क्रियताम्। गङ्गातीरे पुण्यसम्पादनार्थं वासः क्रियताम्। गङ्गातीरे पुण्यसम्पादनार्थं वासः क्रियतामितिभावः । वा अथवा हारोऽस्ति यस्मिस्तिस्मन् मनोहारिणि तरुण्याः युवत्याः स्तनमध्ये कुचस्यमध्ये आवासः स्थिहि क्रियताम्। सांसारिकसुखसम्पादनार्थमितिभावः ॥ अनुष्टुव्वृत्तिमदम्॥३१॥
भा० टीय-पापहरनेवाले गङ्गाके तटपर वासकरना उचित है, अथवा
नोहरहारपुक्त तरुणीस्तिके स्तनोंके मध्यमे वासकरे ॥ ३१॥

दोहा—चात कीजिये गङ्गतट पाप निवारत वारि ।
के कासिनिकुचयुगलको सेवन करहु विचारि ॥३१॥
प्रियपुरेतो युवतीनां तावंत्पदमातनोतुँ हाँदि मानैः ॥
भवति ने यावच्चंदनतरुस्रीमिनिमिर्दःपवनैः ॥ ३२॥

सं० टी०—प्रियेति । तावत् प्रियस्य पुरतोऽप्रभागे युवतीनां हृदि मानोऽहंकारः पदमा• तनोतु विस्तारयतु । यावचदंनतहणा वृक्षेण सुरभिः सुगंविः सुनिर्मलः स्वच्छः पवनोऽनिर्छ। बल्यानिल इसर्थः न भवति । इति भोगादिलक्षगम् । गीतिर्वृत्तामदम् ।। ३२ ॥

भा॰ टी॰—मानिनीस्त्रियोंके हृदयमें मान तभीतक टहरताहै जवतक कि चन्दनकी सुगंधिसे पूर्ण मलयाचलका वायु नहींचलताहै॥ ३२॥

दोहा-तवहीं जों मन् मान यह तवही छैं। श्रूभंग।

ज्यों हैं चन्दनसे मिल्यों पवन न परसत अङ्ग॥३२॥ अथ ऋतुंवर्णनस् । तत्रादें। वसन्तस्य । परिमळेमृतो

वार्ताः शाखा नवांकुरकोटँयो मधुरवितोत्कण्ठा वांचःप्रियाः पिकपक्षिणाम् ॥ विरलसुरतस्वेदोद्वारां वधूवदनेन्दुँवः

प्रसेरित मैधो रार्ट्यां जातो नै कस्य गुणोद्यः ॥ ३३॥

सं ० टी ० — वसन्तर्तां कामवर्द्धकसर्वपदार्थानां प्रादुर्भावो भवतीति तत्रादौ वसन्तं वर्ण-यति । परिमल्लेति । परिमल्लेन सुगन्धिना भृतः युक्ताः वाताः पवनाः वान्तीतिशेषः । वृक्षाणां शाखाः नवांकुरकोटयः नवांकुरयुक्ता अभवन् । पिकपिक्षणां कोकिल्पिक्षणां प्रियाः मयुरिवरतो-४२ त्कण्ठा वाचः उच्चेरःकंठितमञ्जूरवाचः अभवन् । विर्छः स्त्रस्यः सुरते सम्भोगे यः सेर्त्तासेहः प्राकट्यं येपु । तथाभूता वचूनां वदनान्येवेन्दवश्वन्द्रा अभवन् । एवं मधी वसन्ते प्रसरित प्रहर्ण सति अभवत् । तस्य मधीः राज्यां कस्य पदार्थस्य गुणोदयः न जातः।हरिणीवृत्तिमिदम् ॥३३॥

भा॰ टी॰--सुगिधयुक्त पत्रन चलरहाहै, वृशोंकी जाखाओं नये थीं निकलरहेहैं, कोकिल आदि पक्षियोंकी उत्कण्टाभरी वाणी अल्वन्त मधुर गर्ह होतीहै, और ख्रियोंके मुखचन्द्र रितथमसे निकलेहए प्रस्वेदोंके कणोंसे शोधि होरहेहें, ऐसी वसन्तऋतुकी रात्रिमें किस पदार्थके गुणोंका उदये नहीं होताहै॥३॥

छप्य—चलैं सुगंधित पवन फूल चहुंदिशमें फूले। पि बोलत मीठे वचन कामशर उरमें शूले। मुकुलित मंजिर आ करे उत्कण्ठा भारी। रतिश्रमस्वेदित वदन चन्द्रसम अद्भुतनारी को जग अस जडजीव जाहि नहिं काम सतावे। अस वसन्ति रैन महामन मोद वढावे॥ ३३॥

मेंधुरयं मैंधुरेरिप कोिकलाकर्लक्छैर्मलयस्य र्च वार्युमि विरहिणेः प्रणिहेन्ति ईारीरिणो विपैदि हन्ते सुँधारि विषाँयते ॥ ३४ ॥

सं टी -- विपिद सुधापि विपायते इति विरिह्दिष्टान्तेनाह । मधुरिति । अयं मधुवित श्रारीरिणोऽपि विरिह्णो मधुरिरिप कोकिलानां कलकलेः शब्दैः, तथा मल्यस्य वार्षी प्राणिहन्ति मारयति । नन् कोकिलाकलकला मधुराः, तथा मल्यवायुरिप प्रिसक्तरः, एभिर्मरणं घटते इत्यतआह । विपिद आपत्काले सुधा अमृतमिप विपायते विपिमवाचरित । हन्त इति हं द्वतिलिमितं वृत्तिविदम् ॥ २४ ॥

भा॰ टी॰--यह वसन्तऋतु कोकिलोंके मधुर २ शब्दोंसे और मल्यी चढके वायुसे विरहीपुरुपीका वध करताहै, इससे यह सिद्धहोताहै कि विपिति कालमें अमृतभी विप होजाताहै ॥ ३४॥

दोहा--ऋनु वसन्त कोकिछ कुहुक त्योंही पवन अनूप। विरहिवपतिके परतही सुधा होय विपरूप॥ ३४॥ त्रिकं किर्क किंचिंदेवं द्यितापिथें विलासालैसः हैंगें कोकिलकाकलीकलस्वैः स्मेरोंं लतामण्डैपः ॥ गोष्टीं निकेविभिः सैमं कतिपेयैः सेव्याः सितांशोः कर्राः केषांचि-सुखयन्तिं नेत्रहैंद्ये चैत्रें विचित्रीः क्षपाः ॥ ३५॥

सं ० टी ०——आवास इति । आवासः यसतिः किछ इति श्रृयते किंग्विदेव स्वराकाणमात्रमधि दियतायाः प्रियायाः पार्धे सभीपे विलासेन अलसः प्रियो भवति । कर्णे कोकिलानां काकली वृद्धमध्वनिः तथा कलस्वः गर्म्भारो स्वः शब्दः प्रियो भवति । लतामण्टपथ स्मेरः प्रमृष्टिनो भवति । कतिपयैः सक्कविभिः गोष्टी प्रिया भवति । सितांशोध्यन्द्रस्य कराः किरणाः नेत्र्याः भवन्ति । एवे पदार्थाः केपांचित्रेत्रहृदये सुखयन्ति । ये प्रवासिनस्तेषां दुःख्यस्पा भवन्ति । एवे चित्रमासादी क्षपाः निशाः विचित्रा भवन्ति । शार्द्वलिशितं वृत्तिमदम् ॥ २५ ॥

भा शिश्वास भागसे शिथिलहोके स्रीकेषास रहना, कानसे कोकिन् हके शब्दोंकी कलकलाहट सुनना, लताओंके मण्डपोंका, प्रफृष्टिन होना, अन्तरं किवलनोंके संग गोष्टी करना, और चन्द्रमाके किरणोका सेवन करना, इतनी सुसकी सामग्रियोंसे उपयुक्त चैत्रमासकी विचित्रसत्रि किसी किसी सुग्रनीयन्ष्यके हृदय और नेवोंको आमोदित करतीहै ॥ ३५ ॥

दोहा—कोकिल खफ्ली लता चैत चांद्रनी रेन।
प्रियासहित निजमहलमें सुद्धती करत सुचैन ॥३५॥
पान्थस्त्रीविरहानलाहुतिकैथामातन्वेती नज्जरी मार्कन्देषु पिकांर्गनाभिरधुना सोत्कण्ठसालोक्थते॥ अप्येते ।
नवपाटलापरिमलीः प्राग्मारपाटकेरी वांति झांतिवितानतानवकृतैःश्रीख॰ड३ीलानिलाः॥ ३६॥

सं० टी ०—-पान्वेति । अन्यत् १६ दसन्ते भवति । अधुना मामन्देषु आमहेरणु पान्यस्य पियसस्य स्त्री तस्या विस्त एवानिलोऽतिश्वितिमकातृतिर्धवन तस्याः साम तमात्तवानी विम्हणमान् आसमञ्ज्ञी पियतहुनाभिः ज्ञानण्यातह रोजपार्थ प्रयापालका नाणिकाने । आयस अस्तिपान पान्यस्य सेतः पर्वतास्य प्रितासम्बद्धिनोऽनिधाः मास्याः यान्ति । कारंत्रताः नगाधाःचै पान्याच राम्यः

पंरिमलानां सुगन्धीनां प्राग्भारपाटचराः उत्कर्षस्य चोराः । पुनश्च हान्तेः हृपस्य वितानां ि स्तस्य तानवं तनुत्वं कुर्वन्तीति तथाभृताः ! एतादृशे वसन्ते कस्योत्कण्ठा नमवेत् । शार्ट्लिशे वृत्तिमिदम् ॥ ३६ ॥

भा० टी०—इस वसन्तऋतुंम पथिकोंके विरहिणीस्त्रियोंके िस आहुति देनेवाली आमकी मंजरीको कोकिला वही अभिलापाप्ते के और नविनपाटलके पुष्पोंकी सुगन्धिको चुरानेवाले और खेदको वक्ष मलयाचलके वायु गमन करतेहैं॥ ३६॥

छप्यय—विरहीजन मनताप करन वन अंवा मौरे। रि पश्चम टेर हेर विहरी किये वौरे। भौरं रहे मननाय पुहुय पां लके महकत। प्रफुलित मये पलास दसोंदिस दौसी दहका मिलिगिरिवासी पवनह कामआग्ने प्रज्वल करत । विन क वसन्त असन्त ज्यों घेर रह्यों यह नहि टरत॥ ३६॥

सहकारकुसुमकेसरिनकरभरामोदमूर्च्छितदिगैन्ते ॥ मधुरमधुविधुरमधुँपे मधौ भँवेत्कर्सं नोर्त्कठाँ ॥ ३७।

सं ॰ टी ॰ — सहकारित । सहकारस्याम इक्षस्य " आम्र चूतो रसाछोऽसो सहकारि सीरमः" इत्यमरः ॥ कुसुमानां केसराणि तेषां निकरः समुदायस्तस्य भरस्तस्यामोदो गर्वरे मृश्चिताः व्याताः दिशामन्ता दिगन्ताः यस्मिन् । पुनः कथभूते मधुरं मधु पुष्परसस्तास्मिन् विस्तासन्ता मयुपा म्रमरा यस्मिन् । प्तादशे मधी वसन्ते कस्य पुरुपस्य मनित उत्कण्ठा न मेरे आर्या इतिनद्म ॥ ३७ ॥

भा० टी०—जिसमें आपके वारोंकी केसरकी सुगन्धिसे दिशाएं व्या द्देगर्दीहें, आर मधुरमकरन्दका पानकर भ्रमर उन्मत्त होरहेंदें, ऐसे ऋतुराज वर्ण किसके मनमें उत्कंटा नहीं होती ॥ ३७॥

सोरटा—फूले चहुंदिारी आम भई सुगन्धित ठौर सव। मधु मधुपी अलियाम मनभये झूमत फिरें॥ ३७।

अथ ग्रीष्मवर्णनम् ।

अच्छाच्छचन्द्रनरसार्द्रकरा मृगाक्ष्यो धाराग्रहौणि कुसु-माँनि चं कोर्मुंदी चँ॥ मन्दो मरुत्सुमनसंः शुचिं हर्म्यपृष्टं श्रीर्षेसे भेंदं चें भेंद्रनं चें विवेर्द्धयन्ति॥ ३८॥

सं० टी०—-ग्रीष्मे ये पदार्था मदनं वर्द्धयान्ते तेऽयुना श्लोकत्रयेण वर्ण्यन्ते । अच्छाच्छेति। अच्छाछः विमलतमो यश्चन्दनरसस्तेनाद्रीःकरा यासां ताः मृगाक्यो मृगनयनाः व्वियः, तथाच धारागृहाणि जलयंत्रगृहाणि, कुसुमानि, कौमुदी चन्द्रकला च, मन्दः सुखस्पर्शो मरुद्वायुः, सुमनसो मालतीलताः, हर्म्पपृष्ठं ग्रुचि शुश्रं। एते पदार्था ग्रीष्मे मदं च मदनं च विवर्द्धयान्ते। वसन्ततिलकावृत्तामिदम् ॥ ३८॥

भा० टी०--अति स्वच्छ चन्दन जिनके हाथोमें लगरहाँहें ऐसी स्त्रियां, तथा फुहारेयुक्त घर, सुगन्धित पुष्प, विकसित चांदनी, मन्द मन्द पवन, और महलकी स्वच्छछत ये सव ग्रीष्मऋतुमें मद और मदनको वढातेहैं. ॥ ३८॥

छप्य्य—मृगनैनीके हाथ अरगजा चन्द्रन लावत । छुटत फुहारे देख पुष्पशैया विरमावत । चारु चांद्रनी चन्द्र मन्द्र मारुतको ऐवो । वाजत वीन प्रवीण संग गायनको गैवो । चान्द्रनी ऊजरे महलकी निरखत चितगाति हित दरत । पुरुपनकों प्रीपम विषममें ए मद्र मद्रनाहि विस्तरत ॥ ३८॥

स्रेजो ह्यामोद्रां व्यजनपैवनश्चन्द्रिकरणोंः परागेः कार्सारो मलयजरजें सीधे विशद्म् ॥ शैंचिः सोधोत्सेङ्गः प्रतेनु वसैनं पङ्कर्जेंद्रशो निदीधे तूंणे तत्सुर्वमुपलभन्ते पुर्कृतिनः॥ ३९॥

सं ॰ टी ॰ — स्त्रज इति । स्त्रजः । पुष्पमालाः हृयो मनोहारी आमोदः परिमले यासां ताः । व्यजनस्य ताल्वृन्तस्य पवनो वायुः । चन्द्रस्य किरणाः । परागः पुष्परजः । कासारः तिवरं । मल्यजं चन्दनं तस्य रजः । सीधु मधं विरादं । शुचिरञ्चलः सीधो राजसदनं तस्येत्सद्दः । उँपारिभागः । प्रतनु कोमलं सूद्मं वसनम् । पङ्कजदशः कमलनयनाः स्त्रियः । एतेपां पदाः ग्रीष्मे सुखं तूर्णे शीव्रं सुकृतिनो लभन्ते । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ १९ ॥

भा० टी०—मनोहर सुगन्धियुक्त माला, पंखाका वायु, चन्द्रमाकी ज न्दनी, पुष्पोंका पराग, सरोवर, चन्दनकी रज, उत्तम मद्य, बंडेमहलकी उत्तम सब् छत, महीनवस्त्र, और कमलनयनी सुन्दर स्त्री इत्यादि उत्तमोत्तम पदार्थीं से पुष्प वान् पुरुष ग्रीष्मऋतुमें सुख उठाते हैं ॥ ३९ ॥

दोहा-पुष्पमाल पंखापवन चन्दन चन्द सुनारि।

वैठ चान्दनी जललहर जेठमहिन पटधारि॥ ३९॥

सुधोशुम्नं धामें स्फुरद्धमळैरिश्मः शर्थेधरः प्रियावक्षी म्मोजं मलयजर्जश्वीतिसुराभे ॥ स्रेजो हद्यामोदास्तिदिः मिलिलैं रींगिणि जैने कॅरोत्यन्तैः स्रोभं नैं तुं विषयसंस गीविमुंखे ॥ ४० ॥

सं॰ टी॰--मुधेति । सुधया शुश्रं धाम गृहं । स्फुरन्तः अमला रदमयः किरणाः ययः दादाधरश्चन्द्रः । प्रियायाः वक्त्राम्भोजं मुखक्रमलं । अतिमुर्गभ सुगन्धि मलयजं रजः । हां माल्यानि ह्यः मनोहरः आमादो गन्धे यासां ताः । तदिदमिखलं सर्व रागिणि जने एतेपु पदार्वे विपयेपु रागो यस्य तिसन् जने अन्तःक्षोभं करोति । नतु विपयस्य संसर्गस्तस्मात् विमुखे जे होनं करोति । दिाखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ४० ॥

भा० टी०--चूनेसे पुताहुआ उज्ज्वल गृह, निर्मल चान्दनीयुक्त चन्द्रम प्पारीका मुखकमल, सुगन्धित चन्दन, अत्यन्त सुगन्धिपुष्पीकी माला, ये ह बम्तु अनुरागीपुरुपीके हृदयमें अत्यन्त खेदकरतेहैं, परन्तु जो विषयके संग्री विदुख है उनके हदयमें क्षीभ नहींकरते॥ ४०॥

दोहा—हाशिवदनी अरु शरदशिश चन्दन पुष्पसुगन्ध । य रसिकनेक चित हरत सन्तनके चितवन्ध ॥ ४०॥ इति ग्रीप्मऋतुवर्णनम्

अध वर्पावर्णनम्।

तर्रुणीं वेपाँ दीपितकीमा विकसितजातीपुण्यसुगौन्धः॥ उन्नतपीनपयोधरभौरा प्राटट् कुरुते कर्स्य नै हर्षम् ॥४१॥

सं टी ०—तमणी इति । एपा प्रावट् तरुणीय कस्य पुरुपत्य हर्षे न कुरुते अपि तु नवेंपामपि पुरुते। कयंभूता प्रावट् तरुणीच । दीपितः उदीपितः कामो यया पक्षे यस्यांच, विकासिता महाहिता जातिभीष्टतीष्टता यस्यां, पद्धे केशादौ धारणत्येन विकासिता जातयो जातिपुष्पाणि सस्यामतएय पुण्यो गनीतः सुगन्धो यस्यां, पद्धे अङ्गादिसीगन्ध्यं, तरुणीपक्षेऽपि तथैव बोष्यम् । भूनःकथंभूता। उन्नता उचाः पीनाः पुष्टाः धरन्तीति धराः पचायच् । पयसां धराः पयोधराः मेघा-क्तिणं भर एव भारः अतिशयो यस्यां तथाभूता। पद्धे उन्नती पीनौ पुष्टी यौ पयोधरौ स्तनौ तयोः स्मारी यस्यां इति। उपिचत्रावृत्तिमदम् ॥ ४१ ॥

भा० टी०—तरुणीके वेपवाली, कामदेवका उदयकरनेवाली, खिलेहुए जितीपुर्णोकी सुगन्यिको धारणकरनेवाली, और उन्नत पुष्ट पयोधरोंके भारसे युक्त यह वर्षाऋतु किसके हृदयमें हुई नहीं उत्पन्नकरतीहै। यहांपर श्लोब है। जितने विशेषण पावर्के हैं वेही सब तरुणीमेंभी घटेंगे, और उन सबके भिन्न अर्थ होंगे। यथा जाती जुही लता और जावित्रीको तथा पयोधर मेघ और स्तनसे कहतेहैं॥४१

दोहा--पीनपयोधरकों धरत प्रगट धरत हैं काम। पावस और प्यारी निरख हर्षित होत तमाम ॥४१॥

पावस और प्यारा निरख होषत होत तमाम ॥४१॥ वियंदुपचितमेधं भूमँयः कन्दैलिन्यो नवकुटजकद्रम्वामो-दिनो गन्धवार्हाः ॥ शिखिकुलकलकेकारावरम्यां वनान्ताः सुखिनमसुखिनं वी सैर्वमुत्कण्ठयीन्ति ॥ ४२॥

सं० टी०—वियदिति । वियद्गानमुपिचता मेघा यस्मिन् तत् उपिचतमेघं । फन्दला जाता यासु ताः कन्दिल्यो भूमयः। नवा नृतनाः कुटजाः कदम्बाधः तेपामामोदो गन्धो येपु तथाः भूता गन्धवाहा वायवः । शिखि कुलस्य मयूर्कुलस्य कलाः अञ्यक्तमधुराः केकारवाः वाणशिन्दाः स्तै रम्याः वनान्ताः वनप्रदेशाः । एते प्रावृपि वर्षाकाले सुखिनमसुखिनं वा सर्वमुत्कण्ठयन्ति मदना- विभीवेन लक्कण्ठितं कुर्वन्ति । मालिनीवृत्ताभिदम् ॥ ४२ ॥

भा ॰ टी॰--भेघोंसे आच्छा दित आकाश, नवीन २ अंकुरोंसे पूर्ण पृथ्वी, नवीन कुटज और कदम्वके पुष्पोंसे सुगन्धित वायु, क्षीर मपूरोंके झुण्डोंकी सुन्दर वाणीसे रमणीय वनके मान्त, ये सब पदार्थ वर्षाऋतुमें सुखी और क्षे दोनों प्रकारके पुरुपोंको उत्कण्डित करतेहैं ॥ ४२ ॥

दोहा--नभवादर अवनी हरित कुटज कदम्ब सुगंध। मोर शोर रमणीक वन सवकौ सुखसम्बन्ध॥१२१ उपरि घैनं घनपैटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्तितमैयूराः॥

वसुधा कंदलधर्वला तुंष्टिं पथिकैः के यात् संत्रस्तः॥४३

सं० टी०—-उपरीति । कश्चन पथिको मार्ग गच्छति । यस्योपिर घनं निविडं भर्मियानां पटछं, तिर्थगागमनप्रदेशे निर्तिताः मयूराः येपुते गिरयः । वसुधा भूमिः कर्दे वाङ्कुरैर्धवछा । एवंसित पथिको विरहेण संत्रस्तः सन्तापितः क तुर्धि सन्तोपं यातु प्राहेर् आर्यावृत्तमिदम् ॥ ४२ ॥

भा े टी ॰ -- ऊपर घनघोर घटा छारहीहै, दाहिने वाऐं पर्वतींपर की नाचरहें हैं, और नीचे भूमि नवीन अकुरोंसे हरीभरी होरहीहै, ऐसेसमयमें जी चारों ओरही कामोदिपन करनेवाले पदार्थ विद्यमान हैं तो विरहसे व्यक्ति पिथकको कसे संतोप आवे॥ ४३॥

दोहा—घटा चढी सिर मोर गिरी हरितभई सब भूमि। विरही हम डारे कहां देखरह्यो जिय घूमि॥ ४३॥ ईतो विद्युद्वञ्चीविळसितमितः केतिकतँरोः रफुरद्रन्धः प्री द्यज्ञछदिननद्रफूर्जिताँमितः॥ इतः केकिकीडाक्ठकछर्य

भाव टीव-एकओर विद्युत्हरका विलास, इसरीओर फेतरीं एकोंके उत्हर सुगत्वि, और एकओर मेघकी गरीना, और इसरी^औ मोरीका होर, ये मन नहीं एकन है ऐसे यह रसभरे दिन विरहिणीक्षियों कें स्वर्क करेरी ॥ ४४ । कोहा—इसकत दामिन सेघ इत केतिकपुष्पीवकास।
सोर तोर निशिदिन करत विरहीजनमनत्रास॥ ४४॥
असूचीलं लेले तंसिस नमौसे प्रीढजलद्ध्विनप्राये तास्मैन्
सर्तित हर्षदां नीरनिचँये ॥इँदं सोदामिन्यीः कनककमैनीयं
विकेसितं मुंदं चैंस्टीनिं चें प्रधैयति पैथिष्वेवें सुहशाम् ४५

सं ० टी ० — असूचीति । असूचीतंसारे नास्ति स्च्याः संसारः संसरणं यस्मिन् तस्मिन्
तमित अधकारे एवंभृते नमित श्रावणे "नभः सं श्रावणो नभाः " इसमरः । कथंभूते श्रावणे
मासे प्रीडाधिते जलदाध तेषां ध्वनिप्राये दृषदां पापाणानां नीरेणसह निचये समृहे पति ।
एवभिदं सीदाभिन्या विश्वती विलिसतं स्कुरणं कनकं सुवणे तद्वत् कमनीयं सुन्दरं । शोभना
्द्यं यासां तासां खीणां माभेष्येव प्रिथेवव मुदं हर्षं च विरिहेणां म्लानि म्लानतां च प्रधयित
प्रमादीकरोति । शिल्हिरणीइत्तमिदम् ॥ ४९ ॥

भा० टी०—जिसमें कोई पदार्थ नहीं दीखसक्ता ऐसे गाढअंधकारयुक्त श्रावणमासमें यहे वह मेघोंकी गर्जना और पत्थरसहित जलदृष्टि तथा सुवर्ण के समान सुन्दर विजलीका वारम्वार चमकना स्त्रियोंको मार्गमेंही सुख और हु:ख दोनों करतेहैं॥ ४५॥

दोहा—महा अंधतम नभ जलद दामिनी दमक दुरात।
हरप शोक दोऊ करत तियकों पियिं जात ॥१५॥
आसारेण न हैं मर्यतः प्रियेतमेयींतुं वाहः शक्यते शातोकम्पिनिमिक्तमायतहशीं गींढं समािं गेंदेते॥ जातीः शीतलशीकैराश्चे मर्देतो वांद्य-तखेदि चिंदो धन्याँनां वते दुंदिनं सुदिनैतां यौति प्रियींसंगमे॥ ४६॥

सं ० टी०—आतारेणेति । मेघच्छने दुर्दिने दिनोदये जातेऽपि प्रियतमेः पितिभिः निदारसेन स्वासारेण पर्जन्यधारया यदा विहर्दिग्येतो गृहात् यातुं गन्तुं न शक्यते । तदा शीतो-त्कम्पिनिमत्तमायतदशा विस्तीर्णनेत्रया स्त्रिया गाडमस्यन्तं आर्डिग्यते । अय च मस्तो वायवः शीतछाः शीक्तराः अम्बुकरणाः येपुते खेदं छिन्दिन्तिते खेदिन्छिदो जाता वान्ति । एवं धन्यानां

पुण्यवतां प्रियासंङ्गमे र्रातिविछासे कुर्विति सित दुर्दिनमपि सुदिनतां याति सुखकरं भवति । क्रें हर्पे । शार्दूछविक्रीडितं वृत्तिमिदम् ॥ ४६ ॥

भा० टी०—वर्षाकी झडीमें दिन निकलआनेपरभी पुरुष गृहसे वार नहींनिकलसकतेहैं, और वडा जाडा लगताहै, देह कांपतीहै, इसीसे किं उनको गाढ आलिङ्गन करतीहैं, तथा शीतलजलके कणेंसें पूर्ण मेधुनके अने श्रम हरनेवाला वायु वहताहै। अहो ऐसे पुण्यवान्पुरुपोंके बुरेदिनभी प्रियां संगमें अच्छे दिन होजातेहैं॥ ४६॥

छप्पय—महामाहमें शीत इते पर जलधर वरसत। महल वाहर पाँव परत नहीं अतिही थरसत। कम्प होत जव गात तविह प्यारी संग सोवत। उठत अनंग तरंग अंगमें अंग समी वत। रतिखेदस्वेद छेदन करत जालरंध्र आवत पवन। इर भाँति वितावत दुर्दिवस ते सुकृती सुखके भवन॥ ४६॥

इति वर्षाऋतुवर्णनम्।

अथ शरद्वर्णनम् ।

अँदि नीत्वाँ निज्ञायाःसरभससुरतायासिखन्न थ्यांगंः प्रोहृतासह्यतृष्णो मधुमद्निरंतो हर्म्यपृष्ठे विविक्ते॥ मंभोगङ्घान्तकान्ताशिष्ठभुजलतावर्जितं कैर्करीतो न्योत्साभिन्नाच्छैयारं पिर्वति में सिलेंहं शांरेदं मंदर्भीग्यः॥ १७॥

स्ट हैं। इन्हें विश्व विश्व विश्व महामा सुरंत भेषूने आयामा सामित्र कि है। इन्हें विश्व के स्टाइ के प्रश्न के प्रश्न के स्टाइ के

च्याः देश--वेशः कार्वापुरः शिलावे अत्य अर्द्धसाविष्टपेत मेणुन

करनेसे शिथिल होगयेहैं, जिसको तृष्णा अत्यन्तसे लगरहीहै, और जो मद्रमें मत्त होरहाहै, यदि उससमय संभोगके श्रमसे वह एकान्त महलकी छतपर थकी हुई स्त्रीकी भुजाओंद्वारा दिये हुए चान्दनीकेसमान स्वच्छ शीतलजलको झारीसे नहीं पीताहै वह पुरुष अवश्य मन्द्रभाग्य है. ॥ ४७॥

छुप्पय—छंके सदनकी छाक मुदित सदराके छाके। करत सुरत रन रंग जंग कर कछु इक थाके। पौढरहे लपटाय अंग अंगनमें उरझे। बहुत लगी जब प्यास तबहि चित चाहत सुरझे। उठ पियत रात आधी गयें सीतल जल या शरदको। नर पुण्य-वन्त फल लेत हैं निज सुकृताहि की फरदको॥ ४७॥

अथ हेयन्तवर्णनम्।

हेर्मन्ते द्धिदुग्धसिंपर्शेना साञ्जिष्टवासीभॄंतः कार्मीरद्रवसान्द्रदिग्धवपुंषः खिन्ना विचिंत्रे रतेः॥ पीनोरःस्थलकामिनीजनकृतारलेषा गृहाभ्येन्तरे तांवूलीदलपूगपूरितमुखां धन्याः सुंखं शरते ॥ ४८॥

सं० टी०—हेमन्त इति । हेमन्ते फातौ केचित् पुग्याः दिध च हुम्यं च सर्थिः मृतं च एतानि असनं येपां ते । माजिष्टं मिक्रिष्ठप्रया रंजितं वासो वस्त्रं विभाति ते । मामिर सुनुमित्सरं तस्य द्वो रसस्तेन सान्द्रं निविष्ठं दिग्धमुपिलसमेवंभूतं चपुर्थेपां सिविचित्रेः रतः निद्याः रेखं प्राप्ताः । पीनं मांसलं उरास्थलं यस्य एवंभृतो कामिनीजनस्तेन कृताः आरलेपा चारिह्नानि वेपां ताम्मृलीदलैः पूगैः पुरितानि मुखानि येपां ते । एवंभृता भन्याः गृहाभ्यन्तरे गृहमाये सुध्वं रेसेने निद्रां कुर्वन्ति । शार्टुलविकालितंत्रसमिदम् ॥ ४८ ॥

भा० टी॰—हेमन्तऋतुमें जो दहीं हुम्य और घीका भोजन करतेहें—मजी ठके रंगेहुए बख पहरतेहें, केशर और कस्त्रीका सघन हेप अपने मब हारीरमें करतेहें, पुष्टस्तनवाळी स्त्री जिनका आलिइन करती हैं, और जो पान और सुपा-रियोंसे अपने सुसको शोभित करतेहें, और सुस्तपूर्वक अपने मृहमें हायन करते-हें बेही धन्य हैं ॥ ४८॥

सोरठा--वही पृथ पृतपान, बलन सजीठहि रंगके। आलिद्गन रितदान, फेशर चर्चि हिमन्तनें॥ ४८॥

अथ शिशिरः

चुम्बॅन्तो गंडभित्तीरलकवाति मुंखे सीत्कतान वर्षा वक्षेःसूत्कंचुकेषुं स्तनभरपुलकोद्धेदीमापादयन्तिः॥ प्रेले पयंतिः पृथुजघनतटीत्स्रंसयंतोऽशुकीनि व्यक्तं ंताजेन विटचरितकृर्तैः शैशिशे वैति वातौः॥ ४९॥

सं० टी०--चम्बन्त इति । शिशिरे कामिनो भोगकाले यथा कुर्बन्ति तथा पाने कुर्वन्ति शेपः । अलकावि केशवित मुखे गण्डिभत्तीः प्रति प्रवला वायवः मुखे केशान् का नयन्ति तेनेव मिपेण चुम्बन्ति । पुनः कथं भृता सीत्कृतािन आद्धानाः, शीताितशयेन हों सीत्कृतािन कुर्वन्ति तान्येव वायुभिः कृतािन । उत्कंचुकेषु वक्षःसु स्तनभरे पुलकोद्धेदमापर्यक जन्दनाकम्पयन्तः । पृथुजधनतटात् अंशुकािन बह्मािण स्त्रंसयन्तः निष्कासयन्तः । एवं वर्षे जनानां विटचरितकृतः विटाः भाण्डास्तेषां चरितिमिव कुर्वन्ति ते शेशिराः शिशिरे भवाः वाताः विद्वित । स्वय्वरावृत्तिमिदम् ॥ ४९ ॥

भा० टी०--कामी पुरुष भोगकालमें जो आचरण करतेहैं वही तिहि ऋतुका पवनभी करताहै, । कियोंके केशयुक्त क्षणेलोंका चुम्यन कर्णे द्योनकेकारण सीत्कारसन्द कराताहै, कंचुकीरहित स्तनोंको रोगांचित कर्णे चंचाओंको फंपाताह, और पुष्टजवनोंसे बह्मको उहाताहै, इसप्रकार कर पुरुषकेसमान आचरणबाला शिशिरऋतुका प्रयन बहरहाँहै ॥ ४९ ॥

छप्पय—सुम्बन करत कपोल मुखहि सीत्कार करावत। हें माहि धम जात कुचनपर रोम बरावत। जंबनको थहरात क नह दुरकात झुक। लग्यों रहत संगमांहि छारकों रोक ६ दुक। यह शिशिरपबन बिटकपधर गलिन २ भटकत फिरत मिलाहे नारि ना घरनमें याकी भट भेरन फिरत॥ ४९॥

केशांनाकवेचन्हेंशे। मुकुँळयन्यांसे। बंळादाक्षिपंताने न्युटकेर्द्रमं प्रकटयंत्राछिग्ये। कम्पच्छेनः॥ वारंबीरमुक

ित्कृतिंकृतो दन्तर्च्छदान्पीडेंयन्त्रीयः शैक्षिरं ऐष संप्रीति। हित्कांतासुं कांतींयते॥ ५०॥

सं॰ टे(०—केशानिति। अथ शैशिरो मरुत् संप्रति इदानीं कान्तामु छीपु प्रायो बाहुत्येन जन्तामते कान्त इव आचरित । तःकथम् । केशनाक्षण्यम् । दशो दर्धाः मुकुण्यम् । वासो छं वलादाक्षिपन् निष्कासयम् । पुण्याः रोमाञ्चारतेपामुहममातन्यन् विस्तारयन् । आर्थ्ययाः रेमं प्रकटयन् । वास्यारसुदाराणि बहूनि सीत्कतानि कारयन् । दन्तन्त्रदान् ओष्टान् पीटयन् । एवं । यः कान्त एव भवति। ऋतुवर्णनमिति कामिनां विषयिणां मनोरथास्त्रथा इति भावः । कथं । तेषां विषयीन वास्यान् । स्वत्रयानि चिति कारणाहुक्तानि । अथुना पक्षद्वयनिम्द्रपणम् ॥ स्वय्यादित्तम् ॥ ५०॥

भा० टी०—वालोंको विखरता, आंखोंको किश्चित् २ मृंदता, मार्टाको लिपूर्वेक उडाताहुआ, देहको रोमाञ्चितकरताहुआ, धीरे धीरे आलिहून करके हम्पन मगटकरताहुआ, और वारम्यार सीसी घट्ट कराकर साष्ट्रीको पीडित करका-हुआ ये शिशिरऋतुका पवन मायः स्त्रियोंकेविषय पतिकासा आचरण करतारे॥५०॥

छप्पय—विलुलित करत सुकेश नयनहं छिन २ मृंदत। वसनन ऐंचे लेत देह रोमाश्चन रूंदत। करत हृदयकों कम्य कहत मुखहूसो सीसी। पीडा करतिह ओठ वयारह सार नि-रीसी। यह सीतकालमें जानिये अञ्जूत गतधारत पवन। निशि घोस दुरे दुवके रहो निजनारीसंग निजभवन॥ ५०॥

असाराः संन्त्वेते विरित्विरसायासविषयो जुगुप्त-न्तांयेद्वा नर्नुं सकलदोषार्श्यदमिति ॥तर्थाप्यन्तरतेत्व प्रणिहित्वियोंभे प्यतिर्वेलस्तेद्वियोऽनारुवेये स्पूरित हैंद्ये को "ऽपि" महिमी ॥ ५९॥

सं० टी०—समास इति । यह यसगढ़ भारणाढ़ । या दीन विस्ती केन्द्र इति वितर्भे । इदं सभागदेशवायद् ही समुग्नातं निन्दा सुर्वतः । इते विद्वितिकारः विस्ती भेगाये विस्ताः विगते स्तायेश्यः इत्युक्ति विष्याः स्ताय विकासः स्ताप् । कर्मात सी प्रवितिविधेशं वर्षाकृतकृतिमागपि सद्धानात्ताः वित्राः स्वत् । विद्विति स्थिति स्थान्यः स्वाप् साम्मसार्थयः पश्के स्व स्थान इत्युक्तः स्ट्रिके इद्योगकार्यद् । विद्विति स्थान्ति हर्षे । भा० टी०--यह सब भोगविषय असार और वैराग्यमें विरसकति हैं। यदि इन विषयोंको सम्पूर्णदोपोंका घर समझकर कोई मनुष्य इनकी विश्व तौभी इनका महिमा अत्यन्त बलवान है, वर्णन नहीं होसक्ता, क्योंकि विचारमें लीन तत्त्ववेत्ताओंके हृदयमेंभी ये प्रकाशित होतेहैं ॥ ५१॥

छप्य्य--जद्रि भोग निस्सार विरितमें विष्ठ करें कि सबदोषनकी खान जीवकी साधें अनिहत। करें निलज । हीन ज्ञानकूं धोय वहावें । सर्वसदेहि नसाय वुरी जां कहावें। तदिष सकैको वरण भोगकी महिमा भारी। रहें अलीन करें तिनहू कीरवारी॥ ५१॥

भवन्तो वेदान्तप्रणिहितिधयौमात्तगुरैवो ेद्रार्थः वैयमिप कवीनाँमनुचर्गः॥ तथांप्येतद्ध्मो नहि ्हिली थैपमेधिकं नै चौरिमोर्न्स्सारे कुवलर्थह्यो रम्येमपरेम्॥

सं टी०—भवन्त इति । भवन्तो यूयं वेदान्ते प्रकर्पण निहिता वुद्धिर्यस्तेपारि गुरवश्च । वयं तु विदग्धाः आलापाः शब्दा येपां तथाभूतानां कवीनामनुचराः सेवकास्तर्याः परितात् पुण्यमिकः । एतद्भमे चास्मिन् संसारे कुवलयदृशः अपरं रम्यं नास्तीति जारं रिखिरिणीवृत्तमिदम् ॥ ५२ ॥

भा० टी०—तुम वेदान्तवेत्ताओं के मान्य गुरु हो, और हमभी काव्यरचिता कवियों के दास हैं, तथापि में यह जानताहूं कि इस संसार्म कि पक्तर करनेसे अधिक पुण्य और कुछ नहीं है और कमलनयनी स्त्रियोंसे कि सुन्दर दूसरी कोई वस्तु नहीं है।। ५२॥

छप्पय—पढे वेदवेदान्त भये विद्योद्धिपारा। तिनहके कुर बुद्धवर पाय अपारा ॥ हम कछु जानत नाहि पढे १ विद्या भारी । रहे कविनके दास कहें ये वात विचारी। जनके दो बात लगीं सबसे अधिकाई । परहित साधन एक दूसरी निकाई ॥ ५३॥

िमहं वहुँभिरुँक्तेर्युक्तिर्शून्येः प्रलापे**ईयंमिहं पुरुर्वाणां** ोदा सेवनीयंस् ॥ अभिनवमद्कीलालालंसं सुन्द्रीणां नभरपरिखिनैनं योविनं वी वैनं वी ॥ ५३ ॥

सं ० टी०--पुरगेर्द्धं सर्वदा सेवनीयभिष्याह । किमिति । इह लोके बहुभिरुक्तेर्वचनैः गयोजनम्। कथंभूतः । युक्तिशून्येः प्रलापेरथीवरहितः । तर्हि मयोच्यते तच्छुयताम् । इह ्णां पुरुषेर्द्रयं सर्वदा सेवनीयम् । किमभिनवाः नूतनाः अपूर्वाः मदस्य छीलास्ताभिः लालसं गरेण परिखितं सुन्दरीणां योवनं सेवनीयमथत्रा वनं सेवनीयम् ॥ मालिनीवृत्तमिदम् ॥५३॥

भा॰ टी॰-इस संसारमें युक्तिशून्य व्या मलापोंसे; क्या प्रयोजन है, तो पुरुपोंको दोही वस्तु सर्वदा सेवनेयोग्य हैं, नवीनमदकी कीलाभिकापी ांके भारसे खेदयुक्त सुन्द्रीस्त्रियोंका यौवन अथवा वन ॥ ५३ ॥

दोहा--सुनी औरहू वातेषे मुख्य वात ये दोय। के तिय जोवनमें रमें के वनवासी होय॥ ५३॥

सित्यं जना वैचिम न पक्षयाँता हो केषु सर्वेषु च तथ्य-

सेतत् ॥ नीन्धेनमनोहीरि नितम्विनीर्भयो दुःखेकहे-

तुर्न च किश्चद्रन्यः ॥ ५४॥

सं० टी०--मो जनाः । अहं सत्यं विम वदामि न पक्षपातात् सर्वेषु । लोकेषु एतत्त-धार्थ । तत् कि नितंबिनीभ्यः स्त्रीभ्यो मनोहारि मनःस्तुष्टिकरमन्यत् द्वितीयं नास्ति । विष-परमार्थिनां तु स्त्रीभ्यो दुःखैकहेतुः दुखस्य कारणं अन्यनास्ति । इन्द्रवन्नावृत्तमिदम् ॥५४॥ र भा॰ टी॰—हे मनुष्यो ! यह हम सत्य कहतेहैं इसमें कुछभी पक्षपात् करते कि इस संसारमें स्त्रियोंसे वढकर न कोई मनको इरनेवाली वस्तु है ्रन कोई दुःखदाई वस्तु है ॥ ५४ ॥

द्दोहा--तीन लोक तिहुं कालमें महा मनोहर नार। दुखहूकी दाता यही देखों सोच विचार ॥ ५४॥ अथ दुर्विरक्तप्रशंसा ।

देवं कृतिनामंपि रफुँरत्येषं निर्मलविवेकदी्पँकः॥ याव-_ल नै कुरंगचर्कुषां ताड्येते चपळळोचनीं बळेः ॥ ५५ ॥

सं दी - ताबदिति । कृतिमां विवेकिनां अन्तःकरणे एप निर्मेटः कामादिकरो विवेकदीपकस्ताबदेव स्फुरित यावत् कुरङ्गस्येव चक्ष्मं यासां तासां स्त्रीणां चपटानि हो नेत्राणि तान्येवाञ्चलास्तैर्न ताड्यते । स्त्रीणां कटाक्षाः विवेकिनामिप विवेकं ध्वंस्पिति भावः । रथोद्धतावृत्तमिदम् ॥ ९९ ॥

भा• टी०--विवेकियोंके हृदयमें यह विवेकरूपी निर्मेल दीपक तक प्रकाशित रहताहै, जब तिकिक मृगनयनीस्त्रियोंके चञ्चलनेत्ररूपी नहीं बुझायाजाता॥ ५५॥

देशि --दीपक वरत विवेकको तौलें या चितमांहि। जौलें तार कटाक्षपट पवनसु परसत नांहि॥ प

वर्चंसि भ्वति संगत्यागमुहिश्य वाँती श्री सुर्हिः हैं केवंतं पण्डितानाम् ॥ जधैनमरुणरत्नयि कर्जिक क्रिकं पण्डितानाम् ॥ जधैनमरुणरत्नयि कर्जिक क्रिकं क्रिकं ।। ५६॥

सं टी०—स्त्रींसंगं त्युक्तं न कोऽपि समर्थ इत्याह । वचसीति । श्रुतिमुखरमुखः वक्तॄणां पण्डितानां संगत्यागमुद्दिस्य वचस्येव केवलं वार्ता भवित नतु त्यागं कुर्वित । कुर्व

भा० टी०--पण्डितोंकी स्त्रियोंके संग त्यागनेकी बात केवल पात्रही हैं, नहींती लालरत्नजाटित कटिमेखला पहिनेभई स्त्रियोंके जिल्हा त्यागनेमें कीन समर्थ है।। ५६॥

कुण्डिलिया—पंडितजन जब कहत हैं तिय तिजैवेकी हैं करत ष्ट्रथा बक वादबह तजी नेक निहें जात। तजी नेक जात गात छिव कनकबरन बर। कमलपत्रसम नेन बैन बे अमृतमर। सोहत मुख मृदु हास अंग आभृषण मण्डित। तियकों तजे कोनसों है वह पण्डित॥ ५६॥ स्वप्रतंत्रारकोऽसीं। निन्दीति यो ऽतीकपण्डितो युवैती

यम्भौत्तर्पसोऽपि फैंहं स्वैर्गस्ते स्वापि फेंहं तथीं प्सरेंसः॥

सं टी ० — स्वपरेति । अलीकपिडता यो युवतीः निन्दति असौ स्वस्यापि परस्यापि तारकः प्रतारणमात्रं अलीकं वृथा करोति । किमिति यस्मात् कारणात्तपसे।ऽपि फलं स्वर्गस्तस्यापि रूकमप्सरसः ।। पथ्यावृत्तमिदम् ॥ ९७ ॥

भा० टी०-जो मनुष्य श्चियोंकी निन्दा करताहै वह झूंठा पण्डित है, आपतो ठगाही गया औरोंकोभी ठगाताहै, क्योंकि तपस्याका फल स्वर्ग और वर्गपाप्तिका फल अप्सराओंका भोग है।। ५७।।

दोहा—नारिनकी निन्दा करत ते पण्डित मितहीन । स्वर्ग गये तिनकों सुने सदां अप्सरा लीन ॥ ५७ ॥ मित्तेमकुम्भदेलने मुँवि सँन्ति शूरोः केचिर्तप्रचण्डमृगरांज अधेऽपि दर्शाः॥ किं तुं ब्रॅवीमि वलिनीं पुरेतेः प्रसंहैं। कन्द पेदपेदेंलने विरेँला मनुष्यीः॥ ५८॥

सं० टी०—कन्दर्पदर्पदलेन समर्थाः मनुष्याः विरलाः सन्ति इत्याह । मत्तेति । मत्ते विदानमत्तो यो इभः हस्ती तस्य कुम्मो गण्डस्थलं तस्य दलने विदारणे भूवि शूराः सन्ति । केचित् प्रचण्डोऽत्यन्तक्रोधनो यो मृगराजः सिंहस्तस्य वधेऽपि हननेऽपि दक्षाः कुशलाः । किन्तु अहं बिलनां शूराणां पुरतोऽप्रे प्रसद्य हठात् व्रवीमि कन्दर्पः कामस्तस्य' यो दर्पो गर्वस्तस्य दलने वेदारणे शूराः मनुष्याः विरलाः सन्ति । वसन्तितिलकावृत्तामिदम् ॥ ९८ ॥

भा० टी०—मस्तहाथीके मस्तकको विदारनेवाले शूर इस प्रथ्वीपर अनेक हैं, और प्रचण्डसिंहके मारनेवाले दक्ष योद्धाभी कितनेही हैं, परन्तु में बलवानोंके आगे हटपूर्वक कहताहूं कि कामदेवके मदका नाश करनेवालातों कोई विरलाही मनुष्य होताहै।। ५८।।

छप्पय—हाथी मारन हार होत ऐसेह सूरे । मृगपितं वध करसके वकें निह नेकह पूरे। वडे २ वलवन्त वीर सब तिनके आगे। महावली ये काम जाहि देखत सब भागे। अभिमान भरे या मदनकों मान भार मेटें अविध। नर धरमधुरंधर वीर वे विरले या संसारमिध ॥ ५८॥ सन्मार्गे तावंदोंस्ते प्रभवति पुरुषस्तांवदेवे निद्रयाणां है। ताविहर्धेते विनर्धेमिपि समार्कम्वते तीवदेवे ॥ भूचा केंटमुक्ताः श्रवणपथर्गेता नीलपक्षेगेण ऐते यौवळीलां नां ने हिंदे धृतिभुपो हिष्टिबीणाः पैतन्ति ॥ ५९ ॥

तावन्मर्हत्त्वं पाण्डित्यं कुळीनैत्वं विवेकिनी ॥ यौवज्वर्ठाति नौंङ्गेपुँ हंते पञ्चेपुपार्वकः ॥ ६१ ॥

सं॰ टी॰—ताबदिति । यावत् मनुष्यस्यांद्वपु । द्वयः । द्वयः । वस्य स प्रदेष्टुः । स्टनः स पायकोऽप्रिने ज्वलति । ताबदेव महत्त्वं प्रयावं, पाण्डियं बृद्धिमत्या, सुर्छानावं, सदाचाराः, दिवे-ता च तिष्ठति । अनुसुबृक्तमिदम् ॥ ६१ ॥

भा० टी०—चडाई, तुद्धिमानी, विवेक और कुर्छानत्त्र ये यसुष्यमें नर्भाः र स्थिर रहते हें, जबनककि उसके शरीरमें कामाधि नहीं प्रधीय होता ॥ ६६ ॥

दोहा—-बुद्धि विवेक कुळीनता तोळोंही यन मांहि । कामवाणकी अग्नि नन उयोंळों सनकर नांहि ॥६४॥

स्त्रिज्ञोऽपि प्रथितविनैयोऽप्यात्मयोघोऽपि वाँहं संयोग् स्पैन् भवैति विरैत्यो भाजिनं सहतीनाम् ॥ विनेतिसन् स्यनगरीद्वारमुद्धाटर्थन्ती वार्याक्षीणां भैवति कुटिन्टक् त्तिकुँखिकेवै ॥ ६२ ॥

सं ० टी०—शासेति । शाम्यतः प्रतिर्धानयम् बाह्यस्यवकायने । इस्ते क्रास्तेतः । प्रसे क्रास्तेतः । प्रसे क्रास्तेतः । प्रसे क्रास्तेतः । व्यक्ति क्रास्तेतः । व्यक्ति । प्रसे क्रास्तेतः । व्यक्ति । व्

भा ॰ टी॰— प्रास्त्रों। जाननेबाले । वस्ति हिस्साल व्यंत्र अहपान्ती। बहुत होतेहें, प्रस्तु जनमेंसे कोई विस्ताहि हम संस्थाने एउसाहित्या भी होताहै। पारण वह है कि वहां इसाहनेबादाली, किनेहाँ, वेर्ड काळळ कानगरबंद्वारको प्रातीहर्द कुंकीने समान स्वाहर्तहर्ता । इस

. **छप्रय—स**प भंधनके हानदान अथ नीतिहान तर । दिन्हें । **डा एश होत सुकासारवर्षे** नार्दर । सबकें। हेन वहाद जंब र**नी यह नारी**। जाकी पांकी मेहिनचन अदिशि सनिदार्गः । यह कूंची करमकपाटकी खोलनकों ऊकत फिरत। जिनके न लगत मन हगनमें ते भवसागरकों तरत॥ ६२॥

कृर्राः कौणः खंजैः श्रवणैरहितः पुच्छविकंठो व्रणी पूर् क्रिक्नैः कृमिकुलर्शतैरावृत्तेतनुः ॥ क्षुधिक्षामो 'जीणीः पिठ रककपालापितगैलैः श्रुँनीमैन्वेति श्रौँ हत्तिर्मपि निह्नैतेषै मर्दैनः ॥ ६३ ॥

सं टी - - हरा इति । क्रशः क्षीणः, काणः एकनेत्ररहितः, खञ्जः पादेन हीतः श्रवणरहितः कर्णहीनः, पुच्छेन विकलो रहितः, वर्णी सर्वाङ्गे व्रणा यस्य, पूर्येन हिन्नः ितः, क्ष्मीणां कुळं बाहुल्यं तस्य शतेरावृता तनुः यस्य सः, क्षुयया क्षामः क्षीणः, जीणः हरः पिठरकस्य मृण्मयवटस्य कपाळं कण्ठः सोऽपितो गळे येन एतादृशः श्वा शुनीमनुपृष्टत एति। अतो मदनः हतमपि चादो शरीरावस्थया मृतप्रायं निहन्ति मारयित । विवेको नास्तीत्रर्थः। शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ६३॥

भा॰ टी॰—जो दुवला, काना, लंगडा, कनकटा, और दुमकटा की जिसके शरीरमें याव होरहें हैं, जिनमें से राध वह रही है, और सहस्रों की है किल विला रहें हैं, तथा जो भूखसे पीडित हैं, और हांडीका मुख जिसके गलें में अर्ड रहा है, ऐसा कुत्ताभी कुत्तीके पीछे दांडता है। वड़े खेदकी वात है कि यह कामरें मरेहु ऑकोभी मारता है। ६३॥

छप्ठ्य—दुवरों कानों हीन श्रवणविन पृंछ नवांये। वूढों विकल शरीर वारविन छार लगायें । झरत सीसतें राध रुधिर कृषि डारत डोलत । श्रुधाक्षीण अति दीन गले घट कण्टक लोलते। यह दशाश्वान पाई तक कृतियनसे उरझत गिरत। देखों अनीति या मदनकी मृतकनकों मारतिकरत ॥ ६३॥

स्तिर्मुद्रां झपकेतर्नस्य जननीं सर्वार्थसम्पत्केशें ये मृहाः प्रविहाय याति कुँधियो मिथ्याफलान्वेषिणें।। ते "ते "निविति

हर्त्यं निर्द्यंतरं नशिकृता मुण्डिताः केचित्पंबिशाखीकृतार्थं निर्देशः कापालिकौंश्वीपरे ॥ ६४॥

सं० टी०—क्रीति । राहो मुद्रया सर्व कार्य भवति । क्रता हार्यक्रतमस्य मदमस्य क्री मृद्रा भवति । अनया सर्व भवति । अतस्तां स्त्रीमृद्रां विहाय त्यक्त्या ये मृद्राः शृतियः शृत्तित्वृद्धयः निर्मानि भिष्याफलानि स्वर्गादिकानि अप्रसक्षाणि तानि अन्वेपवित तन्ह्यां भवित च ते मृद्राः । कृष्यंभूतां स्त्रीमृद्रां । मदनस्य जननीमृत्यादिवत्रीं सर्वार्थानां सन्पादनं वारोतीति तथाभृतां । यस्या-श्रीना मुद्रा तस्य सर्वाः सम्पद्रो भवन्ति । यो मुद्राया उद्ध्वनं कारोति तथ्य राजा दण्डकरो भवति गारपति च । अते। मदनेन ते मृद्रारतेनैव कर्मणा निर्वयतरं यथाम्यात्तथा निर्मय नर्माकृतः मृण्डताक्ष । केषित् प्रवादिकाः । केषित् जटा येपामस्त्रीति जटिन्छः । केषिद्वर्गः कापादिकाः पात्रं करे भूत्वा मिक्षाटनं कारिताः । राजायनयकारिणभयभव दण्डवर्तान्वर्धः । राज्यतिकारितः इत्तमिदम् ॥ ६४ ॥

भा॰ टी॰—यह स्त्रियां सम्पूर्ण अधायो देनवाटी वामदेवकी मुद्रा हैं, जो मृद्र सुबुद्धि मनुष्य इनको त्यागकर स्वर्गादिककी इच्छास दिस्का होताती उनको विरक्त मत समझो किन्तु उनको पामदेवने वटी निद्यंताकेमाथ दृष्यदि-पाई, अर्थात् किसीको नंगा किया, किसीका सिर मुंद्याया, विभीक पांच चोटी रखवाई, किसीको जटाधारी विया, और किसीको गायमें टीकटा देवर मेरिक भंगवाई ॥ ६४ ॥

कुण्डलिया—कामिनि मुद्रा कामकी सकलअर्थकों देत।
मूरख याकों तजत हैं झूंठे पालके हेत। झूंठे पालके हत पत्ति।
तिनहींकों डांडे। गहि गहि मूंडे मूंड यसनविन कर र लांडे।
भगवा करि करि वेप जटिल व्हे जागत जामिनि। भीख मांगके
खात कहत हम छोडी कामिनि॥ ६४॥

विश्वामित्रपराशरत्रभृतैयो वाताम्बुपर्णाशनोस्ते ऽपि सीमु-खपंकंजं सुटेंटितं टेंट्वैर्व सोहं गर्तोः ॥ शाल्पेतं सद्वंतं पयोदधिर्युतं सुर्वेजन्ति ये मानैवास्तेषीमिद्वियनियहो यदि" भवे दिध्यस्तिरेत्सागैरं ॥ ६५ ॥ सं टी०—इन्दियनिप्रहोऽतिकाठिन इति विद्यामित्रादिष्टणन्तेन वर्णयिति । इतं वायुं च अम्बु उदकं च शुष्कपणीनि च अश्वनित भक्षयन्ति ते वाताम्बुपणीदानाः । एवं विस्वामित्रपराशरप्रभृतयः तेऽपि सुङ्खितं अतिसुन्दरं स्त्रीमुखपङ्गाचं दृष्ट्रेय दर्शनमात्रेणेय हेतं गताः प्राप्ताः । किमुत यतः शाल्यनं तंडुङोदनं तद्पि सवृतं पुनः पयोद्धियुतं ये मतः मनुष्या भुञ्जन्ति तेपामिन्द्रियनिप्रहः कथं भेवत् । अत्र दृष्टान्तः । यदि विद्यादिः सागरं तेर् तदाऽपूर्वीऽयमिन्द्रियनिप्रहः स्यात् । शार्दूङविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ६९ ॥

भा० टी०—जब विश्वामित्र पराशर इत्यादि वडे २ ऋपिभी जो गृह जल और पत्ते खाकर रहतेथे, खीके मुखकमलको देखतेही मोहितहोगये, हैं फिर जो मनुष्य घी दूध दहींसहित उत्तम अन्न खातेहें उनकी इन्द्रियां के वश होसक्तीहें, यदि उनकी इन्द्रियें वशमें होजांय तो विध्याचल पर्वत समुद्र पर तरनेलगे, इन्द्रियोंका वशमें करना वडा कटिन कार्य है यह भावार्थ है ॥६५॥

छप्य—कौशिकादि मुनि भये वातपयपर्णाहारी । ते तिय मुखकमल देख सव वुद्ध विसारी । दिध घृत ओदन दूध मधुर पकवान मलाई। नितप्रति सेवन करें रहें सुखमोद वढाई। ते निहं वस करसकें मनिह नर भोगी ऐसें। जल ऊपर परवात कठिन तरिवो है जैसें॥ ६५॥

इति दुविरक्तप्रशंसा समाप्ता।

संसीरेऽस्मिन्नसीरे कुन्पतिभुवनहारसेवावलम्बव्यासंगव्यः रेतिधेर्यं कैथममलैधियो मानसिं संविद्ध्यः॥ येद्येतौः प्रोन् दिंदुद्युतिनिचयभृतो न स्युरम्भोजनेत्रौः प्रेखत्कांचीः कलापाः स्तनभरविनमन्मध्यभागीस्तरुण्यः॥ ६६॥

सं० टी०—संसार इति। प्रकर्षणोद्यदिन्दोर्जुतीनां तेजसां निचयं समुदायं विश्वति ताः। प्रेंखन् शब्दायमानः कार्जीकळापो यासां ताः। स्तनानां भरेण विनमन् विनम्नः मध्यभागो यासां ताः। प्रंमृता एता अम्भोजनेत्राः कमळनयनाः तरुण्य क्षियोः यदि न स्युः न आसन्। तर्हि अमळा धीर्पेपां तथाभृता मानवा अस्मिन् असारे संसारे कुनुपतयः कुत्सिताः नृपतयस्तेपां भवनद्वाराणां सेबावटम्बने व्यासंगस्तेन व्यस्तं नष्टप्रायं श्रेयं यस्य तत् एवंभृतं मानसं मनः कथं विद्युः कुर्युः।

एतस्य भावः यदि क्रियो न कासन् तदा चुहिमन्तः सेवां न कुर्युः । स्त्रीनिर्मित्तं राजसेवां कुर्म इति क्यासद्वेतः मनश्रव्यकमधेर्य भवतीति । स्वय्यराष्ट्रत्तमिदम् ॥ ६६ ॥

भा० टी०—हित चन्द्रमाकीसी कान्ति धारणकरनेवाली, शब्दायमान फिटमेखलाधारिणी, बार स्तनोंके भारसे जिनकी कमर झुकगईहै ऐसी कमलनयनी युवती स्त्री यदि न होतीं तो इस असार संसारमें निर्मलबुद्धिवाले मनुष्य दुष्टराजाओंके हारोंकी सेवामें नानाप्रकारके कलंकोंसे चित्तको अधीर क्यों करते। अधीत् यदि यह स्त्रियां न होती तो पण्डितजन राजहारकी सेवा कभी न करते यह भावार्थ है॥ ६६॥

छप्यय—तो असार संसार जान सन्तोष न तजते। भीर भारके भरे भृपकों भूल न भजते। वुद्धिविवेक निधान मान अपने निह देते। हुकम विरानौ राख दुःखसम्पट् निहं लेते। जो यह निहं होती शशिमुखी मृगनैनी के हरिकटी। छिव जटी छट निकसी छटी रस लपटी छूटी लटी॥ ६६॥

सिद्धाध्यासितकन्द्रे हरवृषस्कन्धावगार्द्धमे गङ्गाधौतिशि-लात्रे हिमवर्तः स्थानि स्थिते श्रेयिसा। कैं कुवीर्त शिरैं प्रणा-मैमलिनं म्लीनं मनस्वीर्जनो यीद्वित्रस्तकुरंगशावनयनौ ने स्युः स्मराँखं स्रियैः ॥ ६७॥

सं टी - सिद्धोत । यदि स्मराखं ख्रियो नस्यः नासन् तदा हिमवतो हिमालयस्य स्थाने स्थित्वा कामेन कः मनस्वीजनः शिरः प्रणाममिलनं म्छानं कुर्वित । कथंभूता ख्रियः । वित्रस्ता भयचिकता ये कुरङ्गशावास्तेषां नयनानीव नयनानि यासां ताः । कथंभूते हिमवतःस्थाने । सिद्धेरच्यासिता अधिष्टिताः कन्द्ररा यस्य तस्मिन् । हरवृषो नन्दी तेन स्कन्धेन अवगाढा अव-रुद्धा हुमा यस्मिन् । पुनः गंगाधौतानि शिलातलानि यस्मिन् । श्रेयसि पुण्यरूपे । अयं भावः । प्रशस्तं शुद्धं मनो यस्य स मनस्वीजनः यस्य मनः शुद्धं तस्य तत्साधने अनपेक्षा । यदा मिलनं गनस्तदा मनसः शुद्ध्यर्थं साधनान्तराणि कर्तव्यानि । सम्प्रति मनो मिलनं स्वीभिरेव क्रियते । अतः ख्रीणां प्रभावा एव यदि उत्पन्ता नस्युस्तदा मनोऽपि मिलनं नैव भवेत् । तदा मनस्वीजनो हिमवतः स्थाने गत्वा शिरः प्रणामेन मिलनं अतएव म्लानं किमर्थं कारिष्यति । मिलनतायाः कारणं ख्री एव । ख्री मदनस्य अस्त यस्याङ्गं संगच्छितं स मिल्छेतो भवति । शार्दू लिक्नोडितं वृत्तिभदम् ॥ ६७ ॥

भा० टी०--यदि भयगून्य, मृगनयनी, कामके अल्रुक्ष्प, यह सियां होतीं तो कौन मनस्वी पुरुष सिद्धगण जिसकी कन्दरामें बैटेहें, इत्वर्ण वृषभ जहां वृक्षोंसे कथा रगडताहै, और जहांके पापाण गंगाजलसे योवेजाः ऐसे पुण्यधाम हिमालयपर्वतको त्यागकर औरोंके सन्मुख मस्तक झुका कर मानको मलिनकरता ॥ ६७॥

कुण्डालिया—अभय हरिणशावकनयन कामवाणसमनार। बे घरमें होती नहीं तो सहजिहं होती पार । सहजिहं होती पार गिरिगुहा सिद्धवन । जहां तरुनसों अंग खुजात फिरें हरवाहन। स्वच्छ फटिक हिमरोल नीच जहां वहें गंगपय । निशिक्ष हरि घर ध्यान चित्तकूं राखिह निर्भय ॥ ६७ ॥

संसौर तंव निस्तारंपंदवी ने दवीयंसी ॥

अन्तरा दुस्तरा नँ स्क्विंदि रें मिद्रिक्षणाः ॥ ६८॥

सं ॰ टी॰ — संसारेति । रे इति नीचसम्बोधने ! रे संसार ! यदि अन्तरा लम्बे मदिरंक्षणाः स्त्रियो दुस्तरा नस्युस्तदा तव निस्तारपदवी स्थितिः न दवीयसी अतिदीधी नेवी अनुष्टुबवृत्तमिदम् ॥ १८॥

भा॰ टी॰-रे संसार ! यदि सुन्दरनेत्रवाली दुस्तरा स्त्रियां तेरे वीवा न होती तौ तुझसे पार हौना कुछ कठीन नहिया ॥ ६८ ॥

सोरठा--जो नहि होती नार तौ तरिवौ जगमें सुगम। यह लांबी तरवार मार लेत अधवीचही ॥ ६८॥

इति स्वीपरिस्यागप्रकरणम् ी

राजनतृष्णांवुरौरोर्नाहि जगैति गर्तः केंश्चिदेवांवसानं के वींथों "ऽर्थेः " प्रभूतिः स्वंवपुषि भीछिते योवने सानुंशगः॥ गच्छीमः सद्ये तीविद्विकसितनयनेदीवरालोकनीनां यौंक बैंकिंम्य रूपं झेंटिति नै जरयाँ लुप्यते प्रेयसीनीं ॥६९॥

सं० शि०—-राजनिति । भो राजन्! इह जगित संसोर कश्चिद्रिय तृष्णाम्नु राशेस्तृष्णा -समुद्रस्यावसने पारं निह गतः । स्ववपुपि स्वशरीरे सानुरागे अतिप्रिये योवने गिटते सित प्रभूतै: पुष्कलैरथैं: द्रव्ये: कोवार्थः प्रयोजनम् । तावत् विकासितानि नयनान्येव इन्दीवराणि कमलानि तैरालोकितुं द्रष्टुं शीलं यासां तासां प्रेयसीनां प्रियाणां सद्यगृहं प्रति गच्छामः । यावत् जरया वृद्धाः वस्थया तासां रूपं सौंदर्यमाकस्य झिटिति शीवं न लुप्यते । स्वय्रावृत्तमिदम् ॥ ६९ ॥

भा० टी॰—हेराजन्! इस तृष्णारूषी तमुद्रके पार कोई नहींगया, और जब हमारी अनुरागभरी युवावस्था देहमेंही नष्टहोगई तब अधिकद्रव्योपार्जन करनेसे हमको क्या प्रयोजन है। इम उससे पहिलेही प्रफुक्तिकमलसमान नेत्रींवाली स्त्रियोंके घर जातेहैं, जबतकि दृद्धावस्था उनके रूपको जल्दीसे न विगाडे ॥६९॥

कुण्डिलिया—राजन् ! तृष्णािलन्धुके पार न कोई जाय। कहा अर्थसंचय किये कालसर्प वय खाय। कालसर्प वय खाय नेह अरु प्रेम नसावै। कहाहोय घर गये तवे कछु हाथ न आवे॥ तासों तवलों वेग भाग चिलये घरहारै। कमलनयन तियरूप जरा जवलों न विगारे॥ ६९॥

रागिस्यागौरमेकं नरकज्ञतमहादुःखसंप्राप्तिहेर्तुमीहर्स्योत्प-तिंवीजं जलधरपर्टलं ज्ञानताराधिपर्य ॥ कन्दैर्परयेकं-मित्रं प्रकटितविविधरपष्टदोषप्रवर्नधं लोके ऽस्मिं-निह्यनैर्थ निजकुलेदहनं योर्वनादन्यदस्ति ॥ ७० ॥

सं॰ टी॰—याँवनं हि सर्वानर्थानां मूळ्भित्याह् । अस्मिन् टोके योवनात्तारूण्यात् हि-गीयमनर्थमनर्थकरं नास्ति । कथंभृतं योवनं । रागस्य इन्हाया एकमागारं सृहं । नरकाण्य हातानि तेषु महादुःखानि तेषां सम्प्राप्तिरतस्या हेतुः कारणं । मोहस्योत्पत्तिरतस्या बीजम् । हान् इक्षणस्य ताराधिपस्य चन्द्रस्य जळधरपटळं मेधपटळमान्छाद्यस्य । कन्द्रपे गदनस्तस्य एकं मेत्रं । प्रकटिताः विधिधा नानाप्रकाराः स्पष्टा दोषारतेषां प्रवन्धो रचना येन । निजं स्वकीयं हुळं तस्य दहनं दाह्यम् । एवं योवनं निचलिति भावः ॥ स्वध्याह्यसिदम् ॥ ७०॥

भा० टी०—अनुरागका एक मात्र गृह, रेकटो नरकोंके हु:ख माप्रहोने-हा हेतु. मोहकी उत्पत्तिका यीज, हानस्परी पन्द्रमाके हकनेको सेघस्पप, कामदेवका एक मात्र त्रियमित्र, नानापकारके दोषोंको प्रकटकरेनवाला, और अपने कुलको स्थकरनेवाला जो गोवन है इससे बटकर संसारमें योई दूसरा अनर्प नहीं है ॥७०० छप्य—इन्द्रिनको हित धास कासको सित्र सहावर। नरकः दुःखको हेतु मोहको वीज सनोहर। ज्ञानसुधाकर सीसं सजल साँवनको वादर। नानाविधि वकवाद करनकों वडौ वहादुर। सबिह अघको है मूल यह योवन अक्ततिहको कवच। याविना औरको करसके सुन्दर सुखपर स्यासकच॥ ७०॥ ग्रांगारद्वसंनीरदे प्रचुरतः कीडारसस्रोतं सि प्रद्युम्नप्रियवान्धं व चतुरतामुक्ताफलोद्वंवित ॥ तन्वीनेत्रचकोरपारणंविधं सोभाग्यलक्ष्मीनिधो धन्धः को ऽपि ने विक्रियां केलयित प्रांति नेवे योवेने॥ ७९॥

सं० टी०—यांत्रनं प्राप्य ये। विकारं न त्रजित स एव धन्य इलाह । हुङ्गोरित । नी नृतने यांत्रने तारांच प्राप्त सित ये। विकायां विकारं न कलयित न करोति स धन्यः । कथंगूते यांत्रने । हूंगारा एव हुमा तृक्षास्त्रयां नीरं ददातीति नीरदो मेचस्तिसिन् । यथा जलप्राप्ती वृक्षाः हो।भन्ते । प्रचुरतो बाहुद्येन जीडानां रसस्तेषां स्रोतिसि । प्रमुणे गदनस्तन्य विवचन्त्रवे बन्धे । चतुरतालक्षणानि मुक्ताप्तलानि तेषामृद्द्यति समुद्रे । तन्त्री सुन्द्रभे तस्या नेत्रे तै। एव चक्षोने तथाः पारण तस्य विची चन्द्रे । सीभाग्यलक्ष्मीनिधा स्थापनामात्रे । हार्तृष्ठविची दिनं वृत्तिदम् ॥ १९ ॥

भाव देवि—जूहारजवीद्वतीया कीचनवाला मेघ, विस्तरित कीदारसका प्रवाह, कार्यदेववा विश्ववस्थ, चतुरतार्रावीतियीका समुद्र, स्त्रियीके नेत्रस्थी चक्रीरको पूर्वचन्द्र, और सीक्षारवलक्षीका अवदार, जो सह सवधीवन है साक्री पारस को पुराप विकासको नहीं भाषतीयाँच देश थन्सी ॥ ७१ ॥

ह्यस्य — यह द्रोवन घनराय सदां सींचत श्रांगारतर। कीडाः रह्यां मीत चतुरवारक देव कर। नारीनयनचकोर चांपको चन्द विराहत। कुलुनाहुको वन्धु सिन्धु शोभाको श्राजत। देकी यह दीवन पायको है नहि धरन विकार मन। ते भरम ध्रांथर दीरकाणि श्राधितेकीय एनजान॥ ७१॥

ा इति योजन-यंसामकरणम् ॥

अथ कामिनीगईणप्रशंसा ॥

कान्तेत्युत्पर्कठोचनेति विपुर्लंश्रोणिभरेत्युत्मुर्कः पीनोत्तुंगर्पयोधरेति सुमुखिस्मोजेति सुर्भूरिति ॥ दृष्ट्वां मार्यात मोद्तेऽभिरमेते प्रस्तोति जानन्तिप प्रत्यक्षाश्चिप्तिका स्त्रियमहो मोहस्य दुंश्येष्टितं ॥ ७२ ॥

सं ० टी ० — विद्वानिष स्त्रियं दृष्ट्या मोहं प्राप्तोतीत्याह । पुरुपः स्त्रियं प्रत्यक्षमशुचीनां पुत्तिकां जाननिष उत्सुकों विमर्यादो भवति, मोदते च हर्षं प्राप्तोति, अत्यतिशयेन रमते रमणं करोति चेति रतीति । इतीनि कथं । तस्या अभिधानं गृह्णित सा कान्ता सुन्दरी उत्पठलोचना कमल्लोचना । विपुलो विस्तृतः श्रोणीभरः कटिप्रदेशो वस्याः सा तथाभूता । पीनौ मांसलो उत्तुक्षी कच्यों पयोधरा स्तनौ वस्याः सा । सुष्टु मुखाम्भोजं यस्याः सा । शोभनौ भ्रुवौ यस्याः सा । एवमभिधानीन गृहीत्वा स्तौति माद्यति च । अहो इति आश्चर्यमिदं । मोहस्य -दृश्चेष्टितं दृन्यीपारोऽस्ति । शार्दृलविक्रीडितं वृत्तिमदम् ॥ ९२ ॥

भा० टी॰—विद्वान्यजुष्यभी प्रतक्षिक्षी अपवित्रताकी पुतलीक्षी स्त्रीको देख उत्कण्ठित होकर "यह द्वी कैसी सुन्दर है, यह कमलनयनी है, इसके नितम्ब बहुत वहें हैं, इसके स्तन वहे स्यूल और दह हैं, इस्का मुसक्मल वहुत सुन्दर, इसकी भैंद अच्छी हैं "ऐसा कहकर मोहित होजाताहै, हर्पको माप्त होताहै, रमण करताहै, और उनकी स्तुति करताहै। देखो ! यह मोहकी कैसी दुरी चेष्टा है॥ ७२॥

कुण्डिटिया—कान्ता उत्पळ लोचना प्रिया कृशोदिर वाल । यटस्तनी पंकजमुखी कामिनि अधर प्रवाल । कामिनि अधर प्रवाल सुस्रु किह किहके वोलें । आनंद अधिक उछाह मत्तवन पण्डित डोलें । अशुचपृतरी नारि ताहि सन जाने शान्ता । महानरककी खान सोहवस सानै कान्ता ॥ ७२ ॥

रमृंता भैवति तापाँय हप्टाँ चोन्सार्वविदेनी॥ स्पृष्टा भैवति कोर्हाच सी नार्ने द्यिती कथेंसे॥७३॥ सं° टी॰—स्मृतेति या स्त्री स्मृता सती तापाय भवति स्मरणमात्रेण तापं करोति। तथाच दृष्टा उन्मादवर्द्धनं करोति तच्छीला एवंविधा भवति दर्शनमात्रेण उन्मादं वर्धयित। तथ स्पृष्टा सती मोहाय भवति स्पर्शमात्रेण मोहमुत्पादयित। सा दिथता प्रिया कथं नामेति सम्भावना। अनुष्टुवृक्चतिदम् ॥ ७३ ॥

भा॰ टी॰—जो स्मरणमात्रसे सन्ताप करतीहै, देखतेही उन्मादको वडार्त है, और स्पर्श करतेही मोह उत्पन्नकरनीहै, ऐसी ख्रीको प्रिया कैसे कह सक्ते हैं॥७३॥

दोहा--सुधि आये सुधि वुधि हरत दरसत करत अचेत। परसत मन मोहित करत यह प्यारी किंहि हेत॥७३॥

तौवदेवामृतमयी योवल्लोचनगोचेरा ॥ चक्षःपंथादपगता विषाद्यंथतिरिच्यंते ॥ ७४॥

सं॰ टी॰-—ताबदिति । यावत् सी छोचनगोचरा नेत्रप्रत्यक्षभूता ताबदेव अमृतम्बी समृतप्रचुरा भवति । चक्षुःपथात् नेत्रमार्गात् अपगता दृरीभृता सती विपादितिरिच्यते अधिकी भवति । अनुष्टुब्वृत्तमिदम् ॥ ७४ ॥

भा॰ टी॰--जवतक स्त्री नेत्रोंकेसन्मुख रहतीहै तभीतक वह अमृत मयी है, नेत्रोंके सामनेते हटनेही वह विषसेभी अधिक होजातीहै।। ७४॥

दोहा—जोंळों निसनयन हिंग तो तो अमृत वेळ ॥

दूरभये ते जहरसम लगत विरहकी सेल ॥ ७४ ॥ नामृतं न विपं किंचिँदेकां मुक्त्वा निताम्बनीम् ॥

ैंसेवामृतर्छता रक्ता विरक्ती विषवर्ह्हरी ॥ ७५ ॥

सं दी देन--सेनि । एकां नियमिक्ती कामिनी गुम्बा त्यस्था किविद्यो अमृतं नामि । इत्ति दिवं सन्ति । कित्रु सेर न्यो स्था अनुगरानी सती अमृत्यसा अमृत्यदी ^{मानी} तदाचे कित्ता अत्तुत्र सीटे विद्युद्धी विवयसा सर्वति । पूर्विकं द्वानिद्धा ॥ ७९ ॥ ...

भा रही - सिंह अतिरिक्त इस ग्रेमार्ग ने कोई अमृत है और न की दिए हैं. कारणीर पीड़ की मीडिट होने की पीड़ी अमृतयता है, और पीट़ मीतिगी नोड़ दें नैंड बड़ी अमृतयहा दिएको येट होजांबीई ॥ ५५ ॥

ट्राहा—सहि दिय नहि अहन कहुं एक निया नृ जान। निछंत्रें अहन नदी विद्रो विषकी स्वान ७५॥ अविर्तः संश्यानामविनयमैवनं पत्तंनं साहसाँनां दोवाणीं सान्निधानं कपटशतर्मयं क्षेत्रंमप्रत्ययानाम् ॥ स्वर्गइारस्ये विद्यो नरकपुरमुँखं सर्वमायाकेरण्डं स्रीयेन्त्रं केनं
सैष्टं विधिममृतर्मयं प्राणिनां मोहर्पीशः॥ ७६॥

सं० टी०—आवर्त इति । लोके यंत्राणि सन्ति तैमीरणोचाटनवशीकरणादिकियाः क्रेयन्ते । अतः स्त्रीयंत्रं केन सृष्टं निर्मितं । कथंभूतं स्त्रीयंत्रं । संशयानामावर्तः श्रमरः गल्भमणवदिवरतसंशयजनकामित्यर्थः । पुनः अविनयभवनं । साहसानां पत्तनं नगरम् । रोपाणां सित्रधानं सर्वे दोपास्तत्सिक्षधाने भवन्ति । कपटशतमयं कपटशतप्रचुरिमस्यर्थः । अप्रस्ययानामविश्वासानां क्षेत्रमृत्पित्तस्यानम् । स्वर्गद्वारस्य विद्योऽन्तरायभूतं । नरकपुरस्य मुखं द्वारम् । अविस्तां मायानामलीकानां करण्डं स्थापनपात्रम् । विपम् । प्रचुरममृतं यस्मिन् तदमृतमयं । पुनः क्ष्यंभूतं प्राणिनां मोहपाशः ॥ पाशवन्मोहेन बन्धकमित्यर्थः। स्वग्धरावृत्तिमदम् ॥ ७६ ॥

भा० टी०—सन्देहोंका भंवर, अविनयका घर, साहसका नगर, होपोंका पात्र, सेंकडोप्रकारके कपटोंसे भराहुआ, अविश्वासकी भूमि, स्वर्गद्वा का विश्वकारक, नरकनगरका द्वार, सम्पूर्णमायाओंका पिटारा, विपरूप, अमृतमय, और मनुष्योंको मोहके फन्देवें फसानेवाला यह स्वीरूप यंत्र किसने निर्माण किया है ॥ १६ ॥

छप्पय—परम भरमको भोंर, भवन है गूढ गरवको। अनु-चित कृतकों सिंधु कोष है दोष अरवको। प्रगट कपटको कोट खेत अप्रतीति करनको। सुरपुरको वटमार नरकपुरद्वार करनको। यह युवतियंत्र कोने रच्यो महा अमृत विषसों भर्यो। थिरचर नर किन्नर सुर असुर सबके गल वंधन कर्यो॥ ७६॥

सत्यत्वे नं राशांक एषं वदनीभूतो नेवेन्दीवरहन्हं लोचन्तां गैतं नें कर्नकेरप्यंगयिष्टिः कृतीं ॥ किन्त्वेवं केंविभिः प्रतारितीमनस्तत्वं विजीनश्चेपि त्वङ्मांसास्थि-मैयं विषुमृगहर्शें। मेंदो जनैं सेवेंते॥ ७७॥ सं० टी०—सत्येति । एपः शशांकश्चन्द्रः सत्यत्वे याथार्थ्येन विचारिते वर्दार् नैव । नच इन्दीवरहन्द्रं नीलोत्पलयुग्मं सत्यत्वेन लोचनतां गतं । कनकः सुवर्णरिष सत्यते । यिनं कृता । किन्तु एवमुक्तप्रकारेण कविभिः लपमा दत्ताऽतः प्रतारितं मनो यस्य तथाभृतेन्त्रे जनस्तत्वं जानन्त्रि मृगहशांत्मङ्मांसास्थिप्रचुरं वपुः शरीरं सेवते । शार्दृलविक्रीडितं वृत्तिमहन् ॥ ॥

भा ॰ टी॰ -- सच पूंछो तौ न चन्द्रमा स्त्रीका मुख है, न कमलही दोहें नेत्र हैं, और न सुवर्णसेही उसका देह बनाहे, परन्तु कवियोंद्वारा वहकाणें अंध अर्थात् विवेकरहित मनुष्य इस वातको जानतेहुएभी कमलन्यही स्त्रियोंके चर्म, अस्थि और मांसमय शरीरका सेवन करतेहैं ॥ ७० ॥

कुण्डलिया—नहिं शशांकसम वदन तिय नील जलजता नेन । अंग कनकसम है नहीं कोकिलसम नहि वेन ॥ कोकि सम नहिं वेन झूंठ किन उपमा दीनि । जानत हैं सब भेद त जपट आंखिन कीनी । हाड चाममय नार मन्दमति निसदिन हैं वहिं । करें उपाय अनेक ग्लानि चित नेकन आनहिं ॥ ७७ ॥

छीळांवतीनां सहजा विळासास्तॅएवं मृहर्स्य हीं स्फुर्रन्ति ॥ रीगो निळन्या हिं निसर्गसिद्धेस्तेत्र अमेलें मुंघा पेंडांब्रि:॥ ७८॥

सं॰ टी॰—हीणां सहजविद्यासान् दृष्ट्या मृद्युरुपा मोहिता भवतीति भवति द्यान्ति । द्यानि । व्यानि । द्यानि । द्

भा व दी — वी वायवी सियों के जो विकास है ने स्थापाधिक है, ने पूर्व महत्यके हराभेदी प्रकाशित होतें हैं अभीत मूर्यदी उनकी देखका गांध होतातें। देखें क्रमीन के क्रवांदे स्थापाधिक हो देशन अभा ज्यापा व्यविध आगते के का प्रवाद अर्थात वह यह ममाताह कि इसकी देश गांव क्रवांद्र है में द्। । -- कामिनी कसकत सहजरें मृरख मानत प्यार । सहज सुगंधित कुमुदिनी भौरा श्रमत गंवार ॥ ७८ ॥

सहज नुगायत कुमुदिना भारा श्रमत गवार॥ ७८॥ यदेतंतपृणेन्दुंचुतिहरमुदारीकृति वैरं मुखाँटजं तंन्वंग्याः केळे यदेति तर्जाधरमेषु॥ ईदं तीवत्पाकद्रुमफेँलिमिवातीवे येरेंसं ट्यंतीतेऽस्मिन्कीलेविपिमिवे भविष्यत्यसुखेँदम्७९॥

सं र ट्रीर — तन्त्रंग्या अमृतमयं मुखाव्जं परिणामे विषामित्र भवतीति प्रक्षफलप्राप्तिनातः। यथिति । यत् यसमात् पारणात् पृर्णेन्दुस्तस्य ज्ञुतिस्तेजस्तां हरतीति उदारा
त्वस्य वाक्तिर्वरंग्य तत् यस् श्रेष्ठं एवं तन्त्वद्गयाः स्वशाद्गया मुखाव्जं मुखकमलम् । तत्र अधसम्भु
देवसीति शिल्प श्रवते । तिर्दि इदं सायत् पाक्षद्गमस्य महाकाल्द्रुमस्य फलं अस्मिन् काल्रे यौवनेऽतीते
अतिज्ञामितं कति अतीय विरसं विद्यमिवासुग्वदं भविष्यति । यथा पाक्षद्रमस्य फलं पक्त्वा काल्रोपविद्यं चेत् रसयत् । नो चेत् तःकाल्यातिज्ञमेण तत्र नस्यति विपामिय भवति तरुण्या मुखमपि
विदयं भवतीत्वर्यः । शिल्परिणीष्टत्तमिदम् ॥ ७९ ॥

भा० टी०—-पृणिमाके चन्द्रकी छावेको हरनेवाला सुन्दर आकारवान् और श्रेष्ठ जो यह स्त्रियोंका मुखकमल है इसमें अधरामृत रहताहै, यह मुख मन्दारके फलकेसहज्ञ अज्ञात वा सुवावस्थामेंही अच्छालगताहै, किन्तु वह बाल व्यक्तिक्होनेपर अर्थात् ज्ञान अथवा वृद्धावस्था प्राप्तहोनेपर विपकेसमान दुःखदाई होजाताहै॥ ७९॥

दोहा--अधर मधुर मधु साहित मुख हुतो सवन सिर मौर। सो अब विगरे फलनसम भयो औरसों और ॥७९॥

उन्मीलित्रवलीतरंगिनलैया प्रोत्तुंगपीनस्तनहैन्हेनोय-तचक्रवाकमिथुना वक्त्राम्बुजोद्घासिनी॥ कान्ताकारधरा नंदीर्यमिनितः कूराश्या ने देवैते संसाराणविमेजनं थैदि तितो दुरेण संत्यर्ज्यताम्॥ ८०॥

सं ॰ टी॰—उन्मीटिदिति।कान्तः नाम नदी छत्वा उभयोः सादश्यं वर्ण्यते। उन्मीटन्सो याम्बिवत्यस्ता एव तरङ्गास्तेषां निट्यं स्थानं यस्यां सा। प्रक्रपेण उत्तुङ्गं उच्चं पीनं मांस्टं स्तनद्वयं कुचद्वयं तेन उद्यतं चक्रवाकि भियुनं यस्यां सा कुचद्वयमेव चक्रवाकि मियुनि मित्यर्थः। कि अम्बुजं कमछं तेने द्विता शोभायमाना। एवं भूता कान्ताकारधरा नदी इत्यमितः कि कुरः आश्योऽभिप्रायो यस्याः सा। नदीपक्षे आहयः आवर्त्तः। हे जनाः। यदि भवतां कि मजनं नेष्यते इच्छा नास्ति तार्हे भवद्विरियं दूरेण सन्त्यज्यताम्। शार्द्वश्विकी डितं वृत्ति मदस्

भा० टी०—शोभित उदरकी त्रिवछीही तरङ्गीका समूह है, उन्हें पुष्ट दोनों स्तनही चक्रवाकके जोड़े हैं, और मुखरूपी कमलसे शोभायमान है। जो यह स्त्रीरूपी नदी है सो चारों औरसे क्रूराशय (नदीपक्षमें कच्छप युक्त और स्त्रीपक्षमें कठिनाशय) है, इसमें यदि मग्न होना नहीं चाहते। दे मनुप्यो ? इसको दूरसेही त्याग दो ॥ ८०॥

छप्यय—त्रिवली तरल तरंग लसत कुच चक्रवाकता प्रफुलित आनन कंज नार यह नदी मनोरम । कि च चाल चलत भवसागर सन्मुख । हाथ धरतही ऐंच जात कों अपनी रुख । संसारिसंधु चाहत तस्यों तो तू यासों दूर जाकों प्रवाह अतिही प्रवल नैक नहातही जात वह ॥ ००

जल्पैन्ति सौर्द्धमन्येनं पर्द्यन्त्यन्यं सविभ्रमाँः॥ इद्ये चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः कोनाम योपिताम्॥८१

सं ॰ टी॰—योपितां व्रियः कोऽपि नास्तीरयाह् । जत्पन्तीति । स्त्रियः अन्येन े साई साकं जल्पन्ति भापणं कुर्वन्ति । सिवन्नमाः विलासादिचेष्टायुक्ताः सत्यः अन्यं प्रत्यं त्या स्टेपेडन्तः अरोपेडन्यं पृष्ट्यं चिन्तयन्ति । तस्मान् योपितां स्त्रीणां व्रियः को नाम । तु योडी नेत्यर्थः ॥ अनुष्टुवृत्र्वनिदम् ॥ ८१ ॥

भाव टी०--स्ती वार्ते किभी पुरुषते करती है, विलाससीहर्त है किभी कीम्डोहि है, और हृदयमें किमी बीरकीही चिन्ता करतीहै। बढ़ों स्थिपोंडा प्यास कीत है ? ॥ ८२ ॥

द्दारा--मनमें कछ वातन कछ नेननमें कछ और।

 . सं ॰ टी॰ — योपितां स्त्रीणां वाचि वाण्यां मनु तिष्टति । हृदि अन्तः करणे केवछं हाछा-इछं विपमेव तिष्टति । अतएव पुरुषेण तासामधरा निपीयते किन्तु हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते वैताछीयं वृत्तमिदम् ॥ ८२॥

भा० टी०—िस्त्रयोंकी वाणीमें मधु होताहै किन्तु हृदयमें केवल हलाइल विष होताहै, इसलिये पुरुष उनके अधरामृतका पानकरतेहैं और हृदयको सृष्टिसे तादनकरतेहैं॥ ८२॥

दोहा--अधरनमें अमृत वसत कुच कठोरता वास। याते इनको लेत रस उनकों मर्दन त्रास॥ ८२॥

अपसर सखें दूराँद्रस्मात्कटाक्षविषानलैत्प्रकृतिविष-माँचोषित्सपीद्विलासफणाञ्चतेः ॥ इतरफीणना दृष्टीः श-स्यौश्चिकिर्त्सितुमोषेधेश्चतुरवनिताभोगियर्स्तं त्यैजन्ति हें मन्त्रिणैः ॥ ८३ ॥

सं० टी०——अपसरेति । हे सखे ! अस्मात् योपित्सर्पात् दूरादपसर गच्छ । कथंभू॥त् । कटाक्षा एव विपानले।ऽग्निर्यस्मिन् तस्मात् । पुनःकथंभूतात् । प्रक्रत्या स्वभावेन विपमात्
ृदिलात् । विलासा एव फणास्ता विभर्ति तस्मात् । किभित्युच्यते । इतरफणिना सर्पेण दष्टा
ग्रेपधैश्विकित्सितुं शक्यन्ते । चतुरविनताभोगिना प्रस्तं मंत्रिणो हि निश्चयेन त्यजन्ति । अतो
रादेवापसर । हरिणीवृत्तमिदम् ॥ ८३ ॥

भा० टी०—हे सखे! कटाक्षकोणानल धारणकरनेवाले, स्वभावसेधी रोपम और विलासरूपीफणाधारी इस खीरूपीसपेसे दूर भागो; क्योंकि अन्य-पोंसे डसाहुआ मनुष्य औपधियोंसे अच्छा होसक्ताहे, परन्तु चतुरखीरूपी सर्पसे सेहुएको मांत्रिकभी त्यागदेतेहें॥ ८३॥

दोहा—मंत्र यंत्र औपधनते तजत सर्पविष लाग।
यह क्यों हूं उतरत नहीं नारिनयनको नाग ॥८३॥
विस्तारितं मकरकेतनधीवरेणं स्त्रीसंज्ञितं विद्यामत्रे
। येनाँचिरात्तद्धरामिष्टीलमर्त्यमत्स्यांन्
वेर्कुंष्य पर्वतीत्यनुरागीवहाँ॥ ८४॥

छप्यय—कान निरन्तर गान तान सुनवोही बाहत लोचन चाहत रूप रैनदिन रहत सराहत । नासा अतर डिन् चहत फूलनकी माला । त्वचा चहत सुखसेज संग कोमल वाला । रसनाहू चाहत रहत नित खाटे मीठे चरपरे। पंचन या परपश्चसों भूपनकों भिक्षुक करे ॥८७॥

नं गर्म्यो मन्त्रौणां र्न चै भवति भेषज्यविषयो नै चीपि प्रध्वंसं त्रैजिति विविधेः शान्तिकेशतेः ॥ २ विशेषिः कि भिपे विदेधद्भव्यमसम् स्मरापरेमारोऽधं भ्रमैयति च घूर्णयति चै ॥ ८८॥

सं० टी०—नेति । अयं स्मरो मदनोऽपस्मारो वर्तते । न स्मारिनवारणार्थमुन ते कर्तत्र्या इति चेत्तर्हि अयं तथा न भवति । अयं कथंभूतः । मंत्राणां न गम्योऽत्र मंत्रेण कर्तु कोऽपि न समर्थ इर्याथः । भैपज्यविपयो न भवति । न च विविधेरनेकप्रकारेः शारि प्राचंसं नाशं व्रजित प्राप्तोति । अथ च भ्रमास्योवशात् अङ्गे किमपि भव्यं कर्तव्यमसमं स्विकियत् करोति दशं दृष्टि भ्रमयति वृर्णयति च ॥ ८८ ॥

भा० टी०—यह कामदेवम्हभी अपस्मार रोग भ्रमके आवेशसे ् दुःखदाई कमकरता हुआ मनको भ्रमाताह और नेबांको घुमाता है। इस रे दो मंबांकी कुछ गति है, न श्रापथ कुछ काम करसक्ता है, और न न । झान्तिकर्म पाटपूजा आदिसे यह नामको प्राप्तहोताहै॥ ८८॥

दोहा—मंत्र दवा और आपसों वेदन मिटे न वेद।

कामवानमों श्रमत मन केसे मिट है केद ॥ ८९
जात्यन्थांय चै दुर्मृखाँय चै जराजीणांखिलाङ्गांय चै ।

मीणांय चे दुष्कृत्येय चै गलकुष्णांमिभृतीय चै ॥ १०
नितंषु मनोहरं निजवेषुलंडमीलवश्रद्धंया पण्यम्बीपु विके
करपलंतिकादास्तिषु रिज्येन के ॥ ८९ ॥

सं० टी०—जात्यन्थायेति । पण्यात्तीपु वेश्यासु को रज्येत इच्छां करोति । कथांभ्तासु । जात्यन्थाय जन्मान्थाय, दर्भुखाय कुरूपाय, च जरया जीणीनि अखिलानि सर्वाणि अङ्गानि यस्य तस्मे, प्रामीणाय अचतुराय, दुष्कलं नीचकुलं तत्रीत्पन्नाय च, गलत्कुष्टेन अभिभूताय पीडिताय च, एव- माद्ये लक्ष्मीलवश्रद्धयाऽल्पद्रव्यप्राप्त्यर्थं मनोहरं सुन्दरं निजं स्वकीयं वपुः शरीरं प्रयच्छन्तीपु । पुनः कथंभृतासु । विवेक एव कल्पलितका कल्पवहाँ तस्याः शस्त्रीपु शस्त्रभूतासु छेत्रीपु । शार्द्व्विक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ८९ ॥

भा० टी०—जो जन्मान्ध, कुरूप, बृद्धावस्थासे शिथिल, गवाँर, नीचजाती और कोढीकोभी अल्पद्रव्यकी आशासे अपना स्नन्दर शरीर समर्पण करदेतीहैं, और जो विवेकरूपी कल्पलताकेलिये छुरीके समान हैं ऐसी वेश्याओंसे रमण करनेकी कोन बुद्धिमान इच्छा करेगा॥ ८९॥

छप्पय—जातिहीन, कुछहीन, अंध, कुित्सत, कुरूपनर,। जरा-प्रसित कृशगात गिछतकुष्टी अरु पांडर। ऐसौहू धनवान होय तो आदर वाको । अपनो गात विछाय छेत रस सर्वस ताको । गिनका विवेककी वेछकों कदन करनवारी निरख। वचरहे वडे कुछवन्त नर रचत पचत मूरख हरख॥ ८९॥

वेश्यासीं भदनज्वालां रूपेन्धनसमेधितां ॥ कांमि-भिर्यत्रं हूर्यंन्ते योवनांनि धनांनि र्च ॥ ९० ॥

सं० टी०—वेरयेति । असा वेरया पण्यस्त्री रूपमेवेन्धनं काष्टं तेन समेधिता वार्द्धता मदनज्वाला कामाग्निरस्ति । यत्र यस्मिन् कामिभिः कामुकैः यावनानि तारूण्यानि धनानि च हूयन्ते । चनुष्टुवृक्तिमिदम् ॥ ९० ॥

भा॰ टी॰--यह वेश्यातौ सुन्दरतारूपी इन्धनसे प्रचण्डरूपसे जलताहुवा कामाक्षि है। और कामीपुरुप इसमें अपने योवन और धनकी आहुति देतेहैं॥९०॥

दोहा—गिनका किनका अगिनकी रूपसिमध मजवूत। होम करत कामीपुरुप धन यौवन आहूत॥ ९०॥ कॅश्युम्बति कुलपुरुषो वेश्याधरपर्ह्वं मैनोज्ञमैपि॥ चारभटचौरचेटकनटविटीनष्टीवनशरावंम्॥ ९१॥

भर्तृइरिविरचितं-

सं टी०—क इति । चारो दूतः भटो योद्धा चौरश्चोरः चेटकं करोति स चेट नटः नर्तकः विटः भाण्डः इत्यादीनां निष्टीवनस्य लालोदकस्य शरावं पात्रं एवंविधं मनेक्ष् सुन्दरमि वेश्याया अधरपछ्वं कः कुलपुरुपः कुलीनश्चुम्बति । अकुलीन एव चुम्बति कुली नितिभावः ॥ आर्यावृत्तमिदम् ॥ ९१॥

भा॰ टी॰—वेश्याका अधरपछ्च यदि सुन्दर है तोभी उसको कुर्ल पुरुप निहं चुम्बता है क्यों कि वह तो ठग, योद्धा, चोर, दास, नट और जार्र धुकनेका पात्र है ॥९१॥

सोरठा—गनिकाके मृदु ओठको कुलीन चुम्वन करें। नट, भट, विट, ठग गोठ पीकपात्र है सवनकी॥९१

इति कामिनीनिगईणम्।

धन्यारते एवे तरलायतलोचनानां तारुण्यरूपघनपीनप्यो धराणाम् ॥ क्षामोदरोपरिलसन्निवलीलतानां हर्ष्ट्राकृँति विकृतिमेति "मनो नं येपाम् ॥ ९२॥ भा० टी०--जो मनुष्य रसखेदमे खिन्न होकर मत्तहाथीके कुम्भोंके समान विस्तीर्ण तथा कुहुमसे भीजेहुए स्त्रीके स्तनापर अपने वक्षःस्यलको को रखकर स्त्रीके भुजारूपी पंजरके मध्यस्थ होकर क्षणमात्रभी निद्राल होकर सात्रि व्यतीत करताहै वह धन्य है॥ ९६॥

छपय्य—सत्तगयन्दके कुम्भसे राजत केसरकर्दम साने। तिन पीनपयोधरमें विलसें रसरीति सयाने। रसखेदिह दूर वहाय करें कौतुक मनमाने। डार प्रियामुजकण्ठ रहें सुखसों लपटाने। सोवत अस गल लाग उरोजन ऊपर करधर। तेही जगमें धन्य धन्य वे धन्य सुभगनर॥ ९६॥

सुधामयोऽपि क्षयरोगशान्त्ये नासायमुक्ताफलकच्छित्।

अनङ्गसंजीवनदृष्टिश्लिर्मुखामृतं ते पिर्वतीर्वं चन्द्रः ॥९७॥ सं॰ दी॰ — प्रियाया नासाप्रमीक्तिकं चन्द्रत्वेनोत्प्रेश्य वर्णयति । गुधागय एति । हे नाथिके! सुधामयोऽमृतमयः अत्तर्व अनङ्गस्य वामस्य संजीवने दृष्टिशक्तिदृष्टिसामध्यं यग्य मः। कामोदीपक इत्यर्थः । एवंविधोऽपि चन्द्रः क्षयरोगस्य शान्त्यं शमाय नासाया नासिकाया यद्दवं

तत्तसम्बन्धि चन्मुक्ताफलकं तस्य छलेन भिषेण ते मुखागृतं पिवतीवेत्यतं गन्य १ति देापः ॥ एपः जातिर्वृत्तमिदम् ॥ ९७ ॥

भा० टी०--हे सुन्दारे! अमृतमय अतएय कामदेवके चंतन्यकरनेपी हिष्टिसामध्ये रखनेवाला चन्द्रमा क्षयरोगकी शान्तिकेलिये नावमोतीके मिषसे हेरे अधरामृतका पान करताहै॥ ९७॥

सवैया—होय अनंग सतनु सरसावत देखतही जाकृं टग भरकै। सोई निजरोगक्षयनाशन हित करत उपाय छहर्के॥ जदिष सुधामय आप तदिष नक्षवेसररूप सुधरके॥ अधरस्धारस सुंदरि तेरी पीवतहै चन्दा भिस करके॥ ९७॥

दिशं वनहरिणिभ्यो वंशकाण्डच्छेवीनां कवंटमुपटको-टिच्छिर्नेमूळं कुशानाम् । शुक्युवितकपोटीपाण्ड्तान्वृट-वहीद्रुटमरुणनेखायेः पीटितं वी वधूर्भवः॥ ९८॥ संग कहा सुख वातन है है। कहा अधर सधुपान कहा लेखि छिन छु है। मुखकमलइवाससीगन्ध कहा कठिनकुचकी परस पररस्भन चुम्बन कहा जोगी जन मन एकरस ॥ ९४॥

अजितात्मेसु सम्बेद्धः समाधिकृतचैषिकः॥ भुजङ्गुर्कुंटिलः स्तव्धो भ्रूविक्षेर्पः खलायते॥९५॥

सं० टी०—अजितात्मिति । स्त्रिया अविक्षेपः कटाक्षचालनं खलायते खलायते खलायते खलायते खलायते खलायते खलायते खलायते खलायते चरित । क्षीटका अविक्षेपः खलाया । न जितः आत्मा चित्तं येस्तेष्यजितेन्द्रियेपु संबद्धः । तः समायी चित्रैयतान्ये पक्षे सम्यगायी मनःपीडायां विषये कृतं चापलं येन सः । तथा पुर्वि जारस्तद्वत् पक्षे भुजङ्गवत् सर्पत्रत् कुतिलः । तथा स्तन्धः स्थिरः पक्षे गर्विष्ठः एवं । । ।

भा॰ टी॰—अजितेन्द्रिय मनुष्योंसे सम्बन्धरखनेवाला, समाधि (विश्वास्त्राता अथवा मानसिक पीडाओं)में अत्यन्त चञ्चलता करनेवाला, भुजाह (स्र अथवा जार) के समान कुटिल, और स्तव्य यह स्त्रियोंका कटाक्ष खलकेसम्ब आचरण करताहै॥ ९५॥

दोहा—तिय कटाक्ष खळ सरस है करत समाधिह भंग । प्राकृत जन संसर्गरत शठ इव कुटिल भुजंग॥९५॥ मत्तेभकुम्भपरिणाँहिनि कुङ्कुमौद्रें कान्तापँयोधरतहे रसखेदाखिनः ॥ वैक्षो निधार्य भुजपञ्जरमध्यवतीं धैन्यः क्षपाँ क्षपैयति क्षणलब्धनिद्रः ॥ ९६ ॥

सं दी० --यम्तर्गा मृताविद्वितःसन् रात्री शेते स धन्य इपाह । मनेभेति । यः प्र २० चूनाची स्थानेत्वन्तर्यः यः रेद्रमेन चित्रःश्रास्तःसन् मनो मदोत्मनो य इभो मनावाग इति गारस्यत्रं तहत् परेशाविति विस्तिर्थे कुड्डुमनार्थे कान्तायाः पर्यावस्तिदे स्वनतदे यश्च देगे वि १० विद्या एवं भूत्रवेद पर्यवस्तरात्वर्यति सन् श्राम श्रामात्रं स्वता विद्या पन एतःस्ति १० विद्या पर भूत्रवेद पर्यवस्तित्वरात्वर्यति सन् श्राम श्रामात्रं स्वता विद्या पन एतःस्ति भा० टी०--जो मनुष्य रसखेदसे खिन्न होकर मत्तहाथीके कुम्भोंके समान विस्तीर्ण तथा कुहुमसे भीजेहुए खीके स्तनीपर अपने वक्षःस्थल-को रखकर खीके भुजाम्हणी पंजरके मध्यस्थ होकर क्षणमात्रभी निद्राल होकर राजि ज्यतीत करताह वह धन्य है॥ ९६॥

छप्य्य—मत्तगयन्दके कुम्भसे राजत केसरकर्दम साने। तिन पीनपयोधरमें विलसें रसरीति सयाने। रसखेदिह दूर वहाय करें केतिक मनमाने। डार प्रियाभुजकण्ठ रहें सुखसों लपटाने॥ सोवत अस गल लाग उरोजन ऊपर करधर। तेही जगमें धन्य प्रियम्य वे धन्य सुभगनर॥ ९६॥

ं सुधांमयोऽपि क्षयरोगशांन्त्ये नासायमुक्ताफलकच्छलेर्नं। अनङ्गसंजीवनदृष्टिशंक्तिर्भुखामृतं ते पिर्वतीर्वं चन्द्रैः॥९७॥

सं० टी० —-प्रियाया नासाप्रमौक्तिकं चन्द्रत्वेनोत्प्रेक्ष्य वर्णयित । सुधामय इति । हे नाथिके! सुधामयोऽमृतमयः अतएव अनङ्गस्य कामस्य संजीवने दृष्टिशक्तिर्दृष्टिसामध्ये यस्य सः। कामोदीपक इसर्थः। एवंविघोऽपि चन्द्रः क्षयरोगस्य शान्से शमाय नासाया नासिकाया यद्ग्रं तत्सम्बन्धि यन्मुक्ताफल्कं तस्य छलेन मिपेण ते मुखामृतं पिनतीवेखहं मन्य इति शेषः ॥ उपजातिर्वृत्तिमिदम् ॥ ९७ ॥

भा० टी०--हे सुन्दारे! अमृतमय अतएव कामदेवके चैतन्यकरनेकी हिप्सामर्थ्य रखनेवाला चन्द्रमा क्षयरोगकी शान्तिकेलिये नाकमोतीके मिपसे तेरे अधरामृतका पान करताहै॥ ९७॥

सवैया—होय अनंग सतनु सरसावत देखतही जाकूं हग भरके। सोई निजरोगक्षयनाशन हित करत उपाय छहरके॥ जदिप सुधामय आप तदिप नकवेसररूप सुधरके॥ अधरसुधारस सुंदिर तेरी पीवतहै चन्दा मिस करके॥ ९७॥

दिशं वनहरिणीभ्यो वंशकाण्डच्छेवीनां कर्वछमुपछको-टिच्छिक्नमूळं कुशानाम् । शुक्युवातिकपोळींपाण्डुताम्बूळ-वळीद्छमरुणनेखायैः पीटितं वा वधूभ्यः ॥ ९८॥ सं० टी०—दिशेति । हे जन! त्वं वनेऽरण्ये या हरिण्यो मृग्यस्ताम्यो वंशस है काण्डो दण्डः "काण्डोऽस्त्री दण्डवाणार्ववर्गावसरवारिपु" इत्यमरः । तस्येव द्यविः कन्ति कुशानां दर्भाणां उपलस्य पापाणस्य कोटिरम्रभागस्तेन द्वित्तं मूळं यस्यैवंविषं कवळं प्रात्तः "प्राप्तस्तु कवळः पुमान्" इत्यमरः । दिश देहि । वाऽथवा वधूम्यः स्त्रीम्योऽरुणानि कृत्ते हितानि "अरुणः कृष्णलोहितः" । ईषद्रक्तानीतियावत् । यानि नखानि तेपामप्राणि तैः पर्वे छित्तं एवंविषं शुक्तयुवत्याः कीरिह्नयाः "गृत्री कीरशुकी समी" इत्यमरः । कपोलो गण्डताः सा ईपत् पाण्डुः पीतिमिश्रश्वेतवर्णा "पाण्डुस्तुपीतभागार्थः केतकीधृलिसिन्नभः" इतिशब्दार्कः। या ताम्बूलवल्ली तस्या दलं पर्ण दिशेल्यर्थः । मालिनीवृत्तमिदम् ॥ ९८ ॥

भा० टी० —हे मनुष्यो! तुम यातौ वनमृगियोंकेलिये वांसके दण्डां समान छिववाली पत्थरके अग्रभागसे कटीहुई जडवाली कुशाओंके प्रात है अथवा उत्तमिस्रयोंकेलिये अरुणनखोंसे तोडेहुए शुक्रयुवती (सुई) के कपोलं समान किञ्चित पाण्डुवर्णवाले ताम्बूल दो ॥ ९८ ॥

दोहा—वनमृगीनके दैनकों हरे हरे तृण लेहु। अथवा पीरे पानकों वीरा वधुवन देहु॥ ९८॥

वैरोग्ये संचैरत्येको निता अर्मति चापरें ॥ शृंङ्गारे रमंते कॅश्चिद्धंवि भेदी परस्पेरम् ॥ ९९ ॥

सं ॰ टी॰—वैराग्य इति । एकः पुरुषे वैराग्ये संचरित । चापरोऽन्ये। नीते। अन् किरां करोति । कश्चित्पुरुषः शृंगोरे रमते । एवं भृति पृथिव्यां पुरुषाः परस्परं भेदिविशिष्टा इत्यदेष अनुष्टृबृहद्यनिदम् ॥ ९९ ॥

भा दी विक्ता विकास विकास के स्वास करताहै, कोई मनुष्य नीति अमयकरताह, की ए कोई पूर्विसमें रमताह, इसमकार मनुष्योंकी इच्छा पार्ग एक्ट्सरेसे निज्ञ है! नीति, शृंगार और वराग्य तीनोंशनकोंके निर्माणकर्ति महिद्दिन्तिक यह प्रयोजन है कि जिसकी जिसमें रुचि हो वह उसीको विचारे ॥१९३

देहा—काहुक विगण्यमिय काहुक मिय नीति। काहुक शृंगारमिय जुदी जुदी परतीति॥९९॥ येयम्यं नीमितं मियं नीसम्मनस्यास्प्रही मैनोज्ञेऽपि॥ रमेणीयेऽपि सुधांद्री नेमनःकीमः सरोजिन्धीः॥ १००॥ गं र टी र — यहिति । यहप यत् रुचिरं नानित तिसन् मनोतेऽपि सुन्दरेऽपस्य स्पृहा न सर्वति । सम् रापानाः । चन्यस्य सर्वा प्रियमाने समणीयः । तिसन् स्पृतिकासिन्याः संरोजिन्या रामणीयः । तिसन् स्पृतिकासिन्याः संरोजिन्या रामणः रह्माः प्रांतिनं भवति । एवं यस्य यत्र प्रांतिन्तस्य तत् रुचिकरं । सतो नीतिः सृद्धारश्च रिकायं च सक्ताः । एतेष यत्र यस्य प्रीतिन्तेन नाष्ट्रप्यम् । इदं शृंगारशतकां भर्तृहरिणा कृतम् । सत् प्राग्तृहत्या न एतं । साद्ययेव " समस्यभावः सत् वस्यतं क्षियः " इत्युक्तम् । मन्येऽपि " द्रार्थिकां पृति कानिविद्याः प्राप्तिनि वचनानि स्रवे स्थले स्थितानि । तासां कामिनीनां प्रसंस प्रामितः विवये सारिपितः प्राप्ति सर्व विवेकदृष्ट्या निन्दितम् ॥ आर्याहृत्तिमदम् ॥ १००॥

भा र टी र न जो वस्तु जिसको पिय नहीं वह चाहे जैसी सुन्दर क्यों न हो परन्तु उसको अच्छी नहीं लगतीः जैसे चन्द्रमा सबको पिय हे परन्तु सूर्य-विकासिनी कमलिनियोंकी प्रीति उसपर नहीं होतीः अर्थात् कमलिनियोंको चन्द्रमा अच्छा नहीं लगताहै॥ १००॥

दोहा—जो जाके मन भावतो ताकों तासों काम ।
कमलन चाहत चांदनी विकसत परसत घाम ॥१००॥
इति श्रीमद्गर्दहरिकृतं भाषाटीकोषेतं द्वितीयं
शृंगारशतकं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥

आम् । ओम् । _{श्रीहरिम्बन्दे ।} श्रीवृन्दावनविहारिणे नमः अथ भर्तृहरिकृतं ।

तृतीयं वैराग्यशतकं प्रारम्यते।

मङ्गलाचरणम्।

चूडोत्तंसितचारुचन्द्रकिकाचञ्चिच्छखाभारवरी छीलाद्रग्धविलोलकामशैलभः श्रेयोदशैष्ये स्फुरत्।

अन्तःस्फूर्जद्पारमे।हतिमिरंप्राग्मारमुचाटयर्न चेतःसैद्मिन योगिनां विजयते ज्ञानं प्रदीपो हर्रः॥१॥

सं० शि०——विश्वेशं मोक्षदातारं मैरवं भीतिनाशनं । वृद्धिप्रदं वृद्धिराजं स्वर्धः सादरम् ॥ १ ॥ छम्बोदरमुखं ध्यात्वा नत्वा कृष्णं सदाशिवम् । वैराग्यशतकव्याख्यां यथाप्रतं कर्षे हम् ॥ २ ॥ दिकालाद्यनवच्छित्वा मूर्तिर्थस्य महात्मनः । तस्मै कृष्णाय महते तेजोरूपाय वे नमः

इह खलु सकलवसुधेशिशिखामणी राजिपप्रवरः श्रीमद्भितृहिरिवेराग्यशतकमेवारम् राजकुलोत्पन्नत्वात् राज्ञो नीतिशृंगाराववश्यमपेक्षितावतः प्रथमं नीतिशृंगारशतके वैराग्यति वत्रापरूपे निर्मायेदानी वैराग्यशतकमेवारभमाणः स्वेष्टदेवं सदाशिवं विशेष्यनमिति । चूढोत्ते चूढायां केशपाशे उत्तेसिता भूषणभूता चारु रमणीया या चन्द्रकलिका चन्द्रकला तस्यक्ष्य देदीप्यमाना या शिखाः किरणास्ताभिभीस्वरः शोभायमानः । लीलया दग्धो विलोलश्रञ्जलः कार्ताः मदनपतङ्गो येन सः । श्रेयः कल्याणं तस्य दशा अवस्था तद्धे अप्रे स्फुरन् प्रकाशमानः लेक कल्याणं कर्तुं प्रकटीभूत इतिभावः । अन्तरभ्यन्तरे स्फूर्जत् प्रकाशमानोऽपारः पाररिहतो यो स्व एव तिमिरमन्धकारोऽज्ञानं यावत्तस्य प्राग्भारोऽतिशयस्तमुच्चाटयन् समूलं नाशयन् । क्षि भक्तान्तःकरणे ज्ञानं प्रदीपयित प्रकाशयतीति ज्ञानप्रदीपः । हरः शिवः योगिनां चित स्व गृहं तिसन् विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते । शार्द्वविज्ञीडीतं वृत्तिमदम् ॥ १ ॥

भा० टी०—राजर्षिपवर श्रीभर्तृहरिजी अपने इष्टदेव सदाशिवकी स्कार करतेहैं। जिनकी जटाओं में चश्चल और दैदीप्यमान चन्द्रकला विराद्ध है, और लीलाहीसे जिन्हों ने कामदेवरूपी पतङ्गको भस्म करिदयाहै हैं। महादेवजी हैं सो कल्याणकी स्फूर्ती करतेहुए और पहिले भयेहुए और अधकारका नाश करतेहुए योगिजनोंके हृदयरूपीगृहमें दीपककेसमान समान हैं॥१॥

छप्यय—चन्द्रकलामय भानित कानित बहु भांतिन जार्यो कामपतंग अंग विन भयो जु परसत । महामोह इदयको तिमिर नसावत । अपनो आतमरूप प्रकट कर दिखावत । दुति दिपत अखंडित एकरस अद्भुत अतुलित कवर। जगमगत संत चितसदनमें ज्ञानदीप जय जयित हर

वोद्धौरो मत्सरप्रस्ताः प्रभवः स्मयदृषिताः ॥ अवोधोपहताँश्यान्ये जीर्णमंङ्गे सुभाषितम् ॥ २॥ सं॰ टी॰—वेत्ता मार्ल्यसंयुक्तः प्रभुगेवेण दृषितः। छीनं सुभाषितं सर्व देह एव तु ने विहः॥ महतां गुणान् महत्त्वेव छीनानाछोक्य शोचयनाह। बाद्धार इति। बोद्धारः सदसिद्धेवक्त-कर्तारोऽहमेव बहुन्नोऽल्पन्नं ।किमन्यं पृच्छेयमिस्यन्यस्मिन्नल्पन्नःवदोपदर्शनरूपेण मात्सर्येण सत्ताः सर्पेण भेका इव निर्गाणोः। प्रभवः सर्वगुणग्रहणसमर्थाः मां धनादिसम्प्रमाछोक्य सर्वे पि॰डताः सन्यासिनश्च जीविकार्थमागमिष्यन्तीति स्मयेन गर्वेण दृषिताः गुणान्तः स्वेष्णाः। अन्ये तु प्रभुपि॰डतेभ्योऽतिरिक्ता अवोधेन पदपदार्थान्नाने।पहता हतप्राया स्यिधकार्यभावात् सुभाषितं सन्छास्त्रमंगे शरीर एव जीर्णं विगिष्टितमहो भाग्यं छोकस्यिति भावः॥२॥ भा॰ टी॰—विद्वान् मनुष्य तो अपनी विद्याके अभिमानसें ग्रस्तहें, धनीङोग अपने द्रव्यके गर्वसे किसीविद्वान्का आदरही नहीं करते, और शेप अन्य मनुष्य जो हें वे अल्पन्न हें कुछ समझही नहीं, इत्यादि कारणोंसे मुभापित शरीरमेंही नष्ट होजात।हे॥ २॥

कुण्डलिया—पण्डित मत्सरता भरे भूप भरे अभिमान। और जीव या जगतके मूरख महाअजान। मूरख महा अजान देखके संकट सिहये। छन्द प्रवन्ध किवत्त काव्यरस कासों किहये। वृद्ध भई मनमांहि मधुरवाणी गुणमण्डित। अपने मनकों मार मौनधर बैठत पण्डित॥ २॥

नैं संसारोप्तेन्नं चिरतैमनुपश्यामि कुशैंठं विपाँकः पुण्यांनां जनैयिति भैयं में विमृश्तिः॥ महेंद्रिः पुण्यों-घैश्चिरपरिगृहीताश्चें विषयीं महानितो जायनिते व्यस-नैंमिवें दीतुं विषयिणामें ॥ ३॥

सं० टी० — संसारजनितं वृत्तं सुखदं न कदाचन । सुखरूपं भजेत्हृष्णं यद्दिन्तृति।
मातमनः॥ १॥ संसारचितं सुखरूपं न भवतीति तत्र लुव्धान् जनान् शिक्षयत्राह । नेति । पारले विकास संसारादुत्पन्नं चितं व्यवहाररूपं चित्रमेहिकं च कुशलं कर्याणवारं नानुपर्यामि । पित्रमत्य कपटप्रायकत्वेन दुरितजनकत्वात् पारलेकिकस्य यत्तदानहोमादेः पालदेवेण तृष्णवान् तेषः पुण्यानां विपाकः पालं 'क्षीणे पुण्ये मत्येलोकं विद्यानिति, विमृदातो मे गम भय जनयनि । विचानित्रमे महिद्रः पुण्यानां यद्भवानोनित्रमे स्वर्ति । विचानित्रमे सहिद्रः पुण्यानां यद्भवानोनित्रमे सहिद्रा पुण्यानां यद्भवानोनित्रमे विवानित्रमे परिगृहिताः प्रण्याः पाणे स्वर्वाने कृतपानोविद्यानित्रमे विद्यानित्रमे विवानित्रमे । विवानित्रमे विवानित्रमे विवानित्रमे । विवानित्रमे विवानित्रमे विवानित्रमे विवानित्रमे । विवानित्रमे विवानित्रमे । विवानित्रमे विवानित्रमे । विवानित्रमे विवानित्रमे । विवानित्रमे विवानित्रमे विवानित्र

भा० टी॰—संसारसे उत्पन्न चरित्रांको हम कल्याणकरनेवाले ने देखतेहैं, और पुनीतकर्मोंका फल स्वर्गादिकभी मुझको भयरूप दीखताहै, क्याँ पुण्योंके नाशहोनेपर स्वर्गसे पतनहोजाताहै; वहे वहे पुण्योंके समूहसे विष्म लसे संचित्रकियेहुये विषयभी अन्तमं विषयीपुरुषोंको दुःखरूपही होजातेहैं।।।

छप्य्य—या जगसों उत्पन्नभये जे चरित मनोहर। ते सवही क्षणभंग प्रगट यह पूर रह्यों डर। यज्ञादिकतें स्वर्ग के तेहूं डर मानत। इन्द्र आदि सव देव अवधि अपनीकीं जानता फलभोग करत जे पुण्यकी तिनकों रोगवियोगभय। दुक्रण सकल सुख देखके भये सन्तजन ज्ञानमय॥ ३॥ उत्वौतं निधिशंकेया क्षितितेलं ध्मार्तां गिरे धितयों निस्तीणीः सरितां पितिनृपितयों धैतनेन संतोषितीं॥ मन्त्राराधनतत्परेणीं मनसीं नीतींः इमशींने निशींः प्राप्तीः काणवराटंकोऽपि ने मर्यी तृष्णेऽधुनीं मुर्के मीम्॥

सं० टी०—धनिष्टिस्या नानिष्ठियाः कुर्वन् फल्मल्ममानोऽत्युद्दिग्नस्तृष्णे मां हुं प्रियंति । उत्खातिनित । हे तृष्णे ! तव प्रभावािनिधिशंकयाऽत्र निधिमिविष्यतीित या शङ्काति क्षितितलं मयोत्खातमुत्खानितम् । तथा गिरेः पर्वतस्य धातवो हरतालादयो मया व्यातास्तावं हुं भे भीवष्यतीत्याशयाऽग्निना संयोजिताः । तिरितां पितः सागरोऽपि निस्तीर्णः धनिल्प्सया पोतेन क्षान्तः । नृपतयो राजानो यत्नेन सन्तोपिताः प्रसादिताः । तथा मंत्राराधने तत्परं यन्तर्वे मनसा राज्यः स्मशाने नीताः । कश्चित्येतः प्रसन्ते भृत्या धनं दद्यादिति निर्गमितात्त्वयािप मया कार्याः स्मशाने नीताः । कश्चित्येतः प्रसन्ते भृत्या धनं दद्यादिति निर्गमितात्त्वयािप मया कार्याः करादकोऽपि न प्राप्तः भग्नकपदिकािप न लव्या । हे तृष्णेऽधुना मां मुख परित्योज्येति भावः परवशो नरो महद्यनं करोिति फलं तु भाग्यानुसारेण लभतेऽतः सर्वथा तृष्णा परित्याव्येति भावः निय्वनेद्दमुधां प्यायादिर्रिधीनुं सद्याप्येः । निस्तरेदुद्धि यत्नात् यद्या शान्तिविचारतः । दर्षः विक्रीडितं वृत्तिमदम् ॥ ४ ॥

भाव टीव--द्रव्य मिलनेकी आशासे मैंने प्रथ्वीको खोदी, रसायन मिर् होनेके निमित्त पर्यनको अनेक थातु श्रोंको फुंक डाली, रत्नणाप्तिकी आशासे निर् योंक पति नमुद्रकेशी पार गया, राजाशोंको अनेकप्रकारके यत्नोंसे क्रम किये, और मंत्र सिद्धकरनेकेलिये मन लगाकर निरन्तर रातोंको महास्मान र्कर्रात कि.हा. परन्त पर सद कुछ पारनेपरना एक पानी कीडीभी मेरे हाथ नदी लाई इससे हे तुर्का किद नी मेरा विष्ट छोड़ ॥ ४ ॥

एपच्य-स्वादत होन्या भृमि गदीहृन पाई सम्पति। प्रोंपत रहा। परवान कनकके लोभ लगी सित । गयो सिन्धुके पास तहां सुराहुन पाया। कोडी कर नहीं लगी नृपनकों सीस नवायो। साथे प्रयोग झमझानमें भृत प्रेत वेताल सिन । कित-ह भयो न बांछित कह अवनो सुरणा मोहि तन ॥ ४॥

स्रोन्तं देश्मनेकदुर्गविषेमं प्राप्तं नं किंचिर्त्फळं त्यकेंत्वा जातिकुटाभिमानमुचितं सेवी कृती निष्फळी ॥ भुंकं मानवियिजितं परिगृहे साशंकर्यी काकवैत्रुष्णे जैंभिसं पापकमिनरते नीविषि संतुष्येंसि ॥ ५॥

सं० टी०--एवमनुतम्य विरायात्यन्तिविरोधस्यात्तायनृष्णां दूपयित । आन्वेति । हे कृष्णे ! व्यवद्यापि न सन्तुष्पति नुष्टा न भवति । तव प्रभावाद्यद्योग्यं गया छतं तच्छूणु । अनेके द्रिंगः वाहिनस्यानिर्दियो। दुर्गिता यो देशस्तं आत्या किञ्चिद्यि पत्थं द्रव्यं मया न प्राप्तम् । किंच जातिय मुन्यं च नयात्रित्यतं योग्यमनिमानं त्यस्या नीचानां सेवा छता साऽपि निष्पत्था जाता । किच मानन विद्यानितं तेमव्रणेन विना परगृहे मया भुक्तं तद्यि दुर्वचनं मा त्रृयादिति काकवत् साक्षद्या भेयन सहेत्येवं मम हुद्शां छत्याऽपि नृम्भति वर्द्शते । हे पापकमिनरते दुष्टकमिन्यारियित्र हे निर्द्ये ! अद्यापि तव सन्तायो न जायते इत्यर्थः । छोभादनेकदेशेषु मनो अमित छोल्य । शिवस्तरणसन्देशेषु मनो अमित

भा० टी०—मेंने अनेक दुर्गमदेशों भें भ्रमणिकया तथापि कुछ फल नहीं प्राप्तदुआ: यथार्थ जाति और कुलका अभिमान त्यागकर पराई सेवा की साभी निष्फल हुई; और मानको त्यागकर कोएकेसमान सर्शकित पराये घरपर भोजन किया। तृष्णे! (यह सब तेरेहीकारण हुआ) हे पापकर्ममें महत्त सदेव वर्द्धमान तृष्णे? तुज्जको अवभी सन्तोप नहींहोताहे॥ ५॥

छप्पय—सटको देश विदेश तहां फल कछुव न पायो । निज-कुलको अभिमान छाँड सेवा चित लायो । सहि गारी और खीझ- हाथ झारत घर आया। दूर करतहूं दोरि स्वान जें। परगृह लागी। इहि ऑति नचायो मोहितें वहकायो दे लोभलत। अजहं न तोहि सन्तोष कहुं तृष्णा तू पापिन प्रवल ॥ ५॥

खलोक्षीपाः सोढाँ कथमँपि तदाराधनेपरैर्निगैंह्यान्त्वीः प्रं हिंसतमँपि जून्येन मनसी ॥ क्रुतिश्चित्तरतिंमः प्रहासितधियामक्षीलिरँपि वैद्यमाद्रो मोर्थाद्रो कि मेपेरमैतो निर्तयसि मार्मे ॥ ६ ॥

सं०, टी०—-तृष्णायामनेकानि दुःखानि प्रदर्श तद्भेदाशायामि तानि दर्शयंतां स्वाली प्रार्थयते । खलेल्लापा इति । तदाराधनपरेः खलसेवनपरेरस्माभिः खलेल्लापाः खलानां दुष्टानामुल्ला दुर्घानयानि सोला मिर्धताः तद्दुवंचनंजीतं यदाष्पमश्चनलं तत्कथमप्याशाप्रभावेनान्तार्नगृत्व संत्र । श्निस्पिताः तद्दुवंचनंजीतं यदाष्पमश्चनलं तत्कथमप्याशाप्रभावेनान्तार्नगृत्व संत्र । श्निस्पिताः हितेन मनसा हिसतमप्यथं दुष्टो न जानीयान्मद्दाक्यात् खिन्नोऽयिमिति हास्यमापे कृति मिर्स्यथः । दुष्टवचनात् चेतस्यद्देगे जातेऽप्येनं दुष्टं विहाय गच्छ्यिमिति तथापि हे आशे ! विल्ला स्तम्भः कृतः । एवं विहाय गमने किमिप न मिल्लिपतीति मनसो निरोधः कृतःतव प्रभावात्मि हतायियां धनमदेन प्रतिहता नष्टा धीर्नुद्धियेपां तेपामेष्र अञ्चलिः करसंपुटोऽपि कृतो न जानीयार्षे मद्दचनादुद्दिग्न इति । मोवाशे मोवा निष्फला आशा अभिप्रायो यस्यास्तथाभूते हे आशेऽतः सम्भिन्मां किमु करमान्तर्तयस्यभुना तु मां मुञ्जेतिभावः । खल्याग्वाणिवद्धोऽपि तत्सेवानिरतो भवेत् । विष्ति सवारते। न स्याद् यत्रानन्दो निराश्रयः । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ६ ॥

भा० टी०--दुर्जनोंकी सेवा करनेमं हमने उनके कुवावय सहति। नेत्रोंके आसुओंको रोक उदासमनसे उनके सन्मुख इंसाकिये, और विक् स्थिरकर उन हत्युद्धिमनुष्योंकेसन्मुख हातभी जोडे, अब हे व्यर्थआशाहरी दान्धी आगे! क्यों मुझको तथा नचातीह ॥ ६ ॥

छप्पय—तहे खलनके वेन इतेपर तिनाहि रिझाये। नैननको अ रोक शृत्यमन मुख मुलक्याये। देत नहीं कछ वित्त तऊ कर दिखाये। कर कर चाव करोर भारही दौरत आये। सुनि प्यास नेरी प्रवल तृ अति अञ्चतगत गहत। इह भांति मोहि अब ऑर कहा करिया चहत॥ ६॥ आदित्यस्यं गतागैतेरहरहें संक्षीयंते जीवितं व्यापाँ-रैर्बहुकार्यभारगुर्रुभः काँलो ने विज्ञींयते ॥ दृष्ट्वीं जन्म जराविपत्तिमरेणं त्रासैश्चें नोत्पर्यते पीत्वीं मोहभैयीं प्रमादमदिर्रीमुन्मत्तीभूतं जगैत्॥ ७॥

सं० दी०—गमनागमनं कुर्वन् रिवर्हरित जीवितम् । सेवितं येर्हरेः पादकंजं तेपां सुजीवितम् ॥ १ ॥ जगदुन्मादं दुःखसिहिष्णुतां कालाज्ञानं च दर्शयित । आदित्यस्य गतागतेर्ग-मनागमनेरुदयाचलादस्ताचलं प्रित गमनमागमनं तु ततः पुनरुदयाचलं प्रित । एवंप्रकारकेर्गता-गतेरहरहः प्रितिदेनं जीवितमायुः श्लीयते नश्यित । व्यापौर्जगदनेकव्यवहारैः । कथंभूतेः । बहुकतं येभारगुरुभिः बहूनि कार्याण्येव भारा बोहुमशक्यास्तेर्गुरुभिर्महिद्धः । कालो मरणं कियदायुर्गी-कियदविशिष्टिमिति तु केश्विदिपं निवज्ञायते न विशेषेणानुभूयते । जन्मादिमरणान्तकर्भ सर्वेपामात्मनोऽपि दृष्ट्वा स्वनेत्रगोचरिक्तवाऽपि त्रासो भयं नोत्पद्यते । अनिष्टकरणात् कश्चिदिपं न निवर्तत इति भावः । तत्र हेतुमाह । पीत्वेति । मोहमर्यीं मोहप्रचुरां प्रमादरूपां मिदरां पीत्वा जगत् उन्मत्तभूतं फर्तव्याकर्तव्यविचारशून्यं जातिमिति शेषः । शार्द्वविक्रीलितं वृत्तिमिदम् ॥ ७ ॥

भा० टी०—प्रतिदिन सूर्यके उदय अस्त होनेके संग जीवन क्षीण होता जाताहै, और वहुत वर्डे २ कार्य ज्यापारोंकेकारण समय जाताहुआ नर्श जानाजाताहै; और जन्म, वृद्धावस्था, विपत्ति और मरण देखकरभी भय उत्पन्न नहींहोताहै; इससे ज्ञातहोताहै जगत् मोहमयी ममादरूपी मदिराको पीकर उन्मत्त होरहाहै ॥ ७ ॥

छ्रप्य--उदै अस्त रिव होत आयुकों क्षीरण करत नित।
गृहधन्देके मांहि समय वीतत अजान चित। आंखिन देखत जन्म
जरा अरु विपत्ति मरन नित। तउ डरत निहं नेक शंकह् नांहि करत
चित। जग जीव मोहमदिरा पिये छाके फिरत प्रमादमें। गिरपरत उठत फिर फिर गिरत विपयवासनास्वादमें॥ ७॥

दीनाँ दीनमुँखैः सदैवं शिशुँकैराकृष्टजीर्णाम्वर्ग क्रोर्शं-द्रिः क्षुँधितैर्न रैंने विधुर्ग दृश्येतं 'चेद्रेहिनी ॥ याज्ञा- भंगभयेर्नं गद्गद्रलसत्त्रुट्यद्विलीनीक्षरं 'को देहीं' ति' वैदित्स्वद्ग्धजर्थं रस्योंथें सनस्वीजर्नें: ॥ ८॥

सं० टी०—अतिदीनमुधे:पुत्रेर्युक्ता पत्नी कदम्त्ररा। न मवेद्रेहिनी गेही देही क्षयं वदेत् ॥ १ ॥ पुत्रादिसंप्रही विवेकिनामि दुःखद इत्याह । दीनेति । दीनानि मुखाने ने ते: शिशुकेर्त्रांछेराक्रप्टं जीर्णमम्त्ररं यस्याः सा अतएत्र दीना । कंथभूते: क्रोशद्भिरत्रार्थं रदिहर्ते गृहनरै: क्षुधितेर्तिवृद्धाऽतिदुःखनती एतादृशी गेहिनी भाषी चेत् यदि न दृश्येत मनिवना के नितिशेषः । याज्ञाभङ्गभयेन याज्ञा देहीति प्रार्थना तस्या भंगो नाशः न दास्यामीति दार्किने तद्भयेन गद्भदे स्वाष्पं गछत् पतत् पदतो वर्णतो वा त्रुच्चत् विछीनानि अस्पप्टानि अक्षा यसिमन् वाक्रये तत् क्रियाविशेषणं वा को मनस्वीजनः धीरः वदेत् देहीति कः कथयेत् । ति ठरानछेन दग्धस्य जठरस्यार्थे स्वोदरपूरणायेत्यर्थः । अत्र आकारप्रश्चेपः कार्योऽन्यर्गार्थं स्यात् । शार्द्छविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ८ ॥

भा० टी०—अत्यन्त दीनमुखवाले वालक सदैव जिसका फराहुआ विस्त्र खींचतेहैं और अन्नकेलिये चिन्तातेहुए क्षुयितमनुष्योंसे जो दुः लिसे ऐसी गेहिनी यदि न होती तो ऐसा कीन थीर मनुष्य है जो अपने पेटभरनेकिन याचनाभंग होनेके भयके कारण गद्धदकंण्डसे हुटे फुटे अक्षरोंमे "मुझकों अप दीजिये" ऐसी वाणी वोलता, अर्थात् स्त्री सब अन्योंका मूल है॥८॥

छप्यय—फट्यो पुरानो चीर ताहि खंचत अरु फारत। होरे २ बाल भूखही भूख पुकारत। घरमांही नहिं अन्न नार्षि निर्देय यातें। भई महाजडरूप कडत मुखसों नहिं वातें। ये दशा देख अरवरत चित्त जीव थरथरत रुकत सुख। अपने सुजरे या उदरहित "देहु" कहै को सतपुरुष॥ ८॥

निरुत्तों भोगेच्छा पुरुषबुहुमाँनो विगि हतः समानाः सर्पादः सर्पादः सुईदो जीवितसंमाः ॥ शैनैर्यष्टेंचोत्थीतं घनितिमर्रहे चै नैयने अहो धृष्टः कार्यस्तदंपि मर्णापायचिकतेः॥ ९॥

सं॰ टी॰—भोगशत्तयायमावेऽपि भोगाशया मरणं नेच्छति पुमानित्याह । निष्ट्वेति । इन्द्रियाणां शिथिछत्वात् भोगच्छा निष्टत्ता गता । पुरुषेपु बहुमानः आदरोऽपि विगालितो नष्टः । समानाः स्वययसः स्वर्याताः मृता इत्यर्थः । सपदीदानीं येऽत्रशिष्टाः सुहृदः स्वभावेनोपकारकास्ते

जीवितसमाः जीवितं समं पूर्णे येपामथवा मम जीवनतृत्या क्समर्थास्तिष्टन्तु व्रियतां वा तैर्न किमिप सिच्यतीत्यर्थः । अधुना श्रनेर्यष्टयुत्यानं छकुटं धृत्वाऽऽसनादुत्यानं तदि न शीवं भविते । निविदंन तिमिरेणान्यकारेण रुद्धे आहते नयने अंधत्वमिप जातं तदि तथि तथिवधदशायामध्यहो धृष्टो निर्छजः कायो देहो मरणरूपो योऽपायस्तेनचिकतः भोगतृष्णाया पतिनुं नेच्छतीति भावः । अशक्ततामिद्रियाणां दृष्ट्वा स्वक्ता भयं मृतेः । भवसागरपाराय भोगेच्छां च परित्यजेत् ॥ शिक्ष-रिणीवृत्तमिदम् ॥ ९ ॥

भा ॰ टी॰ — इन्द्रियोंके शिथिल होनेसे भोगोंकी इच्छा निवृत्तहोगई है, मनुष्योंमेंसे अपना आदरभी घट्टगयाहे, समानअवस्थावालेभी मरगयेंहे, जो इष्ट मित्र हैं वेभी समाप्तहोनेवाले हें, अथवा अपनेसमान हैं, आपभी लक्ष्म होके सहारे उटनेलेगेहें, और नेत्रोंमें घोर अथकार छागयाहे, नथापि यह काया ऐसी निर्लज्ज है कि अपना मरण सुन चिकत हो जातीहें।। ९॥

छप्पय—भगी भोगकी चाह गयो गोरव गुमान सप। मित्र गये सुरलोक अकेले आप रहे अव। उठत सु लक्डी टेक तिमिर आंखनमें छायो। शब्द सुनत निहं कान प्यन पोलत वहकायो। यह दशा बुद्धतनकी तऊ पिक्त होत मिर्गे सुनत। देखो विचित्र गति जगतकी दुखह्कों सुखसों हुनन॥९॥

हिंसाशून्यमयत्नर्लंभ्यमश्तं धात्रां मर्हत्कित्पंतं व्या-र्लोनां पर्शवस्तृणांकुरभुजेः सृष्टीः स्थलीशीयिनः ॥ संसाराणीवरुंघनक्षंमिधियां देंतिः कृतीं सीं नृणीं पीय-न्वेषयेतां प्रयौनित सर्ततं सैंवें समीतिं गुणीः॥ १०॥

संव टीव—विधिष्ठतिषपमां ष्ट्रिसियोच्य कोष्यकार । तिनीत । एक तकान्त्र पालयित पोपपरिति धाता तेन तिसास्त्यं जीववणासितिसयास्तान्त्रं स्वतः एक कार्य भावन्त्रं व्यालानां सर्पाणां सर्वाष्ट्रस्यं पाल्यतं रिवत् । परावत् तृत्यात् स्वतः एक कार्यक् भावन्ति । परावत् तृत्यात् स्वतः भावनितः नित्रात् स्वतः स्वतः स्वतः । परावतः त्यालान्तः स्वतः स्वतः

चितं कृतमितिभावः । धात्रा तु निर्मिता सृष्टिजीविका न यथोचिता । कृतातःसर्वकीनं जीविकादं शिवं भजेत् ॥ १ ॥ शार्द्वव्यिकीडितं वृत्तिभिदम् ॥ १ • ॥

भा॰ टी॰—विधातानें सर्पोंकेलिये हिंसारहित स्वयंपाप्त वायुका भोक जीविका बनाई, और पशु ऐसे बनाये जो घास पात खातेहें, और पृथ्वीप सोतेहें, परन्तु जिनकी बुद्धि संसारं पीसमुद्रके पारकरनेमें समर्थ हैं ऐसे बे मनुष्य हैं उनकी वृत्ति ऐसी बनाई है कि जिसकी खोजमें सम्पूर्ण गुण समाह होजांय पर वह न प्राप्तहोंय ॥ १०॥

छप्यय—विन उद्यम विन पापपवन सर्पनकों दीन्हों। तैसंही सबठौर घास पशुअनंकों कीन्हों। जिनकी निर्मलवृद्धि तल भवसागर समरथ। तिनकी दूवर वृत्ति हरत गुन ज्ञान यंथ गथ। विधि अविध करीं तें अतिअधिक याते नर परघर फिरत। निर्शि घौस पचत तनमन तचत लचत रचत उरझत गिरत॥ १०॥

नं ध्यातं पर्वमिश्वरस्यं विधिवत् संसारविच्छित्तये स्वर्गः द्वारकपाटपाटनपँटुर्धर्मोऽपि ंनोपार्जितः ॥ नारीपीनपयोधः रोरुयुर्गुं स्वैप्तेऽपि ं नीलिङ्गितं मार्तुः केर्वलमेवे योवनकः नैच्छेदे कुठौरा वयम् ॥ ११॥

सं० टी०—अधुनोत्तममध्यमिनकृष्टिमिति जन्मनिह्निविधं फलं क्रमेण दर्शयंति हिमापि न प्राप्तिमित्व । न ध्यातिमिति । संसारस्य जन्ममरणरूपस्य विच्छित्तये विनाशायेश्वास् पदं पादकमलं यथोत्तमैध्यायते तथाऽसमाभिविधिविचित्ते तथाऽसमधीं धर्मी यो मध्यमेः स्वर्गकामेः क्रिंग्रे सोऽप्यसमिनिंग्रार्जितः । अथ च नार्थाः पानौ यौ पयोधरौ स्तनौ ऊरू च तथार्युगुलं द्वयं व पामरं विपयभाग एव पुरुपार्थ इतिमितिभिरािलंग्यते तथाऽसमाभिः स्वर्मेऽपि नािलङ्गितम् । अतः केवलं मातुर्योवनमेव वनं तस्य छेदे कुटारा एव वयं जाताः वृथेव जन्म गतं किमिप न कृतिभित्ति भावः । शिवप्यमानं सदा कार्यमेनसो नाशहेतवे । रागािदिविपयासक्तो न नयेत्कालमात्मनः ॥१॥ वृत्तमं पूर्वोक्तम् ॥ ११॥

भा॰ टी॰--संसारके छेदनकरनेकेलिये ईश्वरके चरणकमलका विशित्त इमने ध्यान नहींकिया, स्वर्गद्वारके कपाट खोळनेमें निपुण धर्मका संबय नहीं किया, और नारीके दृढकुचोंका स्वप्नमेंभी आलिङ्गन नहींकिया, हमतो केवल माताके यौवनरूपी वनके काठनेकेलिये कुठारही उत्पन्नहुए ॥ ११ ॥

छप्पय—विधिसों पूजे नाहिं पांय प्रभुके सुखकारी। प्रभुकी धरो न ध्यान सकल भवदुखकों हारी॥ खोलें खर्गकपाट भर्महू कर्यों न ऐसो । कामिनिकुचके संग रंग भर रह्यों न तैसो। हिर हाय हाय कीन्हों कहा पाय पदारथ नरजनम। जननी-जोवन वन दहन अग्निरूप प्रगटे सु हम॥ ११॥

भोगों ने मुक्ती वर्यमेवं मुक्तीस्त्पोर्न तेप्तं वंयमेवंतप्तीं॥ कौंठो नें यीतो वेंयमेवं यार्तास्तृष्णीं नें जीणी वेंयमेवें जीणीं: ॥ १२ ॥

सं॰ टी॰—भोगाशक्तौ वृद्धावस्थायामनुतपित । भोगा इति । अस्माभिभोगा न भुक्ताः किन्तु वयमेव भोगैर्भुक्तास्तच्छिक्तिशून्या जाताः । तथाऽस्माभिस्तपो न ततं किन्तु वयमेव तताः सन्तापं प्राप्ताः । तथा काळो न यातो गतः किन्तु काळस्य विद्यमानस्वे वयमेव गताः । एवं तृष्णा न जीर्णा जर्जरीभूता अद्यपि तरुणैव वर्तते किन्तु वयमेव जीर्णाः दुर्वळा जाता इत्यर्थः । भोगाद-यस्तु नैवाप्तास्तैः प्राप्तं निधनं खळु ॥ भजे न जीर्णा तृष्णा भेऽहन्तु जीर्णः कथंशिवम् ॥ उपजातिर्शृ-चमिदम् ॥ १२ ॥

भा० टी०—विषयोंको हमने नहीं भोगा किन्तु विषयोंहीने हमेको भोग-लिया अर्थात् विषयोंके भोगनेमें हमही असमर्थ होगये; हमने तप नहीं किया किन्तु तपनेही हमको तपाढाला; काल व्यतीत नहीं हुआ किन्तु हमही व्यतीत होगये अर्थात् हमारीही अवस्था समाप्त होगई; और तृष्णा जीर्ण नहीं हुई किन्तु हमही जीर्ण होगये॥ १२॥

छप्पय-भोग रहे भरपूर आयु यह भुगत गई सव। तप्यो नाहिं तप मृढ अवस्था तपत भई अव। काल न कितह जात वैस यह चलीजात नित। वृद्ध भई नाहि आस वृद्ध वय भई छांड हित। अजहं अचेत चित चेतकर देहगेहसों नेह तज। दुखदों हरन मंगलकरन श्रीहरिहरके चरण भज॥ १२॥ क्षान्तं न क्षमयां ग्रहोचितसुँखं त्यँकं न संतोषतं सोहं दुःसहशीतवाततपर्नाः क्षेत्रीं श्ले तेतं तपेः ॥ ध्यीतं विक्ति हैंनिशं नियमितंत्राणेनी शंभोः पेंदं तेत्तिकेम केंतं येते मुँनिभरतेर्रतः फैंळेरंचितमे ॥ १३॥

सं० टी०—मुनिकर्मसदृशं तप आदि कर्मास्माभिरिप कृतं परंत्राशया द्यारेने तेन फलं किमिप न ल्यामित्याह । क्षान्तमिति । अस्माभिः खलानां दुर्वचनताहनादि क्षानं हें परन्तु क्षमया न किन्त्वशक्तत्या । तथा गृहोचितं यत्सुखं तत्तदिच्छासत्वेऽिप अदृष्टवशाद्यादि स्यक्तं न सन्तोषतः यथालं वृद्या मुनिभिस्यज्यते तथा नेत्यर्थः । तथा शीतं वातश्च तपनय क्षिण् जन्या ये क्षेशाः दुःखविशेषास्तेऽप्यस्माभिः सोहास्तथािप यथा मुनिभिः स्वरुचिवशात्तपत्या किं तथा तपो न ततं किन्तु विपत्त्या दुःखसहनं कृतम् । तथाहानशं वित्तं धनमेव व्यातं किं तमतो नियमितप्राणैः प्राणायामैः शम्भोः पदं स्वरूपं न व्यातं । एवं मुनिभिस्तत्तर्स्तर्यां किं कर्मणां तस्तैः फलेरिबतं पूजितमादरेण कृतिमित्यर्थः । क्षमादिसाधनैर्युक्तेस्यक्ता न गृहसन्तः सोढा मुनिसमाः क्षेशा आश्या विफलीकृताः ॥ १ ॥ शार्डूलविक्तिडितं वृत्तमिदम् ॥ १ ॥

भा० टी०—क्षमा तो हमने की परन्तु धर्मविचार कर नहीं की अर्धात् कर कितासे ही की, घरके सुखोंका त्याग तो किया परन्तु सन्तोपसे त्याग नहीं किया शिता हासह दुःख तो सहनकिया परन्तु तप नहीं किया, और दिनता हमने धनका ध्यान तो किया परन्तु प्राणायापद्वारा शिवचरणारविन्दका ध्यान नहीं किया, इसप्रकार जो जो कर्म मुनि करते हैं वह सब हमने किये परन्तु उनि मुनिलम्यफलों से वंचित रहे अर्थात् उनकमों के करने से जो फल मुनियोंको प्राप्त हुए वह हमको नहीं हुए कारण इसका यही है कि चित्त से दुष्ट आशा दूर नहीं हुई ।।१३॥

छप्य्य--क्षमा क्षमा विन कीन विना संतोष तजे सुख। सहि सीत तप घाम विना तप पाय महादुख। धर्यो विषेको ध्यान चन्द्र शेखर नहि ध्यायो। तज्यो सकल संसार प्यार जब उन विस रायो। मुनि करत काज सोई करें फल दीसत विपरीत अति। अव होत कहा चिन्ता कियें अजहूं कर हरचरणरित ॥ १३॥

वैळिभिर्मुखंमाक्रांन्तं पंळितैरंकिंतं द्वारंः ॥ गात्रांणि द्विथिळार्यन्ते तृष्णिकां तरुणांयते ॥ १४॥ सं १ टी० — पाइंनेयडपि राजापित्यं भवतीति दर्शयति । वर्शति । वर्शितः शिधि-स्वतिनेते मुख्याद्वादः स्थानं तथा पर्छितः स्वक्षेद्रीः शिरोडिहितं चित्तित्त् । गात्राणि तु हस्तपा-दादीने विधित्ययते विधित्तियाचानित अहातानि भवन्तीत्यर्थः । परन्त्रेका तृष्णा विपयभोगाशा परणायते नरणिवाचानि । दुर्वणं यदनं यत्स्या केदीः शृक्षः शिरोडिहितम् । गात्रं तु शिथिछं सर्विमाशा सार्व्यमेत्यरो । अनुसूब्युक्तिमिदम् ॥ १४॥

भार दीर-एदावस्थामें मुखपर सुरी पडगई, सिरके बाल श्वेत होगये, सीर सद अंग शिथिल होगये, परन्तु केवल एक तृष्णाही वहतीजातीहै ॥ १४ ॥ दोहा—सेत चिकुर तन दशन विन वदन भयो ज्यों कूप । गात सबे शिथिलत भये तृष्णा तरुणस्वरूप ॥ १४ ॥

ंयेंनेवाम्यरखंडेर्नं संवीतां निर्दि चन्द्रमाः ॥ ँतेनेवं चं दिवीं भोर्नुरेहो द्रोगेर्देयमेर्तयाः ॥ १५॥

सं० टी० — मृर्यचन्द्रादीनां कारकाणागिष भृत्यानाभित्र नियतप्रशृत्तिरूपक्षेशदर्शना-तत्यद्रादापि विरूच संसारिन रुत्तेष यतित्वयिमिति सृचयित । येनेति । येनेयाम्बरस्याकाशस्य खण्डे-नेकदेशेन पक्षे यद्यत्वरेन निशि रात्रे। चन्द्रमाः संबीतो विष्टितस्तेनैवं चाम्बरखण्डेन दिवा दिवसे भानुः स्थेंऽपि संवेष्टपते । अहो कप्टमेतयोरिप दौर्गत्यं यदि तदा क्षुद्राधिकारित्यतानां किं वक्तव्यभिति भावः । पराधीनतया दुःखं दृष्ट्रा सूर्यादिकष्वि ॥ पेन्द्रान्तं तत्पदं सक्त्वा मुक्तये प्रयतिसुधीः । अनुष्ट्रचृश्त्वमिदम् ॥ १९ ॥

भा० टी॰—जिस आकाशके एक खण्डको ओढकर रात्रिको चन्द्रमा व्यतीत करताहै दिनमें उसीको ओढकर सूर्य व्यतीत करताहै, अहो जब इन्हीकी ें ऐसी दुर्गति है तौ हम क्षुद्रजनोंका क्या कहना ॥ १५॥

दोहा—इक अम्बरके ट्रक्कों निशिमें ओढत चन्द । दिनमें ओढत ताहि रिव तूकत करत छछन्द ॥ १५॥ अवर्ड्यं यार्तारिश्चरत्रेरमुषित्वापि विषयो वियोगे को मेदेरत्यजीत में जैनो येत्स्वयममूर्ते ॥ व्रजन्तः स्वातन्त्रयाँ-दतुरुपरितापाँय मनसः स्वैयं त्यक्ता ह्येते शमसुँखमन-न्तं विद्धैति ॥ १६॥ सं ॰ टी॰—विपयवियोगस्यावर्यं भिवतन्यत्वान्महत्फढत्वेन स्वेच्छ्येत्र स क्रिं इति शिक्षयन्नाह । अवश्यभिति । एते विपयाश्चिरतरं वहुकाछमुपित्वा निवासं इत्वाऽद्वं यातारः स्वेच्छाभावेऽपि गिमेष्यन्ति । स्वेच्छया वा स्वेछाभावे वा वियोगं को भेदो न क्रिंकें भेदोऽस्ति तथापि स्वयं त्यागेन वियोगस्य सम्यक्ति हत्वादयं जनो यद्यसमान् स्वयममृत् हि. यात्र त्यजति तत्तस्य मौद्धमेव । स्वेच्छाभावे वियोगस्य फछं दर्शयन्स्वच्छया वियोगस्यापि फड्वः व्रजन्त इति । एते विपयाः स्वातन्त्र्यात् व्रजन्तः पुरुपस्य त्यागेच्छाभावे गच्छन्ते। मनतेऽद्वं यः परितापस्तस्मै भवन्ति । हीति प्रसिद्धं स्वयं त्यक्ताश्चेतेऽनन्तमपारं यच्छमसुखमनर्यनिद्यपुत्रं यः परितापस्तस्मै भवन्ति । हीति प्रसिद्धं स्वयं त्यक्ताश्चेतेऽनन्तमपारं यच्छमसुखमनर्यनिद्यपुत्रं । क्षितमोक्षानन्दं विद्यति करिष्यन्तीत्पर्यः । भोगा नरं त्यजेयुश्चेद्धृत्तापोऽस्यातुले भवेत् । क्रिं त्यक्तास्तु विषयाः कुर्युः सुखमनुक्तमम् । शिखरिणीवृक्तमिदम् ॥ १६ ॥

भा० टी०—वहुतकालपर्यंत भोगेहुए विषय अन्तमें अवश्य तुमको हो। देंगे तो फिर उनके वियोग होनेमें संशयही क्या रहा; इससे मनुष्यको उनि है कि इनको पहिले स्वयंही त्यागदे, क्योंकि जब वे आपसे छोडेंगें तो मनमें वडा सन्ताप देंगे और जो मनुष्य स्वयं उनको त्याग देगा तो अपारस्वम् भागी होगा ॥ १६॥

छप्पयः — जे वे वारे भोग कहा जो वहुविध विलसे। सह सर्वदा संग रहत नहि काहू मिलसे। तू तौ तिजहें निह आपही ये उठजेहें। तव व्हें है सन्ताप आधिक चितचिन्ता छेहै। जी तजें आप यह विषयसुख तौ सुख होय अनन्त अति। दुस्तर अपार भवसिन्धुके पार होत वह विमलमित ॥ १६॥

विवेकेच्यांकोरो विद्धाति शैमे शाम्यंति तृषाँ पौरिष्णे तुंगे प्रसरतितंशं साँ परिणाँतिः॥ जराजीणेश्वर्ययसनगहनाः क्षेपकृपेणस्तृषापाँत्रं यस्यां भवाति मरुतामध्यिधिपेतिः॥१०॥

सं० टी०—तृष्णाधिकारमाह । विवेकित । तृपा तृष्णा शमे उपशमे सित शाप्ति उपशमे गच्छति । पुनःकारमन् सित । विवेकस्य व्याकोशे विकाशे सित । सा परिणितः तृष्णापि णामः तृष्ठे उन्नते परिष्येष्ठे आधेपे सित प्रसरित । युक्तोऽयमर्थः । अपरापि या विद्यासिनी भवि सा तृष्ठे परिष्येष्ठे सित गितरां प्रसरित न तृ व्याप्ति भजते उच्यावकाशत्यात् तथा सा तृष्णाऽपै। मस्तां देवानामध्यिपतिरिन्दः यस्यां तृष्णायां तृपापात्रं भवित तृष्ठे परिष्येष्ठे छेत्तुमशक्तो भविते । मनुजानां तृ का कथा । किविशिष्टो मस्तामधिपतिः जराजीर्णश्चर्यमसनगहनाक्षेपञ्चरित जराजीर्णभ्वर्यमसनगहनाक्षेपञ्चरित जराजीर्णभ्वर्यं तस्य प्रसनेन यहहनं तस्याक्षेपे ऋपणः विद्यंसेऽसमर्थः । अतःकारणात् तृष्णि गरीयसितिमत्रः । शिष्टिरिणीर्श्वसिद्यम् ॥ १७ ॥

भा० धी० — जब तृटणाकी शांति (निवृत्ति) होतीहै तब विवेक (ज्ञान) ह्र्यके मकाश होनेपर विस तृटणाकी निवृत्तिके होनेसे पुरुप शांतिको प्राप्तहोताहै, और जैसे २ तृटणाका परिपाक अंगमें अतिशय आलिंगितहोताहै वसे वसेही वो तृटणा आलिंगनिकथी नायिकातरह शरीरमें फेलतीहै, और जब तृटणाका अनादर होताहै तब तिरस्कृतनायिकाकीतरह तृटणाभी निवृत्त होतीहैं; देखो जिस तृटणाके विद्यमानहोनेसे जराजीण ऐक्वर्यके प्रसनेसे (नाशसें) जो दुःख है उसके द्रकरनेको असमर्थ जो महद्रणाका पति इंद्र है वोभी उस तृटणाका पात्र (आधार) होताहै इसमें जानतेहैं कि तृटणा बढी मबलहै ॥ १७॥

छएपय—तृष्णा मूल नसाय होय जब ज्ञान उदय मन। भये विषयमें लीन बढ़े दिनपर दिन चौगुन। जैसे मुग्धा नार किटन-कुच हाथ लगावत। बढत काममद अधिक अधिक तनमे सरसावत। जराजीर्ण ऐश्वर्यत्यागमें लगे कृपण अति। होय तृपाको पात्र रंक पति बन्यों देवपति॥ १७॥

भिक्षाद्वानं तदिष नीर्समिकवारं शर्या च भूः परिजनो निजदेहमार्त्रम् ॥ वैक्षं चै जीर्णशतखण्डमछीनकन्था हाँ हीं तथीषि विषया ने परित्येजाति ॥ १८॥

सं टी०---कामादिविषयप्रावल्यं दर्शयति । मिक्षादानमिति । अनेकगृहयावालव्य-या भिक्षयाऽशनं भोजनं तदिष नीरसं मधुरादिरसवर्जितं सृक्षमेकवारं च । शय्या च मुः शप्योन् पकरणद्दीना पृथ्वी । परिजनः परिवारो निजदहमात्रं न तु पुषकल्वादयः । वस्तं तु जीर्णिनि शतानि खण्डानि प्रचुराणि यस्यां सा यान्या । हा हाऽहो षाष्टं तथापि सर्वप्रकारितिनमि जन विषया न परित्यजनित वैसम्यं विना पुरुषं न जहतीत्यर्थः । अशनादिनितीनं च परिवारेण वर्जिन्तम् ॥ देहमात्रावशिष्टी हा विषया न त्यजनित माम् ॥ १ ॥ वसन्तितिष्यानृत्तम् ॥ १८ ॥

भा० टी०—जो भिक्षा मांगर् खातेर सोभी नीरस खेर एकदार ही मिलतीहै, भूमिही जिनकी घट्या है, स्वदेहमान्नी जिनका परिवार है, बार जो सेफटों दुक्टोंने पनीहरू जीर्णकन्याओं धारणकरेतेरें, हाय ! दिएपवास-ना उनकाभी त्याग नहीकरतीर ॥ १८॥

छप्पय—भीख अन्न एकवार लीन विन खाय रहतहं। फरी गुदडी ओढ वृक्षकी छाँह गहतहं। घास पात कछ डांसि भूमि पर नितप्रति सोवत। राख्यो तन परिवार भार यह ताकी ढोवत। इह भांति रहत चाहत न कछ तऊ विषय वाधा करत। हिर हाय तेरी सरन आय पर्यो इनसों डरत॥ १८॥

रूपतिरस्कामाइ।

रतेनो मांसयंथी कनेककलँशावित्युपिनतो मुखं छेष्मा गाँरं तर्द्धि चं शर्शांकेन तुलितेम्॥ स्वेन्मूत्रक्किन्नं करिवरक रेरेपिधं जर्धनेमहो निधं रूपं कविर्जनविशेषेगुरे कृतम्॥१९॥

सं टी - स्त्रीणां रूपं किवजनिवशेषैः कि विश्रेष्टेर्गुरु महत् रमणीयमितिमानः । कृतं किएतं यस्तुतस्तदितिनिद्यमित्याह् । स्तनाविति । अहो इति दुःखे निद्यरूपं किवजनिवशेषित्रं कृतं किएतम् । कथं निद्यम् । स्तना कुची मांसस्य प्रन्था । परमित्युपमितौ उपमानितौ । इति कि किनक्षकछशो सुवर्णकछशो । चान्यत् मुखं स्त्रेष्ट्यागारं तदिष च शशाङ्किन तुष्टितं चन्द्रमसा समिनं कृतम् । जघनं स्त्रवन्मूत्रेण क्रिनमार्द्र तदिष किरवरकरस्पित्रं गजेन्द्रशुण्डादण्डेन स्पर्धाकार्कं तत्सादश्येनवितिनित्रमा किवीभरितरमणीयत्वेन विजितमिष स्त्रीरूपमितिनित्यम तस्तिद्विप्रोऽ स्यन्तामिछापो न स्वीकरणीय इतिभावः । शिखिरणीवृत्तिमिदम् ॥ १९॥

भा० टी०—सियों के स्तन हैं तौ मांसके लोथडे परन्तु उनको उपमा दी गई है सुवर्णकल शकी अर्थात् उनको ऐसे सुन्दर बताते हैं जैसे सुवर्णके कल्य, सुख है तौ कफका स्थान परन्तु उसकी ठलना करते हैं चन्द्रमासे अर्थात् सुलको चन्द्रमाकेसमान कान्तिमान् वताते हैं, स्त्रीके जधन हैं तौ मूत्रसे भीगे हुए पान् उनको उपमा देते हैं गजेन्द्रके शुण्डकी, इसमकार निन्दित रूपको कविजनाने देखों कैसा वे परिमाण ववादियाई॥ १९॥

छुप्य—कुच आभिपकी गांठ कनकके कलश कहत किन । मुखहू कफको धाम कहत शाशके समान छिन । इस्त मूत्र अरु धातु भरी दुर्गंध ठोर सन । ताकों चम्पकनेल कहत रस रेल ठेल दन । यह नारी निहारी निन्दतन नहके निप्यी नानरे । याकों नदाय नांको निरद नोले महुत उतानरे ॥ १९॥ अर्जानन्माहातेम्यं पततुं शर्लभो तीव्रद्हॅने सं मी-नेर्डिं प्यज्ञानोद्दीडशंयुंतमश्चातुं पिशितम्याविजॉनन्तोऽप्ये -ते वैयमिहं विपज्जालजिटलें हो मुश्रामें कामीनहें है गैं-हनो मोहमहिमीं ॥ २०॥

सं टी • अधुना मोहमाहात्म्यं चिन्तयननुतपति । अजानन्तिति । शल्भः कीटिवशेपस्तीव्रह्नस्य प्रव्विलाग्नेमीहात्म्यं भस्मीकरणरूपमज्ञानंस्तरिमनेव पततु । स मीनो मस्योऽ
प्यज्ञानान्मारकत्वज्ञानाभायाद्विहोन लोहकण्टकेन युतं पिशितं मांसमश्रातु खादतु । वयं त्वेते
संसारिणो विपदांजालैः सम्हैर्जिटिलानुद्ग्रिथतान् कामान् विषयभोगान् इह संसारे जानन्तोऽपि न
मुखामोऽहहाहो कष्टं मोहस्य महिमा गहनोऽतक्यं इत्यर्थः। नश्यतो विषयात्रान्तानज्ञान् ज्ञानविशेपतः। पश्यन्तोऽपि न तत्त्यागं कुर्मो मोहप्रमावतः॥ १॥ शाखरिणीवृत्तमिदम्॥ २०॥

भा० टी०—पतङ्ग अग्निकी शिखामें गिरताहै परन्तु वह यह नहीं जानता कि उसमें गिरनेसे भस्म होनाऊंगा, मछली वंशीमें लगेहुए मांसको खातीहै परन्तु वह यह नहीं जानती कि इसके खानेसे कांटा उसके कण्डमे छिदेगा किन्तु हमको देखो कि हम जानतेहुएभी इन दुःखदायी विषयोंको नहीं त्यागवेहैं। अहो यह मोहमहिमा कैसी मवलहैं! ॥ २०॥

छप्पय—जानत नांहि पतंग अग्निको तेजमयी तन। गिरत रूपकों देखि जरत अपने अविवेकन। तैसेही यह मीन मांसको लोभ लुभायो। कण्टक जानत नांहि न्याय वह कण्ठ छिदायो। हम जान बृझ संकट सहत छांड सकत नहि जगतसुख। यह महा मोहमहिमा प्रवल देत दुहुनकों दोप दुख॥ २०॥

अथ दुर्जनमुद्दिश्याह।

फलेमलेंमशनांय स्वादुं पानोंय तोयं शर्यनमविन्षृष्ठे वासेंसी वेंल्कले चे ॥ धनलवमधुपानभ्रान्तसवेंन्द्रियाणीं-मविनेंयमनुमेन्तुं नोत्सेंहे दुर्जनानींम् ॥ २१॥ सं० टी०—येनकेतिचिनिर्वाहे धाननां निरादरों न सोढ्य इसाह । फलानी। अश्वनाय भोजनाय फलमलं पर्य्याप्तमस्ति । पानाय स्त्राहु तोयमलम् । अश्वनिष्टृष्टे शयनमल्य। व्यक्तिले हे वाससी अलिमेशेवंवियं सतां वृत्तमेवं सित धनस्य ल्यो लेशः सएव मधु मादकसुरा स्थानतान्यस्थिराणींद्रियाणि येपां तेपां दुर्जनानामायेनयं औद्धत्यलक्षणमप्रमानमनुमन्तुं स्वीकृषं तु नोत्सहे पामराः सहन्ति चेत्तिहे सहत्वहं तु न सहामीत्यर्थः । यसनं चाशनं धात्रा तक्षि निर्मितं जलम् ॥ शयनं विपुलं भूमिर्दुर्वाक्यं कि वृथा सहे ॥ १ ॥ मालिनीवृत्तिमदम् ॥ २०॥

भा० टी०—फल भोजन करनेकेलिये, मधुर जल पीनेको, पृथ्वी अपन करनेकेलिये, और वृक्षकी छाल पहिरनेकेलिये यथेष्ट है फिर धनरूपी मिरिए। उन्मत्त दुर्जनोंके सन्मुख निरादर सहनकरनेकेलिये क्यों उत्सुक हों॥ २१॥

दोहा--भूमिशयन वल्कल वसन फल भोजन जलपान। धनसद साते नरनको कौन सहत अपसान॥ २१॥

मानितासुद्दिश्याह।

विपुलेहद्येर्धन्येः केश्चिज्ञगंजितितं पुराँ विर्धृतमपरिंश् 'तं चान्ये' विजित्यं तृणं यथौ ॥ इहं हि" भुवनान्यं धीर्राश्चतुर्दशं भुञ्जते कतिपयपुरस्वीन्ये पुर्सां के एषे मद्जीरः ॥ २२ ॥

मं० ठी०—स्वस्पतास्य नराणां मदाधिक्यमनुचितिमित्याह । विषुळहर्येरिति । क्षेत्र हत्युत्वेर्वितुष्ठहर्येः सर्वद्वयुद्धिनः केथिदेतज्ञगत्युरा जानितमुनादितमप्रैरिवृतं पाठितम्योक्ष्यः विक्तस्य हमं यथा दीयते तथा दत्ते । इह ि अधुनाऽत्ये धीराः सन्तुराभागि मुक्ति प्रत्यक्षित । एवं सित किथियागां हितियतुर्गा पुराणां स्वास्य आविष्यं प्रत्यं स्वर्थाः पर्वार्थः यः विचारे सित कोऽत्यिभागो मदेन कर्तु नेशित ह्यर्थः । क्ष्यत्य परित्र ह्यर्थः । विचारे सित कोऽत्यिभागो मदेन कर्तु नेशित ह्यर्थः । क्ष्यत्य विकार विकार स्वर्थः । विचारे सम्बन्धः परित्रमः । विकार त्याव्यक्तमन्ये मोठ्याभिगानिनः ॥ रेप्तित्यः विकार स्वर्थः २२ ॥

चार टीट-चेंदिन पंत परीत महात्मा हुए निनेन यह जगत् वस्त दिया, बोर्ट पेसे हुए निनेन इस जगतको धारणीतया, कोर्ट पेसे पूर्व विके इस जगहरी दिल्लाक समात हुन्छ समावता देवादा, बीर कोर्ट पेसे धार हैं चेंद्रह सुद्राविको बाउदिर्ट, (इनकोरी कुछनी अभिमान स पूजा) परम्ह हैं इन केंदिन हार्विका सनुष्य पाक्ष मनुष्यको किया अभिमान संसाह ॥ २२॥ एएपय-भिषे जगतमं धन्य धीर जिन जगत रच्योंहै। पाह धारी शीश अजी यह नौहिं लच्यों है। काह दीनो दान जीत काह यस कीनों। शुद्रन चनुर्दश भोग कहों। काह जस लीनों। एकसों एक अधिकहि सबे नुम हो तिनसें तुच्छिनत। दस यीस नगरके नृपति दहें यह सदको न्वर तोहि कित॥ २२॥

निरष्ट्राणायधिकारनाह्।

त्यं रोजा वंयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः रूपा-तर्स्वं विभविविधांसि कवियो दिश्चे प्रतन्वैन्ति नेः॥ ईर्थं मानेंद्र नातिदूरमुभेयोरंप्यीवयोरन्तेरं थैयस्मासुं पराङ्मु-खोऽसि वेयिमेप्येकान्तेतो निस्पृहीः॥ २३॥

सं० टी०——अध यतिराहोः संदादं याध्यंस्तत्र ताध्यत्रिधंनं कधिद्राजानमाह । स्विभिते हार्था । हे मानद मानं ददातीति मानदः तरतंतुह्ये। हे मानद स्वं राजा राज्याभिमानी ययमिष लपातितः सेथितो यो गुरुस्तरमाह्य्व्या या प्रज्ञा सदसाद्विवेकशालिनी बुद्धिस्तद्भिमानेनोन्स्ता लज्ञति प्राप्ताः । स्वं विभविभविज्ञतुरमादिसम्बद्धिः स्वातः प्रसिद्धः नोऽस्माकन्तु यशांसि कवयः परगुणवितारो दिश्च प्रतन्त्रनित विस्तारयन्ति । स्त्यममुना प्रकोरण मानं चिति खण्डयति ददाति या तस्तंभ्वेधनं हे मानद ! आवयोरुभयोरन्तरं भेदोऽतिदूरं नास्ति तथापि यद्यस्मानुं पराङ्मुखः लदासीनोऽसि तर्हि वयमप्येकान्ततो नियमेन निस्पृहास्तवेच्छास्न्या इत्यर्थः । विस्क्तो गुरुतो लब्ब्या प्रज्ञां च भवतारिकाम । राज्याभिमानिनं तुन्छं ज्ञात्वा भूमी समाचरेत् ॥ १ ॥ शार्द्व्विक्ती-हितं वृत्वभिदम् ॥ २३ ॥

भा० टी०--हे राजन ! तूं राज्याभिमानी हे तौ हमभी गुरुकी सेवा करके उत्तम बुद्धि प्राप्तकर उचपदको प्राप्तहुएहें, और तूं यदि अपने धनके कारण प्रसिद्ध है तौ देख हमारे यज्ञोंका वर्णन किवगण देश देशान्तरोंमें कररहेहें, इस-प्रकार हे मानद ! (मानके खंडन करनेवाले अथवा मान देनेवाले) तुझमें और हममें बहुत अन्तर नहीं है इसपरभी तूं यदि हमसे गुख फेरता है तौ हम तुझसेभी अधिक निस्प्रह हैं ॥ २३ ॥

भर्नृहरिनिराचितं-

छ्प्य — नुम एथ्वीपति भूप भरे अभिमान विराजत। इम पाई गुरु गेह बुद्धि वल ताके गाजत। तुम धनसों विष्पात मुक्ति गावत कल्लु पावत। हम जससों विष्यात रहत निश्चि पात पठावत। तुम हमिहं बीच अन्तर बड़ी देखी सोच विचार चिन। एते पर जो मुख फेर हो तो हमकों एकान्त हित॥२३॥ अभक्तांयां यसैयां क्षणमिषि नै यांतं नपंजतिर्भवस्तस्या

नित्र। एते पर जो मुल फेर हो तो हमकों एकान्त हित ॥२३॥ अभुकें।यां यस्यां क्षणमिष ने यांतं नृपंज्ञतिभीवस्तर्या लोने के इर्थ वहुनीनः क्षितिभुजीम्॥ तदंशीस्याप्यशे तद् व्यविद्योपयेशे तद्

मृिलेंण्डो जलरेखया वलियतंः सैवॉडिंपेयं नं त्वण्रंगीमिर्थ सं एवं संयुगर्शति श्रेंज्ञां मिणिर्भुज्यते ॥ नो देंधुंदेदेतेऽथवीं किमेपि ते' क्षुद्री दरिद्री भ्रेंशं धिकैं धिकैं ती-पुस्पिधमान्धनकेणं वार्ज्डीनत तेर्केयोऽपि ये ॥ २५॥

सं० टी०-धुदा दरिद्रास्तावदाजानस्तेभ्यो धनकणं ये वाच्छन्ति तान् धिक्कारयित ! मृतिण्ड रिते । सर्वोऽप्ययं मृतिण्डो भूभागो जलरेखया समुद्ररूपया वलियतो बेष्टितोऽतो निवार्यभाणे प्रवाभूतेषु गगनादारभ्य वाज्वादीनां द्वातगुणन्यूनतया सर्वोपेक्षया पृथिज्या न्यूनत्वाननु निश्चेनाणुः सूष्मस्तमेव मृतिपण्डं राज्ञां गणाः संयुगानां संप्रामाणां हातैः स्वांशीक्रस्य स्वस्वभागं स्वा मृक्कते । भृद्रामतिहायेन क्षुद्रा दरिद्रास्ते राजानः पूर्व नो दद्यरथवेदानी किमिप ददते तेभयोऽपि वे मन्दा धनलवं वाष्ट्रित्रेन तान् पुरुनेज्वधमान् धिक् धिक् । लक्ष्वी पृथ्वी समुद्दिश्य युद्धं कृत्वा सहस्वशः। हथैः सा भुज्यते तेभयो धनं वाष्ट्रशन्त तांस्तु धिक् ॥ १॥ हाार्द्व्विकीडितं वृत्तमिदम् ॥ २ ९॥ सहस्वशः। हथैः सा भुज्यते तेभयो धनं वाष्ट्रशन्त तांस्तु धिक् ॥ १॥ हाार्द्व्विकीडितं वृत्तमिदम् ॥ २ ९॥

मा० टी०—यह सम्पूर्ण पृथ्वी भिट्टीका एक बहुत छोटा थिण्ड है जो गरांगोर समुद्रक्तथी पानीकी रेखासे धिराहुआ है, फिर मृत्तिका हे इसी छोटेसे थिएको अनेक राजागण आपसमें युद्ध फर छोटे छोटे भागोंपर अपना स्वत्व भगकर राज करतेंहें, ऐसे क्षुत्र और दिरद्री राजाओंको दानी कहकर परीक्षा करतेंहें कि देखें अवभी दान देतेंहें वा नहीं इसतरह इन नीचोंसे धनकी आक्षा करनेवाले अधम पुरुपोंको धिकार है॥ २५॥

छप्प्य—एक मृतिकाको पिण्ड रहत जलमांहि निरन्तर। सोऊ सवही नाहि तनकसो ताहूमें डर। करत हजारन जंग भूप तब भोग करत वित। मिटत आपनी प्यास दानको होत कहा वित। ऐसे दरिद्र दुखसों भरे तिनहुं सो जो चहत धन। धि-कार जन्म वा अधमकों सदा सर्वदा ठीन मन॥ २५॥

दुभगसेवकस्य वाक्यमाह ।

नं विटां ने नर्टा ने गार्थका ने परद्रोहनिवर्द्धेवुद्धयः॥ तैव संसैदि के वैंयं विभो स्तनभारोन्नभितीं ने योषिता।२६॥

100

संo टीo—न नटा इति । हे नृप। तत्र संसीट सभायां ये योग्यासेतपु वयं केन केशे भवामः । एतदेवाह न नटा नर्तका न विटाः प्रस्तायोक्तिभिः प्रसादकरा न । नापि परद्रोहे निवद्धा वृद्धिरेरोताहशाः पिशुना इत्यर्थः । न च स्तनभारेणेक्ति नतीभूताः हित्यो वयं भवामः । एते मद्यक्तास्तव प्रिया भवन्ति तेषां मध्ये वयं सन्यासिनः न केशे त्येथः । अतस्तव प्रीतिरस्मासु कथं भवेदिति भावः । नटादिसक्तं राजानं कुकथाश्रवणित्रम् । स्वात्मानं तदनहें च पश्यन्यतिव्भेतर्कयत् ॥ १ ॥ वेतालीयं वृक्तांसदम् ॥ २६ ॥

आ॰ टी॰-हे राजन्! न तौ हम नट हैं, न हम विट हैं, न गवेंगे हैं। परद्रोह फरनेकी हमारी इच्छा है, और न हम स्तनोंके भारसे नमीहुई हिं^क हैं, फिर हमको तेरी सभामें कौन पृष्टेगा ॥ २६ ॥

दोहा—नट भट विट गायन नहीं नहिं नादिनके माहिं। कौन थांति भूपति सिलन तरुणीओ हम नाहिं॥१६॥

पुर्श विद्वेत्तांसीद्धपद्मानवैतां क्षेत्राहतंथे गतां काठेनासी विषयसुखिसदेथे विषयिणार्म्॥ इदीनीं सन्त्रेक्ष्यें क्षितितः लिंगुंजः शाह्मविर्मुखानेहों केष्टं सींऽपि प्रतिदिनमधी प्रिंश प्रविद्वेतं ॥ २७॥

सं० टी०—अधुना कालप्रभावात् साहिद्याया उत्तरोत्तरं व्हासं पश्यन्ननुतपित । पुरेति । अभे विदुपो भावे। विह्या पाण्डित्यममंलिनिवयां न कामजीवादिना मलिना वीर्येपां तेषां मुमुक्ष्णां हेशह्त्ये देश्यनात्ममु आत्मश्रान्यादिनिवृत्तपे आसीद्भवत् । असी विद्या कालेन पश्चात् किवित्सम्वेन विपिषणां वाभिनां यदिपयमुखं तिस्तद्वये गता प्राता । इदानी वर्भमानकाले क्वितितलभुनो गर्वः शास्त्रविमुखान् शालाश्रवणहित्याजीतान् सम्श्रेष्य द्वष्ट्वः साइनि विषयमुखसाधिकाडपि प्रतिदिनमुत्ती त्तरम्योऽयो नीर्चनित्तेः प्रविदाति विषयमुखम्य न माध्यत्यहे। दीर्माणं लोकस्येत्त्ययः । विद्रश्च पुग्नस्वानीत् मृत्यमं हशहादिणां । तत्तिः अभृहिषयप्रार्थये याधुना नास्ति साइपि वै । शिलाणि इत्तरिद्यः ॥ २७ ॥

भाव टी॰—पिछले ती विद्या पण्डितोंको छेश दूर करनेके निर्मित थी किर कुछ समय व्यकीन होतेषर यह दासीजनोंकी विषयसुखिसद्धीका हेते औं और यह इससमयमें ती वह विद्यामी राजाओंको शास्त्रविमुख देखकर प्रतिद्धि अधेरितिको माप्र होतीजातीर ॥ २७ ॥ दोहा—-विद्या दुखनाशक हती फेर वि य सुख दीन । जात रसातलकों चली देख नृपन्ह मतहीन ॥२७॥ साहंकारं पुरुषमुद्दिश्याह ।

सं जोंतः केऽप्यासिन्मद्नारिपुणां मूर्धिं घवँ कर्पालं यंस्योचे विनिहित्सालंकारिविधये ॥ र्वंभिः प्राणत्राणप्रव-णमितिभिः केश्चिद्धनीं नमिद्धिः केः पुंसीमयमतुलदर्प-व्यरभैरः॥ २८॥

सं० ६१०—अधुना प्राणपे।पक्षमृदजनक्रतप्रणामेनाहं क्रतार्थ इसिमानो नोचित इसाह। स ज.त इति। एरा स प्रतिस्ते, जात उत्पन्नः सन् कोऽप्यचिन्त्यमिहमाऽऽसीत्। यस्य धवलमुज्जवं कपालं शिरोऽस्थि मदनिरिषुणा महादेवेनालङ्कारांवधये शोमार्थ मूर्धि स्वमस्तके उचैरादरपूर्वकं ययास्यात्त्रया विशेषेण निंदितं स्थापितम्। अपुनः प्राणानां त्राणे रक्षणे प्रवणा प्रवाहयती
मतिर्पपां तैः केश्चित्रृभिर्नमिद्धः सद्धिः एसां धनिवद्याभासवतामयं प्रत्यक्षीऽतुल्लेऽनुपमे। द्रपेंऽभिमानः
स एव ज्वरस्तस्य भरो भारः कः वयमीश्वरा यानेति नमन्तित्यभिमानः कर्तुमयोग्य इत्यर्थः।
शिखरिषात्रिः।वृत्तीनदम्॥ २८॥

भा० टी०--पहिले तो ऐसे मनुष्य उत्पन्न हुए जिनके उज्बलकपालों-की मालाको शिवजीने शोभाकेलिये अपने मस्तकपर धारणाकिया, अब देखो अपने प्राण पोपणकरनेवाले थोडेसे मनुष्योद्वारा प्रतिष्ठा पाकर मनुष्य अभिमान-स्पी ज्वरसे केसे भारी होरहेहैं॥ २८॥

दोहा—ऐसे हू जगमें भये मुण्डमाल शिव कीन।
धनलोभी नर नवतलिख तुमको मद ज्वर लीन ॥२८॥
अर्थानामिशिषे त्वं वर्यमिष च गिरामिर्हमहे यांविद्धिं
देरस्तैं वादिदर्पज्वरशमनिधींवक्षींयं पार्टवं नैः ॥ सेवेन्ते
तैं धनार्ट्या मितमलहैंतये मीमिषि श्रोतिकामा मर्ट्येप्यास्थी ने चे तैंत्वेंिय ममें सुतरामेषे राजेन गैतोऽहिर्म ॥२९॥

सं० टी०—अर्थानामिति । हे राजन् ! त्वमर्थानां मोगसाधनद्रव्याणामीशिपे ईशिता भविसे वयमपि च गिरां वाणीनां इसमेहे ईशितार: समः । त्वं शूरोऽसि नोऽस्माकमपि वादिनां यो द्पीऽहङ्कार: स एव ज्वरस्तस्य शमनविधो शान्तिकरणे अक्षयं पाटवं कुशळत्वमिति । धनान्वा धनप्राप्तये गतिविवेकास्त्वां सेवन्ते मितमळहत्तये बुद्धिस्थाज्ञाननाशायोपनिपदादिशाम्त्रं श्रीतुकामा मामिप सेवन्ते । यावद्स्मादित्थमुक्तेन प्रकारेण समत्वेऽपि मिय चेद्यदि हे राजंस्तवास्था विश्वासो न तिर्हि त्विय मम सुतरामास्था नेत्येपस्तव प्रत्यक्षोऽहं गतोऽस्मि गच्छामीत्यर्थः । नृपस्य यतिसाम्येऽपि भवत्येका विशेषता ।। राजानो नरकं यान्ति यतिर्विण्णोः परं पदम् ॥ १ ॥ स्वय्वरावृत्तमिदम् ॥ २ ॥

भा० टी०—हे राजन्! यदि तूं धनके कोपका स्वामी है तो हमभी वाणीके ईश्वर हैं, तूं युद्ध करनेमें शूर है तो हम वादियोंके अहंकाररूपी ज्वरके नाशकरनेमें कुशल हैं, तुमको धनाथिलोग सेवनकरतेहैं तो हमकोभी बुद्धिकी मिलनता दूर करनेकेलिये शास्त्रश्रवणकरनेकी इच्छावाले मतुष्य सेवनकरतेहैं, इसपकार समता होनेपरभी हे राजन्! यदि तुझारी श्रद्धा हममें नहींहै तो हमारीभी तुममें कुछ आस्था नहींहै, लो अब हम जातेहें॥ २९॥

छप्य--तुम अवनीके ईश ईश हमहूं वाणीके। तुम हों-रणमें धीर वीर गाढे अति जीके। त्योंही विद्यावाद करत हमहूं निहं हते। प्रतिपक्षीके सान सार अपने विस्तारे। सब लोभी नर सेवत तुझें हमको सिव श्रोता भले। तुमकों न हमारी चाह तो हमहूं ह्यांसे उठचले॥ २९॥

निमर्भतास्वरूपसाह।

सं० टी०—अयुना संसोर उत्पन्नग्छानिर्गङ्गातीरे सप्रेम शिवान्हानं प्रतिजानीते । अतिकान्त इति । हे सखे । छटभछछनाभोगसुभगः छटभाः प्रातछावण्या या छछनाः ख्रियस्तासी भोगेन सुभगो मनोज्ञे। यः काछः सोऽतिकान्तो गतः वयं तु इह संसारसरणा जननमरणछक्षणे संसारमार्गे सचिरं बहुकाछं श्रमन्तः सन्तः श्रान्ता ग्छानि प्रातास्म तस्मादिदानी स्वःसिन्बोः स्वर्गनी पालटस्वि तीरभूमं। मुनारे: फून्यारे: समाजन्दनागर: उत्थर्यसहितेरूर्धश्वासे: सह सप्रेमा गहरा गीविषां तारशा: सन्तो वर्ष हे शिव हे शिव हे शिवत्यमुना प्रकारेण शिवेत्युत्तमं नाम प्रतन्ती विस्तारयामे। न पुन: संसोर भोगद्यारे कुर्म इत्यर्थ:।मानुपं जन्म सम्प्राप्य भोगांस्यक्वाऽथ द्रतः। गङ्गातीरे शिवाव्हानं कुर्यात् सप्रेमिधक्वलः॥ १॥ शिखरिणीवृत्तमिदम्॥ ३०॥

भार टी र--हे तखे ! सुन्दर २ स्त्रियोंके संग भोग करनेमें सुभग यौवन-काल तो व्यतीत होगया और अब हम इस संसारसरणिमें भ्रमणकरतेहुए वहुत यकार्येहं, अब तो हम श्रीगङ्गाजीके तटपर उचस्वरसे प्रेमपूर्वक शिव शिव ऐसा कहतेहुए जप करेंगे और पुनः संसारमें भोगदृष्टि न करेंगे ॥ ३०॥

दोहा-रमणकाल योवन गयो थक्यो भ्रमत संसार।

देहुं गंगतट शेपवय शिव शिव जपत विसार ॥ ३०॥

मीन स्लोयिनि खण्डिते चै वसुँनि व्यथं प्रयातेऽथिनि क्षीणे वन्धुंजने भैते परिजैने नेष्टे देंनियेंविने ॥ युंकं केवेंलमेर्तिदेव सुधियां येजन्हुकन्यापयःपूत्रयाविगरीन्द्रक-न्द्ररदरीकुँक्जे निवासैं कचित् ॥ ३१॥

सं० टी०—सर्वहानी गङ्गातीरगिरिगुहानिवास एवोचित इत्याह । माने इति । माने सत्कारे म्हायिनि क्षणि सति, वसुनि धने च खण्डिते नष्ट सति, अर्थिनि याचके व्यथ स्वगृहानि-राशे प्रयाते गते सति, वन्धुजने पुत्रभार्थादौ क्षणि नाशं प्राप्ते सति, परिजने मृत्यवर्गे वेतनाभावेन गते निर्गते सति, योवने शर्नेनष्टे सति, तदा सुधियां प्राज्ञानां केवलमेतदेव युक्तम् । किमेतज्जन्हु-कन्या श्रीगङ्गा तस्याः पयसा पूता प्रावाणः शिला यस्य ताहशो यो गिरीन्द्रो हिमालयस्तस्य कन्दरे महागते या दर्री स्वल्पो गर्तस्तस्याः कुञ्जे लतापिहितस्थाने किचिन्नेवासः कर्तव्य इति । सन्माने गिलिते नष्टे योवने विलयं गते । परिवारे शिवः सेव्यो गङ्गातीर्रानिवासिना ॥ १ ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तिम्दम् ॥ ३१ ॥

भा० टी०-इस समय जब मान नष्ट होगयाहै, धनका नाश होगयाहै, याचकगण विमुख होनेछगेहैं, भाता स्त्री पुत्रादि नष्ट होगयेहें, और शनैः शनैः युवावस्थाभी नष्ट होतीजातीहे, तो अब बुद्धिमान् मनुष्योंको उचित है की श्रीगङ्गाजीके जलसे पावित्रकीहुई हिमालयपर्वतकी किसी गुहामें निवास करें॥ ३१॥

दोहा—गयो मान जोवन रु धन भिक्षुक जात निरास। अव तो मोको उचित यह श्रीगङ्गातटवास॥३१॥ परेषां चेतांसि त्रतिदिवसमाराध्यं वर्हुधा त्रसादं किं नेतुं विश्वीस हद्यं क्लेश्वकिलेम् ॥ प्रसादं किं स्वयमुदितचिन्तामणिभुणे विमुक्तः संकर्दणः किमीभिलेषितं पुष्यिति ने ते ॥ ३२॥

सं० टी०——चित्तं प्रायो बोधयन् हे चेतः! पराराधनमुःस्टब्य स्वशुद्धी यःनो विभेष इत्याह। परेपामिति। हे हृद्य! परेपामन्येपां धनमन्दाधानां चेतांसि प्रतिदिवसं बहुधा नानाप्रकारणाराच्य प्रसादं परेपां प्रसन्नतां नेतुं प्रापयितुं किं कस्मात् हेशालक्षणं कललं पंकं विशासि तत्र मग्नो भवसि। ननु परेपां प्रसादे ते ममाभिलिपतं पूर्यिष्यन्तीति तत्राह। प्रसन्न इति। अन्तः स्वानन्येय स्वयं स्वेनेय व्यथि प्रसन्ने साति ते तत्र विविक्तः शुद्धः सङ्कल्पस्तेऽभिलिपतमीतितं किं न पुष्यिति पुष्टं न करिष्यिति। कथंभृते व्यथि उदित उत्पन्नश्चिन्तामणेर्गुणः सर्वेष्सतप्रकारण्यः सर्वेषा यास्मस्तिसन् स्वयं व्यथि प्रसन्ने पदार्थचनुष्टयं मिलिष्यतीति भावः। यथान्येपां प्रसादाय यतने मन्त्रोऽनिशम्। तथा स्वान्तःप्रसादाय यतते किं न मृहधीः।। १॥ शिखरिणीष्टत्तिमदम्॥ १२॥

भा० टी०—हे मन! नानाप्रकारसे प्रतिदिन पराये चित्तको प्रसन्न करनेकेलिये तृं क्यों हेशक्षी कीचडमें फंसताहै, अपनेहीमें प्रसन्न होतर जब तृं चिन्तामणिकेसे गुण प्रगटकरेगा अधीत् शान्ति सन्तोप आदि गुण प्रहण करेगा तो क्या तरे शुद्ध वाञ्छित संकल्प पूरे न होंगे॥ ३९॥

दोहा—नृही रीझत क्यों नहीं कहा रिझावत और । तेरेही आनन्दसे चिन्तामणि सवटौर ॥ ३२ ॥ अथ भोगपद्यतिः ।

भोगे रोगंभेयं कुँछ च्युतिभैयं वित्ते नृपार्छाह्यं भीने देन्यभेयं देखे रिपुभैयं केंपे जर्राया भयेम् ॥ शांखे वार्टभयं गुँपे त्वर्लभयं कींचे कृतीन्तार्ह्यं सैर्थ वर्र्तु भयात्विनं भृषि नृणां वैराग्यमेवीनियम् ॥ ३६ ॥

सीत ही द — दराजी विशवनारी राज्य द्वीतराराजीत । भीषा द्वीत । भीषा प्रति विशिक्षित ही जिल्हें विशापक भणीत के व्यक्तियर जाता है। प्रारंजित वैश्वीति अपनी व्यक्ति स्थान स्थापक स्थापक वैराग्यमेवाभयं वेराग्यवतो भयं कुतोऽपि नास्तीत्पर्थः । देहाभिमानयुक्तस्य भयमस्ति तृणादपि । सर्वस्मात् किं विरक्तस्य ब्रह्मणोऽपि भयं भवेत् ॥ १ ॥ शार्वृत्वविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ३३ ॥

भा० टी॰—भोगीको रोगका भय है, कुछीनको क्षतिका भय है, धनीको राजाका भय है, मोनीको दीनताका भय है, बलवानको बहुका भय है, म्यको जरावस्थाका भय है, बाह्ममें वादिवादका भय है, गुणवानको दुर्जनका भय है, शरीरको मृत्युका भय है, इसमकार सम्पूर्ण वस्तु भयान्वित है, अभय तो केवल एक वैराग्यही है।। ३३॥

छप्रय—वहुत सोगको संग तहां इन रोगनको डर । धनहं-को डर भूप आग्ने अरु त्योंही तस्कर । सेवामें भग त्याभि समर-में शत्रुनको अय । कुलहमें भय नारि देहको काल करन छप । आभिमान डरत अपमानसो गुन डरपत सुन खलश्यद । स्व गिरत परत भयसों सरे अथय एक वैराग्यपद ॥ ३३ ॥

अमीपाँ त्राणांनां तुलितविसिनीपत्रपर्यंसां होने विद्यां-स्मामिविंगलितविवेकेव्यवसितम्॥ यदार्वानामेये हिष्णम-दिनःशंकमनसां कृतं वीतेंबिंहिनिजगुणकथापींतकनीप ॥३१

सं० टी०—क्षणभदुरप्राणपीपणार्थ मृदानागम वावर्तमितास सहि १ किएक प्राप्त । स्मीपामिति । तुलितमुपितं विसिनी कमलिनी साप्तर । प्राप्त कि न नवि । एक्ष्रपूर्ण मेमीपां प्राणानां कृते पालनार्थं विमलितो निनाशे विदेशो नेपां तिस्कानिः कि न नवि । एक्ष्रपूर्ण मेमीपां प्राणानां कृते पालनार्थं वर्षायि विद्यार्थे । सदेव दर्शयित यदिलाहेन । स्थरता १ किला कि साम किला कि किला कि निकार कि प्राप्त किला कि मिनिना के विद्यार्थ । स्थरता वाचनिना वाचनिन्न किला साम किला किला साम किला सिंग साम किला साम कि

भाव ही र समलप्रप्रप्र स्थित जनके विश्वेषकात बदात कर्ने किंगी विवेष स्थानकार क्यां कर्ने किंगी विश्वेष स्थानकार क्यां क्यां विश्वेष स्थानकार क्यां क्य

कुण्डलिया--जैसे पंकज पत्रपर जल चञ्चल दुरि जात। त्योंही चंचलप्राण हू ताजि जैहें निजगात। ताजि जेहें निजगात वात यह नीकें जानत। तौऊ छांड विवेक नृपनकी सेवा जानत। निजगुण करत वखान निलजता उघरी ऐसें। भूलमयों सतज्ञान मूढ अज्ञानी जैसें॥ ३४॥

आतें कष्टैमहों महान्सें न्यांतिः सामन्तचेंकं च तैत्यांथें तस्य चै सीपि राजपरिषेत्तींश्चन्द्रविम्वानेनाः ॥ उद्वित्तः से च राजपुत्रिनिवहस्ते वन्दिनस्तेाः केंथाः सैंवं यस्य वर्शीद्गीत्स्मृतिपेदं काळीय तैस्मे नमैंः ॥ ३५॥

सं० टी०—सर्विमिदं कालाधीनं वृद्या नाशशीलनृपाणां सेवनं त्यक्त्वा केवलं भगवासे वनमेव कार्यिमिति सूचयन्नाह । भातिरिति । तस्मै कालाय नमः। अहो इत्याश्चर्ये । भो भातः । कष्टं विद्योक्यताम् । किं कष्टं स एव महान्नृपतिः चान्यत्सामन्तचकं माण्डिकराजमण्डलं चान्यः तस्य पार्थे सापि राजपरिपत्सापि राजसभा चान्यत्ताश्चन्द्रविम्वानना नार्थः । चान्यत् स राजपुत्रनिवहः नृपकुमारसमूहः । कथंभूतो राजपुत्रनिवहः उदिक्तः सद्र्पः । चान्यत्ते वन्दिनः भद्राश्चान्यास्ताः कथाः यस्य वशात् तत्सर्वे पूर्वोक्तं स्मृतिपदमगात् कथाशेपं जगाम । कालाय तत्मे नमः । यतः सर्वे क्षीयते परन्तु कालो न क्षीयते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ३९ ॥

भा॰ टी॰--पिहले यहां कैसा उत्तम राजा था, उसके समीप सेनाओंका समूह कैसा था, उसको राजसभा कैसी थी, कैसी कैसी चन्द्रमुखी स्त्री थी, राजाके पुत्रोंका समूह कैसा था, कैसे वन्दीगण थे और वे कैसी अच्छी कथा कहतेथे, वे सव अव जिस कालके वशीभूत •होगये उस कालको हम नमस्कार करतेहैं॥ ३५॥

दोहा—नृपति, सैन सम्पति सचिव सुत कलत्र परिवार। करत सवनको स्वप्तसम नमो काल करतार॥ ३५॥ पुनः कालमुद्दिश्याह।

वैयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एवं खहु ते संमं यैंः संदर्दीः स्मृतिविषयंतां "तेऽपि" गमितीः॥ इदीनीमेते"

रमेंः प्रतिदिवेंसमासन्नपतनिहतीरतुल्यावेंश्यां सिकतिलन-दीतीरतिर्हिनाः ॥ ३६॥

सं० टी०—अधुना स्वजनकान् स्वसर्खीथ स्वात्मना सह शोचित । वयमिति । येभ्यः पित्रादिभ्यो वयं जाता उत्पन्नान्ते चिरं बहुकालेन परिगता नष्टा एव खलु । येः समं सार्द्ध संगृद्धः गृहिं प्राप्तान्तेऽपि स्मृतिविगयतां गिमताः प्राप्ताः । इदानीमविशष्टा एते ये वयं तेऽपि प्रतिदिवसं दिनं प्रति आसनं प्राप्तं पतनमायुःक्षयो येपां तथा सन्तः सिकता विद्यते यस्यां सा सिकितिला नदी तस्यास्तीरतरुभिस्तटवृक्षेस्तुल्यावस्थां पतनोन्मुखत्वेन साम्पतां गताः समः । यदा सिकताप्रयानो देशः सिकितिलस्तस्य नदीतीरतरुभिरिति सम्बन्धः । यभ्यो जिनरमूद्द्य गतास्ते पितरो मम । आसन्नं मरणं मेऽपि शम्भो त्वं शरणं भव ॥ १ ॥ शिखरिणीवृत्तिमदम् ॥ ३६ ॥

भा० टी०—िनिसे (मातापितासे) हम उत्पन्नहुएथे उनकोती गये वहुतकाल व्यतीत होगया, और जिनके संग हम वडे हुए वेभी स्मरणपदमें गये अर्थात् वेभी मृत्युको प्राप्तहोगये, और अब हम जो शेप हैं सो हमभी प्रतिदिन मृत्युके निकट पहुंचतेजातेहें, और हमारी दशा नदीकिनारे वालूमें उत्पन्नभये हसकसमान होरहीहें॥ ३६॥

छप्यय—जो जन्मे हम संग सु तौ सव स्वर्ग सिधारे । जो खेले हम संग काल तिनहूँ कँह मारे। हमहू जर जर देह निकट ही दीसत मरिवो । जैसे सरितातीरवृक्षको तुच्छ उखरिवो । हमहू नहिं छाँडत मोह मन उमग २ उरझो रहत । ऐसे अचे-तके संगसों न्याय जगतको दुख सहत ॥ ३६ ॥

यंत्रानेक केचिद्रिष ग्रेहें तर्त्र तिर्ह्य थेकों यंत्रीप्ये-केस्तर्ते वहें वस्त्र ने को ''ऽपि' चीन्ते '॥ इंत्यं चिमो 'रज-निद्विसो दोळ्यंन हें विविधि कार्लें कार्ल्यं सहें वहुकें छः की हैं ति प्राणिसारेः ॥ ३७॥

सं० टी०—अधुना कालस्याक्षजीटां दर्शयति । यत्रेति । यस्मिन् काचिदिपि गृहे अनेके : पुत्रकल्जादयो वहव आसन्त्रथ तदनु एकस्तिष्टति । यत्राप्यकस्तदनु वहवः पुत्रपात्रादयो भवन्ति यत्र वहवस्तत्र चान्ते एकोऽपि नैव तिष्ठतीत्थममुना प्रकारेणेको रजनिदिवसावक्षावि हास्तिद् न्तानिर्मितः

ऋडिनकविशेपाविव देालयन् भ्रामयन् काले। वन्हीः कला ज्वरोदरपिंडाादिन्याजलक्षणा विद्या यस स काल्या स्वमारिकशक्या सह प्राणिन एव साराःसारिकास्ताभिः ऋडिति सततं खेलती-त्यर्थः। यद्गे हे वहवस्तत्र चैकस्तिष्ठति देहभृत्। यत्रेको वहवस्तत्र कालस्य गतिरीदृशी॥ १॥ मन्दाक्षानतावृत्तामिदम्॥ ३७॥

भा० टी०—जिस किसी घरमें अनेक पुत्रपीत्रादिक थे वहां एकही हाष्टि पडताहै और जहां एक था वहां अनेक दिखाईपडते हैं और फिर वहां अन्तमें एकभी नरहा, इसमकार इस संसारक्ष्पी चौपडमें रात्रिदिनक्ष्पी पासोंको लुडका २ रकर और प्राणियोंकी गोट वनाकर कालपुरुष अपनी कालित्वशक्तिके साथ खेल रहाहै ॥ ३०॥

छप्पय—वहुत रहत जिहि धाम तहां एकहिकों राखत। एक रहत जिहि ठौर तहां वहुतहि अभिलापत। फेर एकहू नांहि करि तहां राज दुराजी। कालीके संग काल रची चौपड़-की वाजी। दिनरात उभय पासालियें इह विधिसों कीडा करत। सव प्राणी सोवत सार ज्यों मिलत चलत विलुरत मरत॥ ३०॥

तपस्येन्तः सन्तः किंमधिनिवसामः सुरनैदीं गुणोदाँ-रान् दारानुत परिचरीमः सविनयम् ॥ पिवाँमः शीस्त्रीधा-नुति विविधकाव्यामृतरसीक्षे विद्यैःकिं कुँमीः कतिपयनिमे-पीयुपि जैने ॥ ३८॥

सं० ठी०—ह्दानीमायुपे।ऽत्यत्वात् कर्तव्यानां बाह्त्यात् संशयापनः सद्द्वानेताह । तप्रस्वन्त देति । कित्ययाः स्वत्या निभेषा आयुर्थस्य ताइशे जने जायते इति जने। देहस्ताभिन् सित वर्षे कि व्यमे इति न विशेष न जानीमः । कि तपस्यन्तः तपः कुर्नन्तः सन्ते। महामितिस्य विकासने विश्व कुर्यः । उत्तत्यश्च मृतेः सृत्यिक्तिस्यान् श्रेष्टान् द्वामन् युवतीः मित्रमं विवयत्ति पित्रकारः सेवपानः । उत्तत्यक्ष विवयं नानाविषं कालां कर्यानां व्यन्तार्थानं व्यवस्थिति व्यक्तिस्य विवयं नानाविषं कालां कर्यानां व्यवस्थानिति व्यक्तियविवयति वृत्यं यास्त्रतं स्व एवः स्थे। येषु तान् शार्यानान् शास्त्रमण्यानिति विकास व्यवस्थान होयते यास्त्रतं स्व स्वयापानां द्वाप्ति व्यक्तिस्य व्यवस्थानां विवयति व्यक्तिस्य स्वयापानां विवयति विवयति स्वयं स्वय

कार है(२--इस नहीं जानेती कि इस निषयमात्र रिधर्म्हनेतार्थ देहमे क्या दर्भे । क्या इस नद २४नेतुष, भंगातस्थर वास गर्भे । अथगा यथा इस गुणवतीस्त्रियोंकी विनयपूर्वक मेवा करे ? अथवा क्या हम व्यासवसिष्ठ आदि कवियोंके अमृतरसहवी विविध काव्यों और बाह्योंका अध्ययन करें॥ ३८॥

दोहा--तप तीरथ तरुणीरमण विद्या वहुत प्रसंग ।

कहा कहा मन रुचि करे पायो तन क्षणभंग ११ ३८॥
गंगांतीरे हिमगिरिशिठाव दपद्मासनस्ये ब्रह्मध्यानाभ्यसन्विधिना योगनिद्रां गतस्य॥ किं तें भिंधं ममै
सुद्विसिद्येत्रे तें निर्विशंकीः कैण्डूयन्ते जरठहारिणाः
शृंगिमङ्गे मेंदिये॥ ३९॥

सं ० टी ० — इदानी शिष्टानां कर्तव्यं सूचयन् निर्विक्तरपसमाधियुक्तान् दिवसान् प्रार्थ-यति । गङ्गतीर इति । मम तेः मुदिवसेः किमित सम्भावनायां भाव्यं भिवत्यं कदा ते भविष्य-निर्वित्ते भावः ॥ यत्र येषु दिवसेषु जरठहरिणा वृद्धमृगा निर्विशंका गतभयाः स्वर्धां मदीयेऽङ्गे शरीरे कण्ड्यन्ते संवर्षयन्ति शृंगवर्षणलीलां करिष्यन्तीत्यर्थः । कथंभृतस्य मम गङ्गातीरे या हिमिगिरेहिं-माल्यस्य शिला तस्यां बद्धं पद्मासनं येन तस्य । पुनः कथंभृतस्य ब्रह्मगो ध्यानं तत्र प्रत्ययेकता-नतात्व्यं तस्याम्यसनमम्पासस्तस्य यो विधिर्गुरूपदिष्टप्रकारस्तेन योगश्चित्तश्चतिनिरोधस्तद्वृया या निद्रा तां गतस्य-प्राप्तस्येग्रर्थः ॥ गङ्गातीरे कुर्डी कृत्वा तत्रापि गिरिसिनिष्ठौ । वसन् शिवं हरि ध्यायेन्मुगशृंगेश्च वर्षितः ॥ मन्दाकान्ताष्ट्तियस्य ॥ ३९ ॥

भा विश्व निर्मात वह अच्छे दिन कव आवेंगे जविक में गङ्गानटपर हिमालयपवेतकी शिल्हापर पद्मासन लगाकर वैद्गा, ब्रह्मध्यानमें लीन हो निधियूर्वक नेत्र मुंद योगनिद्राको प्राप्तहोऊंगा और निःशंक होकर बृद्धहरिण मेरे देहसे अप ने सींगोको रगडकर उनकी खुजली मिटावेंगे॥ ३९॥

दोहा—त्रह्मध्यान घर गङ्गातट वेठुंगो तज संग।
कवह वह दिन होयगो हिरन खुजावत अंग॥३९॥
स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधविठसैतले कार्पि पुँलिने सुर्खासीनाः शान्तंध्वनिषु रजनीषु द्युसरितेंः॥ भवाभोगोद्दिभाः
शिव शिवें शिवें विवेद्यार्तवचंसा कर्दी स्थामो हर्षेद्रतवहुलवाष्पप्लुर्तेंहशः॥ ४०॥

स॰ टी॰--शोभनं स्वमनोरथं दर्शयित । स्फुरिन्ती प्रकाशमाना या स्प्रारा बहुल ज्योत्स्ना चिन्द्रका तथा धवलितं तलं यस्य तिस्मिन् द्युप्तरितः दिवः सित् गङ्गा तस्याः काऽि पुल्नि किस्मिश्चिद्वि तटे शान्तो निवृत्तो घ्विनः शब्दो यासु तासु रजनीपु सृखासीना वयमीदशाः कदा स्थामो भवेम इत्यन्वयः । कीदृशाः भवस्य संसारस्थामोगो विषयसुखं तस्मादृद्दिशा विस्काः सन्तः हे शिव हे शिव हे शिवेद्यार्त पीडितं वची येपामतादृशास्तथा हर्पेगोद्गतं निःसृतं यद्वहुणं वाष्पमश्च जलं तेन प्लुते व्याप्त दशो येपां तादृशा इति । संस्फुरकौ मुदीयुक्ते गङ्गातीरे वसन् सिवर्नं । संस्मरम्पर्वशानतात्मा कालं निन्यात्पुमानसुत्रीः ॥ १ ॥ शिखरिणीवृत्तीमदन् ॥ ४० ॥

आ० टी०-प्रकाशित चांदनीसे जिसकी तलहटी खेत होरहीहै ऐसी गङ्गाजीके किसी पुलिनमें हम सुखपूर्वक कव वैटेंगे. रात्रिमें जिससमय सम्पूर्ण ध्विन शाना होजातीहै उससमय संसारदृःखसे कातर हो शिव शिव ऐसे आर्ति स्वरसे कहतेहुए हमारे नेत्र आनन्दाशुओं से कव पूर्ण होंगे॥ ४०॥

दोहा--जगके सुखसों दुखित व्हें मिरिहें दिरेहें नैन। कव रिटहों तट गंगके शिव शिव आरत वैन ॥४०॥

मेहादेवो देवः सैरिदेंपि चं सैषाँ सुरसिरहुहाँ एवँ।गीरं वसीनमैपि तीँ एवँ हरितैः॥ सुँहर्द्वी कीलोऽ'यं बैतिमिर्दमदे-न्यबैतमैहो कियेद्वी वहैयामो वटविटेपे ऐवास्तुँ द्यिती॥४१॥

सं० टी०—अभुना विरक्तानां सम्पत्तं वर्णयंस्तां प्रार्थयति । महादेव इति । पृष्यो देशे महादेवः शिव एव । स्नानावर्धं सिरिज्ञयपेक्षिता साऽपि चामरसिरन्छ्रीगगैव । आगारं गृहं च गृहा कन्देव। यसनं वन्त्रमि ताः प्रिक्ष्य हरितो दिश एव । अयं काल एव शुभकरत्वाःसुद्धनिम्नमिति । प्रतिविदं यददेन्यं तदेवाहो आर्थ्यरूपं व्रतमन्यक्तसदश व्रतं नास्तीत्यर्थः । वटविटपः वटवृक्ष एव दियता कल्त्रमस्तु । निवासात्तदा सुखकरत्वात् अतोऽनवैश्वर्ये विरक्तानां कियत्यरिमाणं वा वयं दक्ष्यामे। वृषः एतावतेव विरक्ताः सन्तुष्टा इत्यर्थः । महोदेवो हि देवोऽन्ति सरिदास्ति च जान्हवी । वासो गिरिगृहावासो धन्यस्तत्र शिवं स्मरेत् ॥ १ ॥ शिखरिणीवृक्तिगदम् ॥ १ ॥

भा० टी०—महादेवही एक पूज्य देव हैं, गंगाही एक नदी है, गुहाही घर है, दिशाही वन्त्र है, यह कालशी मित्र है, किसीके सन्मुख दीन न होना यही वर्त है। और कहांतक कहें एक यटकावृक्षही कुटुम्य है, अर्थात् विरक्त इन्हीं सबसे सन्तुष्ट हैं॥ ४१॥ दोहा--देव ईश सुरसरि सरित दिशा वसन गिरि गेह। सुद्धत्काल वट कामिनी वत अदैन्य सुख येह ॥४१॥

आंशा नोंम नेंदी मनोरथजेठा तृष्णातरङ्गाकुँठा राग-माहवैती वितर्कविहर्गों धेर्यहुमध्वंसिनी ॥ मोहावर्तसुदुर्रंत-राऽतिगहना प्रोत्तुङ्ग्विन्तार्तटी तस्यौः पारगतौ विशुर्द्धमन-सो नर्दिन्त योगीत्वरीः ॥ ४२ ॥

सं० टी०—इदानीमाशी नदीहरोण वर्गयंस्तस्याः पारगतानां परमानन्दप्राप्तिमाह । आशीनोमित । खाशानाम्त्री नदी वर्तते सा मनोरथी मने।राञ्यं जलं यस्यां सा । तृष्णा धनगर्द्धेव तरङ्गास्तैराकुला ब्यासा । रागो विषयक्तेह एव प्राहो मक्तरो विद्यते यस्यां सा रागप्राहवती । वितकीः कृतकी एव विह्याध्वक्तवाक्तादयः पश्चिणो यस्यां सा । तथा धैर्यमेव हुमो वृक्षस्तस्य ध्वेसिनी नाशकर्त्री । मेह एवावर्त्ती भ्रमस्तेन सुदुस्तरा अतिगहना गम्भीरा । प्रकर्पणोत्तृङ्गमुन्नतं चिन्तालक्षणं तटं यस्याः सा । तस्या नद्याः पारं गता विश्वद्धा मतिर्थेषां ते निर्मल्जानवन्तो योगीध्वरा नन्दन्ति परमानन्दमनुभवन्तीत्पर्थः ॥ आशापाशवतो लोको विशोको न भवेत् कचित् । यस्तु तत्पाशनमुन्य वेस्यात्मान स शोकित् ॥ १ ॥ शार्द्लविक्रीडितं वृत्तिममम् ॥ ४२ ॥

भा ॰ टी॰—आज्ञानामकी एक नदी है, जिसमें मनोरथरूपी जल भराहै, जिसमें नृष्णारूपी तरङ्ग उटतेहें, विषयरूपी ग्राह जिसमें रहतेहें, नानाप्रकारके कुतकेरूपी पक्षी उसमें विचरतेहें, तथा यह नदी धेर्यरूपीवक्षका नाज करनेवाली है, और इसमें मोहरूपी अमर हैं, इन अमरोंसे यह नदी अत्यन्त दुस्तर और गम्भीर होरहाहै, तथा उन्नतिको माम्न चिन्ताही इस नदीका तटस्थल है। इस नदीके पारजानेवाले ग्रुद्धित योगीश्वर अत्यन्त आनन्दको प्राप्त होते हैं॥४२॥

छप्य — चदिक्ष यह आश मनोरथ पूर रह्यों जल।
तृष्णा तरल तरंग राग है याह महावल । नानातक विहंग संग धीरज तह तोरत । भ्रमर भयानक मोह सवनकों गहि गहि बोरत । नित वहत रहत चित भृमिमें चिन्तातट अतिहि विकट। कहि गये पार जोगी पुरुष उन पायौ सुख तट निकट ॥ ४२॥ आसंसोरं त्रिभुँवनिमदं चिन्वतां तात ताह है वीस्मांकं नयनपद्वीं श्रोत्रवैंद्मीगैतो वो॥ यो डे धं धंते वि-षयकरिणीगाढगूढाभिमानक्षीव स्वान्तः करणकरिणैंः संयमाळानेँळीळाम्॥ ४३॥

सं टी - अथ संयमिनो दुर्छभत्वं सूचयित । आसंसारिभिति । हे तात ! आसंसारं प्रष्ट-यपर्यन्तिभदं त्रिभुवनं चिन्वतामन्वेपणं कुर्वतामस्माकं नयनपद्वीं दङ्मार्ग वाऽयवा श्रोत्रवर्धः श्रवणमार्ग न गतः न दृष्टो न श्रुत इत्यर्थः । स कः योऽयं विषय एव करिणी हस्तिनी तस्यां गाहो च्हः गूडः पूर्णो योऽभिमानस्तेन क्षीवस्य मत्तस्यान्तः करणकरिणश्चित्तगजस्य संयमो नियमनं तदेन् चालानं वन्यनं तस्य लीलां निरोधचेष्टां धत्ते द्यातीत्यर्थः ॥ मानुषं जन्म सम्प्राप्य मनो रोद्यं च राक्तुते । दुर्लभोऽस्ति त्रिलोक्यां स पूर्णो वन्द्योऽप्यसौ ध्रुवम् ॥ १ ॥ मन्दाक्रान्तावृत्तिमिदम् ॥ १ ॥

भा० टी०—हे तात! जबसे यह संसार प्रवृत्त हुआहै तबसे हम विभुवन में खोजते फिरतेहें, परन्तु ऐसा इड मनुष्य न तो देखनेहीमें आया है और न सुननेहीमें आया है जो विषयरूपी हस्तिनीके गूड अभिमानसे उन्भत्त अन्तः करण रूपी हस्तीको संयमरूपी वन्धनसे वांधकर रोके॥ ४३॥

दोहा-ऐसौ में संसारमें सुन्यो न देख्यो धीर !

विषया हथिनी संग लग्यो मनगज वांधे वीर॥४३॥ ये वैर्तन्ते धनपतिपुरः प्रार्थनादुःखभाजो ये चौल्प्वं द्धिति विषयाक्षेपपर्यस्तवुद्धेः ॥ तेथामन्तःस्फुरितहिंसितं वा सरीणां समरेयं ध्यानिच्छेदे शिखरिकुहरञावशस्यानिषणीः४४

सं॰ टी॰—साम्प्रतं निर्वेदतायाः स्वरूपमाह । ये वर्तन्त इति । अहं तेपां वासराणां अन्तरभ्यन्तरे स्पृरितं हिसतं यिसन् कर्मणि यथा भवति तथा स्मरेयं चिन्तयामि । ये वासरा धनपितपुरो धनाख्यानां पुरस्तात्प्रार्थना याचना तस्या यद्दुःखं तद्भजंतीति ते प्रार्थनादुःखभाजे वर्तन्ते । चान्यये वासरा विषयाक्षेपपर्यस्ता बुद्धियस्य स विषयाक्षेपपर्यस्तवुद्धिस्तस्य । किन्मूतार्अं शिखरिक्दरे या प्रावशस्या तस्यां निषण्यः । वा शिखरिक्दहरस्य पर्वतिविवरस्य या प्रावशस्य तत्र निषण्यः । निविष्टः । मन्दाक्रान्तावृत्तमिद्म् ॥ ४४ ॥

भा० टी०-- ने दिन धनवानोंके अगाडी पार्थना (याचना) रूप दुःत्रं भागी होनेसे वेडे मालुम पटतेहें अर्थात् उनकी खुशामद करते २ बीतनेमें नहीं लाते, क्षेत्र के दिन भरपंत निषयासक मुद्धियाले मनुष्योकों छोटे होते हैं अधीत् लातेभी नहीं मालुप पहनेहें सो यो कोनमा दिन होगा जिस दिन पर्वतोकी खोहोके पापणोंकी भव्यापर बेटाहुआ में ध्यानमें निश्चाम पाकर अपने अन्तःकरणों रांक्षी करताहुआ इन दिनोको स्वरण (पाद) कर्छगा॥ ४४॥

कुण्डलिया—छोटे दिन लागत तिन्हें जिनके बहुविध भोग। बीत जात बिलसत हसत करत सुरतसंजोग । करत सुरत संजोग तनकसे लागत तिनकों । जे हैं सेवक दीन निपट दीरघ व्हें बिनकों । हम बैठ गिरिशृंग अंग याही ते मोटे । सदा एक-रस घोस लगत है बड़े न छोटे ॥ ४४ ॥

विद्यों नांधिगता कलंकरहितां विंत्तं चे नीपार्जितं गुर्श्वेषापि समाहितेन मनसां 'पित्रो ने सम्पादितीं ॥ आलोलायतलोचेंना युवतियः स्वित्रेऽपि नोंलिङ्गिताः कौं-लोऽ यें परिपष्डलोल्पेंतया कैंकिरिवें प्रेरितैं:॥ ४५॥

सं० श्री०—अधुना जन्मन ऐहिकं पारहोकिकं च किंचिदिप फलमदृष्टाऽनुतपन्नाह । विशेषित । अभिमानादिकलंकेन रहिता विद्या नाधिगता न प्राप्ता । वित्तं धनं च नोपार्जितं न सम्पादितम् । समाहितेन निध्यलेन मनसा पित्रोमीतापित्रोः सुश्रूत्रा सेवाऽपि न सम्पादिता न कृता । आलेलानि चञ्चलानि आयतानि विस्तीर्णानि लोचनानि यासां ता युवतयः स्वमेऽपि नालिङ्गिताः । किंत्नसमाभिः केवलं परिपण्डेपु परानेपु लोलुपतया लुन्धतया काकैरिव कालः प्रेरितो गमितः व्यर्थमेव जन्माभूदिति भावः । विद्याधनादिचिन्तां च स्त्रीभोगस्यापि चिन्तनम् । हित्वा तुष्टमनाः कालं नयेच्छंकरचिन्तया ॥ १ शार्दृलविक्तींडतं वृत्तमिदम् ॥ ४९ ॥

भा० टी० —अभिमानादिकलंक से रहित विद्याभी नहीं पढी, धन उपार्भन नहीं किया, एकाग्रचित्त होकर मातापिताकी सेवाभी नहीं की, और चश्चल और विस्तीर्ण नेत्रवाली स्वियोंका स्वप्रमेंभी आलिक्षन नहीं किया, हमने तौ केवल पराये अञ्चका लोभ करते करते काककेसमान सब जीवन योंही ज्यतीत करादिया ॥४९॥

छप्पय—विद्यारहित कलंक ताहीं चितमें नहिं धारी। धन उपजायो नाहिं सदा संगी सुखकारी । मातपिताकी सेव शुश्रृपा नेक न कीन्हीं । मृगनैनी नवनारि अंक भर कवहु न लीन्ही। थोंही व्यतीत कीन्ही समय ताकत डोल्यो काक ज्यों। ले भज्यो दुक परहाथतें चंचल चोर चलाक ज्यों॥ ४५॥

विदेशिणें सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहर्वयाः स्मरन्तः संसीरं विगुणपारणामावधिगतिम् ॥ वयं पुण्यारंण्ये परिणतशर-चन्द्रेकिरणेक्षियीमां नेष्यीमो हरचरणचित्तैकशरणाः ॥४६॥

सं० टी०—सर्वस्वहानी जनानामीश्वरदारणं शिक्षयति । विशीर्ण इति । सर्वस्वे सर्वयने विशीर्ण नष्टे सित हरचरणमेव चित्ते एकं दारणं येपोमताहृद्द्या वयं परिणता वृद्धाः शरचन्द्रितरणा यस्मिस्ति। नृत्यामा दात्रि कदा किस्मन् समये नेष्यामोऽतिक्रामिष्यामः । क्यंभृता वयं नरुणा या करुणा पराऽहिंसा निश्चयरूपा तया परिपूर्ण हृद्यं येपा ते । पुनः क्यंभृता वयं विगुणी दोपः परिणामः प्रतिश्चणाथिनाशित्वं तयोरवर्धि मर्यादां गतं प्राप्तं संसारं स्मरन्तः । व्यक्तियायं विन्देद्यं विनद्येद्रियं करुणापृर्णमानसाः । धन्ये वने स्थिताः शम्भुं स्मरन्ति प्रेमतोऽिद्याम् ॥ १ ॥ शिक्तियाद्विद्याद्विद्यम् ॥ ४६ ॥

भा॰ टी॰--सर्वस्वके नष्टदोजानेपर शिवपादपंकाको केवळ अपना रक्षक समझकर अत्यन्त करणांस पूर्ण हो और प्रतिक्षण संसारका असारत्व स्मरण बरतेहण हम शरदहहतुकी चांदनीमें किसी प्रवित्रवनमें वेठकर कव राजिको दर्भातकरेंगे ॥ ४६ ॥

छप्ट्य-वीतगर्ये। सर्वस्व तस्ण करुणा छाई हिय । विना गतः नंसार अन्त परिणाम जान जिय । अति पवित्र आरण्य सरदंक चन्द नहित निद्धि । करिहों तहां वितीति प्रीति जुत निरम्य दशीं दिद्धि । शिव दिव दांकर गवरिवर गंगाधर हर हर कहत । भव-पार्करण पश्चित्रकाण एक दारण यह नित्त चहत ॥ ४६ ॥

रंबिन्हें पिन्तुंद्वा वर्त्यरमंत्रं दुंब्रुरः संस इहं पीरताः यो निहिरंगपावरापः॥ भें नु भविति दुंग्रहो वस्ये तृष्णा विद्याला सनीत चे पिन्तुंद्व का उर्यवीन का द्रिहें।॥४७॥



शास्त्रींका सुनना, चिरकालसे विचारकरनेपरभी भें नहीं जानसकाहुं कि पह सब प्राप्तहोना किस प्राचीन श्रेष्टतपका फल है।। ४८॥

दोहा—सत्संगति, स्वच्छन्दता, विना क्रपणता मक्ष । जान्यो निहं किहि तप किये यह फल होत प्रतक्ष ॥४८॥ पीणिः पात्रं पवित्रं अभणपरिगतं भेक्षंमक्षंयमत्रं विस्तीणं वस्त्रेमांशा उत गगनेमेलं तेरूपमस्वल्पमुँवी॥ येषां-निःसंगतान्तःकरणपरिणैतिः स्वात्मसन्तोषिणैस्ते धन्याः संन्यस्तदेन्यव्यतिकरानिकराः कीर्म निर्मूलयेन्ति॥४९॥

सं ० दी ० — अधुना विरक्ता ये ज्ञानिनस्तान् स्तोति । पाणिरिति । येपां पाणिहस्त एवालान लिदिप्रहणार्थं पवित्रं पात्रमस्ति, तथा श्रमणेन परिगतं प्रातं भैक्ष्यं भिक्षासम्माद्यमक्षय्यं परिपूर्णमन्तं वर्तते । तथाऽऽशा दिश उताथवा गगनमाकाशमळमातिशयेन विस्तीर्णं वस्त्रमस्ति । येपामुर्वी पृथिवी अस्वर्यं वहृविस्तारयुक्तं तत्यं शय्या वर्तते । येपामन्तः करणस्य परिणितिश्विनिः संगता सर्वसंसर्गशृत्याऽ स्ति, । ये च सर्वविषयभोगतृणां परित्यज्य स्वात्मनि सम्तोष्यम्तोऽत्वव न्यस्तस्यको देन्यव्यतिकराणां याज्ञादुः खानां निकरः समृहो यैस्तादशाः सन्तः कर्म निर्मूळयन्ति तत्यज्ञानेनाज्ञानं विनार्य त्रिविषं कर्म नाशयन्ति ते धन्याः कृतकृत्या इत्यर्थः । पराविरिक्तमाश्चित्य तत्यज्ञानमुपागताः । ते धन्याः सन्ति छोकेऽस्मिन्नेतरे योनिपृरकाः ॥ १ ॥ स्वय्यरावृत्तिम्य् ॥ ४९ ॥

भा० टी ० — हायही जिनका पवित्र वरतन है, भिक्षात्रही जिनका वर्तम भोजन है, निर्मेश आकाशही जिनका वस्त्र है, पृथ्वीही जिनकी शस्या है, जिनके अन्त करणकी हित्त प्रविश्वसारक संसमीने श्रम्य है, जो समपूर्ण निषयभी गरणा आका परित्याम कर अपने आत्माहीमें सन्तुष्ट हैं, दीनता के समुहको जिनने भवी भवार न्यामदियाहै, और कर्मको जिनने समूल नष्ट करियाह, ऐसे उत्तम पुरुष्ट परित्याह ॥ ४९ ॥

डप्रय—भोजनकों कर पह दशों दिश वसन बनाये। भर्ते भी सकें। अब पर्लग पृथ्वीपर छाये। छांदि सवनकों संग अकेंले रहते रेग दिन। निज आतममों लीन पीन मन्तोष छिनहि छिन। मनकें दिकार इन्होंनकों हारे तोर मरोर जिन। ये धन्य २ सन्यासधन हाम किये निर्मृत निन ॥ ४९॥ दुराराध्यः स्वांमी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुंजो वैयं तुं स्थलेच्छा महिति च पेंद्रे वद्धमनेसः॥ जरी देहं मृत्युहिर-ति संकेलं जीवितिभिदं संखे नीं-येंच्छ्रेयो जैगिति विदुं-पोऽन्येंत्र तपसीः॥ ५०॥

सं० टी०——चलित्तराजाद्याधारणोपक्षया तप एवेहामुत्र श्रेयस्करमित्याह । दुराराध्य इति । हे सम्व ! जगति रसायां विदुपः पण्डितस्य तपसः अन्यत्रान्यत् श्रेयः सल्याणं न । कथं स्वामी अधिपतिः दुराराध्यः । क्षितिभुजो राजानस्तुरगचलित्ताः अध्ववचलचेतसः । तु पुनः वयं स्युष्टेग्छाः महाशयाः । चान्यत् महति पदे मुक्तिलक्षणे वद्धमनसः । जरा देहं हरित । मृत्युरिदं सक्ष्टं जीवितं हरित । ततस्तपसा विना श्रेयो नास्ति ॥ शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ९० ॥

भा० टी०—स्यामीकी सेवा करना अत्यन्त कठिन है, और राजागण अभकेसमान चंचलिक होते हैं, हम तो स्यूलेच्छावाले मनुष्य हैं, हमारा मन तो महत्पदमें वंधाहुआ है, वृद्धावस्था इस देहको हरलेतीहै, और मृत्यु इस सम्पूर्ण जीवनको शेप करदेताहै, इसकारणसे हे सखे ! इन संसारमें झानवानके लिये तपसे अधिक कुछभी श्रेयस्कर नहीं है ॥ ९०॥

दोहा—नृपसेवामें तुच्छ फल वृरी कालकी व्याधि।
अपनो हित चाहत कियों तो तू तप आराधि॥ ५०॥
भोगी मेघवितानमध्यविलसत्सोदामिनीचञ्चलां आयुंर्वायुविघिहताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्रंगुरम् ॥ लोलां योवनलालनां तनुभूतांभित्यांकलय्यं द्वेतं योगें धेर्यसमाधिसिदिसुलेंभे बुँदि विधैद्वं वुधीः॥ ५१॥

सं० टी०—भोगादि सर्वमिश्यरं ज्ञात्वा योगे चित्तं निद्ध्यादित्याह । भोगा इति । मेघा-सं० टी०—भोगादि सर्वमिश्यरं ज्ञात्वा योगे चित्तं निद्ध्यादित्याह । भोगाः । आयुस्तु वायुना नां वितानं समुदायस्तन्मध्ये विख्यन्ती या सीदामिनी विद्युद्धता तद्वच्छल भोगाः । आयुस्तु वायुना विचिद्दिता विद्राविता वाऽश्रपटली मेघमाला ता्यां लीनं यदम्बु जलं तद्वद्धंगुरमिश्यरं, तनुमृतां विद्यादिता विद्राविता वाऽश्रपटली मेघमाला ता्यां लीला । तस्य क्षणभादुरत्वेन तस्यापि क्षणभादुरत्वा-देह्यारिणां यीवनस्य लालना केहादादरिवशेषो लीला । तस्य क्षणभादुरत्वेन तस्यापि क्षणभादुरत्वा-देह्यारिणां यीवनस्य लालना केहादादरिवशेषो होतं हितं हो । धर्येण या समाधिसिद्धिक्षतै-दिस्थेवं भोगादीनां चंचलत्वमाकलस्य विचार्य हुतं इति हे नुभाः ॥ १ ॥ शार्वलविक्रीडितं वृत्तिमिद्द्य ॥ ९१ ॥ नृणाम् । इति ज्ञान्वा मने। धार्य योगाधीशे हरे नृभिः ॥ १ ॥ शार्वलविक्रीडितं वृत्तिमिद्द्य ॥ ९१ ॥ भा॰ टी॰ मनुष्योंके भोग मेघोंके समूहमें चमकतीहुई विजुलीकेसद्देश चंचल हैं, आयु वायुसे छित्र भित्र मेघमालामें लीन जलके समान क्षणभङ्गर है, और यौवनकी उमंगभी स्थिर नहींहै, इसलिये हे पण्डितो ! ऐसा समझकर धैर्यसे प्राप्त चित्तकी एकाय्रताद्वारा सुलभ जो योग है उसमें बुद्धिको लगाओ ॥ ५१॥

कुण्डिखा——जैसे चंचल चंचला त्योंही चंचल भोग। तैसेही यह आयु है ज्यों घट पवनप्रयोग । ज्यों घट पवन-प्रयोग तरल त्योंही जोबन तन।बिनसत लगत न वार गात व्हें जात ओसकन । देख्यों दुःसह दुःख देहधारिनको ऐसे। साधत सन्त समाधि व्याधिसों छूटत जैसे॥ ५१॥

पुँण्ये याँमे विने वां महाँति सितपटच्छन्नपांछीं कर्षां-छीमादांय न्यायगर्भाद्वजमुखहुतभुग्धूमधूम्बोपकण्ठेम् ॥ द्वीरं द्वीरं प्रदेत्तो वेरमुदरदरीपूरणीय क्षुधांतीं मानी प्राणी सै धेन्यो ने पुनर्रनुदिनं तुल्यकुल्येषुं दीनैः ॥ ५२॥

सं टी०—यो हि मानी जनोऽकर्तन्यमि करोति परन्तुं तुल्यजातिपु दीनो न भगति स धन्यो नेतर इत्याह । पुण्य इति । यो मानी प्राणी क्षुधार्तः सन्नुदरदरीपूरणाय कुक्षिकन्दरामर-णाय पुण्ये पुण्योत्पादके तीर्थिविशिष्टे प्रामे महति विस्तीर्णे वेने वा सितेन शुक्रेन पटेन विस्तार्णे छना-छिदता पाछी मुग्तं यस्यास्तां कपाछी घटादिखण्डरूपामादाय गृहीत्वा न्यायो नीतिर्गर्भे मनस्यन्तिन् पा तैर्दिजियों हुतो हुतमुनिष्टित ध्रमेन धृमो धृमचिन्हित उपकण्ठोऽन्तरं यस्य तादशं द्वारं प्राट्टतस्य तत्प्रवतनं वरं स धन्यश्च तुल्यकुल्येपु सजातीयपु पुनर्दीनो न वरं ॥ कपाछ-धारको भृत्वा नरे। प्रामे वनेऽपि वा । मिक्षया जीवनं कुर्यन्त समेपु हि याचनम् ॥ १ ॥ सम्परावृत्तिदम् ॥ ९२ ॥

भा० टी॰—यदि कोई मानी (प्रतिष्ठित) मनुष्य क्षुवासे ज्याकुल कोकर उदररूपी कन्द्रगके पूर्ण करनेकेलिये किसी पवित्र ग्राम अथवा किसी विसीर्ण यतमें उज्ज्वल्यक्षेत्रं ढकाहुआ ठीकरा लेकर उन गनुष्योंके हारपर कि जिनकी चौखट न्यायपूर्वक बाह्मणोंकी होभीहुई अभिके घृमसे गलिन है श्रमणकरे नो श्रेष्ट है, परन्तु समानकुल्यालोंके सन्धुस दीन होना उत्तम नहीं है ॥ ५२॥

सोरटा—विप्रनके घर जाय भीख मांगिवौ है भले।। वंधुनसों सिर नाय भोजनहू करिवों वुरो ॥५२॥ चाण्डौलः किमैयं हिजांतिरथवाँ शूँद्रोऽर्थं किं तापसैंः किंवों तत्वनिवेशपेशर्स्यतियोंगीर्थिंसः 'कोऽपि' किर्म्सं॥ रेत्युत्पन्नविकल्पजलपर्मुँखरैः सम्भाष्यमाणीं जैनै ने कुदौः पीथ नैवें तुष्टमनैसो यान्तिं स्वेंयं योगिनैः ॥ ५३ ॥

सं टी०—स्वात्मनि लीनानां योगिनां गति दर्शयति । चाण्डाल इति । अयं जनः किमिति वितर्के चाण्डाले।ऽथवा द्विजातिः ब्रह्मक्षत्रविशां मध्ये कोष्यस्ति अथवा शृद एव कि वा तापसस्तपस्वी किं वा तत्विनेवेशे आत्मिनिश्चये पेशला निपुणा मतिर्यस्यैतादशःकोऽपि योगीध्यरः किम् । इत्यमुना प्रकारेणीत्पन्नी यो विकल्पःसंशयस्तेन जल्पो नानाविधी वादस्तेन मुखरैर्वाचार्वजनः सम्भाष्यमाणाःसन्तोऽसत्कुर्वते न कुद्धा नैव तुष्टमनसा हर्षितहृद्या योगिनः सावधानम-निसः स्वयं स्वेन्छयैव पथि मार्गे यान्ति विचरन्तीत्पर्थः । अलक्षिता वजनतीह स्वीर्थरन्येक्ष योगिनः । नानातर्कवचोभिस्ते न हृष्टाः कुपिता न च ॥ १ ॥ शार्दूलविकीढितं ष्टत्तगिदम् ॥ ५३ ॥

भा॰ टी॰-यह चाण्डाल है, अथवा बाह्मण है, शूद्र, तपस्यी अथवा तत्व-विवेकमें चतुर कोई योगीत्वर है, ऐसे अनेकपकारके संश्योंपर तर्प दित्व करने हुए मनुष्यासे सम्भाषण करनेपरभी घोगीजन न कुद्ध होते हैं, और न हिंपत होते रें, किन्तु सावधानचित्त होकर स्वच्छन्द अपने मार्गमें विचरण करतें। । ५१॥

दोहा-वित्र शूद्र योगी तपी सुपच कहत कर ठोक। सबकी वातें सुनत हों मोकों हर्व न होक ॥ ५३॥ सखे धेन्याः केचित् श्रुंटितभववनधय्यतिकर्शं वनानत चित्तान्तर्विषमविषयाशीविषगताः॥ शरबन्द्रव्योत्स्रा-धवल गगनाभागसुभगां नर्थन्ते ये रीवि सुरुतरय-

चित्तेकशरणाः॥ ५४॥

सं टी०--पापरेतुमूर्व निष्मसेवनं स्थाना स्वीकत्र महार सं कृष्ति एएक । इत्यार । हे सक्षे प्रियमित्र ये केबिल्स्याः शस्यारीनी यद्यालस्य श्रीकरा कीर्ट् १५ १४००.

पांडुरे। यो गगनाभाग आकाशमण्डलं तेन सुभगां मनोज्ञां रात्रिं नयन्तेऽतिक्रमन्ति ते धन्याः । कथंभूताः त्रुटितिहिल्लो भववन्यस्य संसारवन्यनस्य व्यतिकरः सम्बन्धो येपां ते । तथा वनान्ते वनमध्ये चित्तस्यान्तःकरणस्यान्तमध्ये ये विषमाः किता विषयास्त एव आशीविषा भुजङ्गा गता येपांते, "वाहिताग्न्यादिपु" इति गतशद्वस्य पूर्विनिपातः । तथा सुकृतानां पुग्यानां निचयो निवहस्तिस्मिन्यिचत्तमन्तःकरण तदेवैकं शरणं येपां तथाविचाः पुण्यसम्यादनैकतप्तरा इसर्यः । शिखरिणीवृत्तामिदम् ॥ ९४ ॥

भा० टी०—हे सखे धन्य है उन पुरुषोंको कि जो वनमे वैठेहुये शरर ऋतुकी चांदनीसे शुभ्र हुए आकाशमंडळसे अति मनोहर ऐसी रात्रिको वितीत करतेहैं। फिर वे कैसेहें की जिन्होंने संसारवंधनका संबंध तोडदियाहै और अन्तः करणमेसें महाभयानक विषयरूपी सर्प निकस गयहैं जिनके और जिनका वित्त केवल पुण्यसमृहके संपादन करनेमेंही लगरहाहै.॥ ५४॥

दोहा--जे नर जगमे धन्य है शरदशुस्र निशि मांहिं। तोडे वंधन जगतके मनतें विषयन सोहि॥

सोरठा—विषयसर्पकों मारि चित लगाय शुभकर्ममें
पुण्यकर्म शुभ धारि तिज सकल मनवासना ॥ ५४॥
एतेस्माहिर्भेद्रियार्थगेंहनादायासैदादार्श्रय श्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणांत् ॥ शांन्तं भीवमुपेहिं
संत्यर्जं निजां कल्लोललोठीं गेंतिं मीं भूयो भेज भंगुरां
भवर्रतिं चेतेः श्रैसीदाधुनीं ॥ ५५॥

सं० टी०—इदानी चित्तस्य. दुर्मार्गप्रवृत्ति वारयन् सन्मार्गप्रवृत्तिमुपदिशति । एत-समादिति । हे चेतः ? इन्द्रियाणामधीः शद्वादिविषयास्त एव गहनं निधिष्ठं वनं तस्मादे-तस्मादायासदादायासेन परिश्रमेण साच्याच्वं निवृत्ति भज । क्षणात् शिवमेव शेषाणां दे।पाणां दुःखानां शमनस्य नाशनस्य व्यापारे दक्षं कुशळं श्रेयसो मानं वैराग्यादिश्चानान्तमाश्रयातिक्ति । हे चित्त ! शान्तं भावं स्विरतामुपदि प्राप्ति । निजां स्वतीयां कलोळवत्तरद्ववलोळां च्याळां गति संप्यज । भंगुरामित्यरं भवस्य रितं प्राप्ति त्वं भूयः पुनर्याहुस्येन वा मा मजावुना प्रसीद प्रसार्द मजिपर्यः ॥ इदियार्थान्यस्त्रियण्य शान्तभावं भये रितम् । अनेक्षभवदुःखानां भंजनं श्रानमाश्रम् चेत् ॥ १ ॥ शार्द्ळिकिशितं यृत्वनिदम् ॥ ५५ ॥

भा टी॰ -- हे चित्त ! वडे परिश्रमसे माप्त दुः खदाई इन्द्रियों के विषय-रूपी सधनवनसे विश्राम है, सम्पूर्णदुःखोंके नाशकरनेमें समर्थ कल्याणमार्गका श्रीमही आश्रय ले, शान्तभावको अङ्गिकार कर, तरङ्गकेसमान अपनी चश्रल गतिको त्याग, अब फिर इस नाशवान् संसारीइच्छाका सेवन मतकरे, और मापही तुं पसन्नरूप हो ॥ ५५ ॥

छप्पय--एरे चित कर कृपा त्याम तू अपनी चालहि। सिर पर नाचत खड़्यो जान तू ऐसें कालहि। ये इन्द्रीगण निठ्र मान मत इनकी कहिवा। शान्त भाव कर ग्रहण सीख कठिनाई सिहिवो। मिथ्या जगकी आस त्याग तू अवही देरे। सार चही एक जान नाम शिव शिव तू छैरे ॥ ५५ ॥

पुंज्येमूलफंलैः प्रिये प्रणीयिनि प्रीति कुर्रव्वाधुना भृश-यानववर्कें केरकेरकेर गैरुति धुँ योंमो वनमें ॥ क्षुद्राणीं मवि-वेकमूढमर्नेसां थैत्रेश्वराणां सदी चित्तव्याध्यविवेकविव्ह-लेंगिरां नोंभापि" नै अयेते ॥ ५६ ॥

सं टी॰—धनिकानां संगेनोद्विप्रचित्तो धनवासेन्छया चित्तवृत्तिमुपरिशकाः । गुन्दे रिति । हे प्रियं चित्तवृत्ते ! त्वमुत्तिष्टे।रिथता भव वयमधुना यनं यामे। गण्यामः । यत्र वनेडावर के मृद्धं मनो येपामतएव क्षुद्राणां तुष्छानीधराणां श्रीमतां नामाऽपि न शूर्यं । गीरणानामं घणणां सदासर्वदा वित्तं धनमेव व्याधी रोगस्तेन योऽविवेकोऽविचारस्तरमाहिन्हरा स्पाप्तरा सीर्य प्रति । सब प्रियशरीरिनिवीहः कथं सदिष्यतीति तत्राह् । पुण्येः पावनैः मूलानि च पालनि च हेः प्रश्लीनि क्रें श्रुपि जीविकां हे प्रिये ! स्वं कुरूष्य । नवानि यानि यत्रात्मानि वृक्षावालक्षणि विस्तृतीर्थि है । प कुरुष्वत्येवं तत्र निर्वाहः कर्तन्यस्तेपामीश्वराणां मुख्यश्चित्रं कि एके द्वानि हेन्द्र । इ रेबीद्री वृत्ति भूदाय्यां नदयस्याले: । वासं मिरिदिलं कृत्या गनाङ्ग्यति व सन्ये । १ १ र

्रा प्राप्त । विशे दिलहते! तृं अव उत् और प्रवित प्राप्त में के करा विक्रीडितं वृत्तिमदग्र॥ १६॥ पालन पार, तथा बनीवनाई भूमिश्च्या और नवीनवत्त्व दे दशीए दिया पर रम तो अब बनको जातह. जल शहरेदद्याकरण को गृहक् है, जो गृह है, कार धनकपी प्रयाधिणनित विदारसे जिनकी हादि विदान है इन मनुष्यीका

नापभी नहीं छनाहिदेवाएँ ॥ ५६ ॥

दोहा—वकल वसन फल असन कर करियों वनविश्राम।
जित अविवेकी नरनको सुनियत नाहीं नाम॥५६॥
मोहं मार्जियतामुपार्जय रैतिं चन्द्रार्धचूडामेंणो चेतेः
स्वर्गतरंगिणीतटर्मुवामासंङ्गमङ्गीकुर्हे॥ को वी वीचिषु
बुद्धदेषु चै तिडिल्लेखाँसु चै स्त्रीषु चै ज्वालाग्रेषु चै पन्नगेषु
चै सरिद्धेगेषु चै प्रत्यर्थः॥५७॥

संo टी॰—विषयभोगेच्छां परित्यज्य "शिवे रितं कुरु " इति स्वचेतः प्रतिनेक्यिते । मोहिमिति । हे चेतः ! मोहं मार्जयतां दूरीिकयतां । रे प्राणिन् ! चन्द्रार्धचूडामणौ शिवे रितं तोपमुपार्जय सम्पादय । रे चेतः ! स्वर्गतरांगिणीतटभुवां आसङ्गं सङ्गतिमङ्गीकुरु । ने।ऽस्माकं वाऽथवा वीचिपु कल्लोलेपु प्रत्ययो विश्वासः कः। चान्यज्जल्बुद्धदेपु वर्पावारिपुटेपु कः प्रत्ययः। चान्य- चाडिल्लेखासु सौदामिनीपु च पुनः स्त्रीपु कः प्रत्ययः। यथा एतेपु ने।ऽस्माकं प्रत्ययो नारित तथा जीवितेपु नारित । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ५७॥

भा० टी०—हे चित्त ! मोहको छोडकर चन्द्रार्थचूडामणि श्रीभिवजीसे मीति कर और गङ्गातटके द्वसोंके नीचे विश्राम छे। देखो ! जलके तरंग, पानीके ववृछे, विज्ञलोकी चमक, अग्निकी ज्वालाकी शिखा, स्त्री, सर्प, और नदीके भवाहमें स्थिर रहनेका कुछ विश्वास नहींहै, अर्थात् यह सातों वस्तु स्थिर नहींरहसक्ती हैं, इसाहिये स्त्रीके विलासमें मग्न मत हो॥ ५७॥

छप्पय—मोह छांड मन मीत प्रीतिसों चन्द्रचूड भज। सुर-सरिताके तीर धीर घर दृढ आसन सज। शम दम भोग विराग त्याग तपकों तू अनुसरि। वृथा विषय वकवाद स्वाद सवही तृ परिहर। शिर निहं तरंग वुदवुद तिडत अगिनशिखा पन्नग सरित । त्योंही तन जोवन धन अथिर चल दल दल केसे चरित ॥ ५७॥

अंग्रे गैति सरसकवर्यः पाँश्वेतो दाक्षिणात्याः पृष्ठे छी-छावळयरणितं चामरमाहिणीनाम् ॥ यैद्यरैत्येवं अहे

भवरसारबोदिने लंपर्टेत्वं 'नीचे "चेतः प्रविशे सहसी निर्वि-केल्पे समीधी ॥ ५८ ॥

सं० टी०---पूर्णिविपयसुन्वसमाधिसुन्वाभ्यामन्तरा वृथेव जन्मेति सूचयति । अमे गीत मिति । सिहासनस्थस्य सतः पुरुपस्याप्रे पुरोभागे गीतं कुश्लानां नारवयूनां गानं स्यात् । पार्वतो नामदक्षिणभागयोदीक्षिणात्या दक्षिणदेशीयाः सरसकवयः रससिहतकिवतया स्तुति-कारिणो भेनेयु:। पृष्टे पृष्टभोग चामरमाहिणीनां शोभनस्त्रीणां चामरचालनरूना या लीला तया वल्यानां कञ्कणानां रणितं शब्दः स्यात् । यद्यवमुक्तेन प्रकारेण भोगसाधनकलापोऽस्ति तर्हि भवस्य संसारस्य यो रसस्तस्यास्त्रादने हे चेतः ! त्यं लम्पटं संलग्नं भव । चेद्ययेवं भोगसामुप्री नास्ति तदा सहसा शीव्रमेव निर्विकले समाधी त्वं प्रविश प्रवेशं कुर्वित्यर्थः । उभयाभावे वृत्यैव जन्मीतमात्रः । अग्रे पश्चात् पार्श्वतो वा यदि शृङ्गारसम्पदः । तदा तु विपये रागो चेन्मनस्वं स्थिरी-भव ॥ १ ॥ मन्दाकान्तावृत्तिमदम् ॥ ५८ ॥

भा० टी०-सन्मुख प्रवीण गर्वेये गातेहीं, दाहिने वाँये दक्षिणदेशके सरस कवि उत्तम काच्य सुनातेहों, और पीछेसे चमरढोरनेवाली सुन्दरिस्योंके कद्भणोकी झनकारका शब्द सुनाईदेता हो, जो तुझको ऐसी सापग्री माप्रहो सौ संसारके रसका स्वाद होनमें मन्न हो, नहीं तो है चित्त ! शीन्नही स्थिरसमाधिमें

भवेशकर ॥ ५८ ॥

छप्पय--छ हो रागिनी राग गुनी गावत हैं निशिदिन। क्विजन पढत कवित्त छन्द छप्पय छिनही छिन। लिये दुह् घाँ चौर करत ठाडी नवनारी। झनक मनक धुन होत लगत काननकूं प्यारी। जो मिले तोहि यह सोंज सव तो तू कार संसाररित। नहि मिले इती हू तो इतें साधत क्यों न समाधिगति ॥ ५८॥

विरमतं वुधो योषित्संगीतसुखात् क्षणभंगुरीत्कुरुतं करुणामैत्रीप्रज्ञावधूजनसंगममं ॥ नै खर्कुं नरैके हाराकार्न्तं घनस्तनमण्डं छं शर्रेणमथवीं श्रोणीविस्वं रणन्मणिमेखळेंम् ॥ ५९ ॥

सं र्टी० — अतुना क्षणभङ्गसात् स्त्रीसुखादास्यन् देवसम्पत्नभणस्त्रीसङ्गं मित्रभावेन स॰ टा॰--जुः। । सारासारिवयिभेनो योपियां स्त्रीणां संगो यस्मिन्तस्मात् शिक्षयति । विस्मतिति । हे बुधाः ! सारासारिवयिभेनो योपियां स्त्रीणां संगो यस्मिन्तस्मात्

क्षणभद्भरात् सुखात् यूयं विरमत विरक्ता भवत । करणा च मेत्री च प्रिंजा व प्रकृष्टतुद्धिस्ता एव ववृजनाः स्त्रीजनास्तेषां सङ्गमं सङ्गिति कुरुत । खलु यम्मान्नरके हारैः पुष्पान् दिनिर्मितेराङ्मान्तं वेष्टितं घनस्तनयोर्भण्डलं शरणं रक्षकं नास्ति । अथवा रणन्ती शब्दायमाना मणीनां मेखला कटिसूत्रं यस्मिस्तन्त्रेष्णीविम्बं नितम्बमण्डलं नरके शरणं नास्ति । तस्मात् प्रथमत एव सत्र्यादिसुखं दूरतः परित्यज्य मैत्र्यादीन् सम्पाद्य सुली भवेति भावः ॥योषित्संगं परित्यज्य प्रज्ञाकार्यः च सत्पथे । येन गच्छन् पुमान् याति तच्छम्भोः परमं पदम् ॥ १॥ हरिर्णाट्यमिदम् ॥ ९९ ॥

भा० टी०--हे पण्डितो! स्त्रियोंके सङ्गमरूपी क्षणभङ्गरसुखसे विश्राम हो और मैत्री करुणा और मज्ञारूपी वधूसे सङ्गम करो, वयोंकि जिससमय नर्कमें ताडना होगी उससमय हारोंसे भूपित स्त्रियोंके स्तनमण्डल और शब्दायमान धुद्रः घण्टिकासे शोभायमान कटी सहायता नहीं करेगी॥ ५९॥

सोरठा—तिज तरुणीसों नेह वृद्धिवधूसों नेह कर। नरक निवारत रोह वहें नरक छै जात है ॥ ५९॥

मातर्रिक्ष्में भजर्व कैचिद्पॅरं मर्त्कांक्षिणी बॉस्म भूभी-गेभ्यैः स्पृह्यीलवो नैहि वथं की निःस्पृहणीमसि ॥ सर्थैः स्यूतपलाशपत्रपृटिकापौत्रे पवित्रीकृते भिक्षासकुंभिरेवें संप्रीति वयं हैति समीहाँमहे॥ ६०॥

सं० टी०—हे मातर्लक्षिम ! कञ्चिदपरं धनार्थिनं भजस्व सेवय मिय कांक्षा यस्याः सा मिद्दिन्छावती त्वं भास्मभूः माभव । हि यस्मात् वयं भोगेभ्यः स्पृह्यालवो भोगिल्प्सवो न भवामे ऽतोनिस्पृहाणां त्वं कासि न कापीत्यर्थः । तहिं तव जीविका कथं स्यादिति तत्राह । सद्यः शीप्रमेव स्यूतं निर्मितं यत्पलाशपत्राणां पुटिकापात्रं दोणपात्रं तस्मिन् पवित्रीकृते जलप्रोक्षणेन शुद्धीकृते भिक्षया प्राप्तैः सक्तुभिरेव सम्प्रतीदानीं वृत्तिं जीविकां वयं समीहामहे कर्तुमिच्छाम इत्यर्थः । यः प्रार्थनां सदा हित्वात्यक्त्वातान्तिस्पृहो जनः । भिक्षाशनं प्रकुर्वाणः शिवं स्वान्ते सदा स्मरेत् ॥ १ ॥ शार्द्विक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ६ ० ॥

भा० टी०—हे लिक्ष्म मात! अव तूं किसी अन्यपुरुषका सेवनकर. हमारी मतकरे। क्योंकि हमको विषयभोगकी इच्छा नहींहै, और (तूं जानतीही की जिनको कुछ इच्छा नहीं है उनके निकट तूं तुच्छ है। अब तो हम केवल हरे दाकरें पत्तोंके चनायेहुए पित्रदीनामें भिक्षाके सत्त्रसे जीवननिर्वाह करनेकी इच्छा रखतेहैं. ॥ ६०॥

दोहा--मोकों तिज भिज औरकों अरी लक्ष्मी मात। हों पलाशके पातमें मांग्यो सतुआ खात ॥ ६० ॥ यूंयं वैयं वैयं यूँयिमित्यासीनमतिरावयोः ॥ किं जितिमधुना मित्रे यूँयं यूँयं वैयं वर्यम् ॥ ६१॥

सं॰ टी॰--अविवेकदशायां मोहेनावयोरभेदेऽपि विवेकदशायां केनाप्याचिन्त्यमहिम्ना वेराग्येण तत्त्रज्ञानेन वा भेदो जात इत्याह । यृयमिति । भो मित्र ! मोहादिविवेकदशायामित-क्तिन्वयोः पितापुत्रयोरिवारमाकं स्त्रेहादभेदमातिरासीत् यूयं वयं वयं यूयमिति । अवुनेदानीं किमप्यपूर्व वैराग्यं जातं येन यूयं यूयमेव विषयसक्ताः वयं वयमेव सर्वस्माहिरुक्ता इत्यधः। यहाऽवुना किमण्य-र्वि तत्त्रज्ञानं जातं येन यूयं यूयमेयाज्ञा एव स्थिताः। वयं वयमेव शुद्धसिवदानन्दरूपा जाता हर्यर्थः ॥ पुराऽचयोरभेदोऽभूदज्ञानादधुना पुनः । येन यस्वं स एव त्वमहन्तु त्वद्विलक्षगः ॥ १ ॥ अनुप्रवृत्तामिदम् ॥ ६१॥

भा ०टी ० -- हे मित्र ! जो तुम हो सो हम हैं, और जो हमहैं सो तुम ही. गरस्पर कुछ भेदही नहीं है, यह मृति हमारी प्रथमही थी अवक्या नई वात होगई के तुम तुमही हो और हम हमही हैं, अर्थात तुम विषयासक्त हो और हम सबसे वेरक्त हैं ॥ ६१ ॥

ं दोहा--तुम हम हम तुम एक है सवविधि रह्यो अभेद। अव तुम तुम हम हमिंह हैं भयौ कठिन यह भेद ॥६१॥ वांछे छीलामुकुलितंमंमीमन्थरा दृष्टिपाताः कि क्षि-र्यंते विरम विरमें ठथेंथे एंध श्रमस्ते ॥ संश्रंत्यं वे वंध-नुपर्रतं वार्र्वंयमार्र्था वर्नान्ते देशिणो मोहेरतृर्णेमिवे जग-नौँलमालोकयोंमः॥ ६२॥

सं० री०-वाल इति । हे वाले हे मुन्दरि । तावकीना लोलामुकुलितं अभी मन्यस ष्टिपाता व्यस्मासु कि क्षित्यन्ते विरम विरम । एप ते तत्र श्रमी व्यर्थी निरर्धकः । सन्प्रति वयं

अन्ये ते न भवामः । अस्माकं वात्यमुपरतं । अस्माकमास्या वनान्ते । कयं । मोहः र्क्षाणो गतः । इदं जगजालं तृणमिव तुच्छमालोकयामो विलोकयामः ॥ ६२ ॥

भा० टी०—हे वाले! लीलास किंचित् मुकुलित इन मन्द कटाझोंको हमपर क्यों फेंकती हे? विश्राम ले। कारणिक यह तेरा श्रम व्यर्थ हे, अब हम ऑरही हो गये हैं, हमारी वाल्यवस्था वनमेंही व्यतीत होगई, और अब हमारा अज्ञान नष्ट होगयाहै, इससमय जगत्रूपी जाल हमको तृणके समान तुच्छ दिखाई देताहै॥ ६२॥ छप्प्य—किर २ वांके नैन हाय तू हमें निहारत। करत ब्रथाही खेद वादी तन वसन संवारत। हम वनवासी लोग वालपन खोयो-

वनमें । तजी जगतकी आस कामना रही न मनमें। तृणके समान जानत जगत मोहजाल तोड्यो तमक । आनन्द अखण्डित पाय हम रहे ज्ञानकी छाक छक ॥ ६२ ॥

द्वैयं बाला मां प्रत्यनवर्तिमिन्दीवरदलप्रभांचीरं चक्षुः क्षिपिति किंमभिन्नेतीमनया ॥ गीता मोहाे डिस्मीकं स्मरकुस्-मबाणव्यतिकरज्वरज्वाला शान्ता तद्विप ने वर्राकी विकेमित ॥ ६३ ॥

चिरेंभति ॥ ६३ ॥

सं० टी०--पूर्वकथितां वैराग्यास्थितिमञ्जना प्रकारान्तरेण वर्णयति । इयमिति। इयं वाला
मांप्रिति चक्षुर्नेत्रं अनवरतं निरन्तरं किं क्षिपति । कथंभूतं चक्षुः । इन्दीवरदलप्रभाचोरं इन्दीवरस्य कमलस्य दलं इन्दीवरदलं तस्य प्रभां चारयतीति इन्दीवरदलप्रभाचोरम् । अनया किमिभप्रेतं किं वाञ्चयते । अस्माकं मोहो गतः । स्मरकुसुमवाणव्यातिकरज्वरज्वाला शान्ता वराकी तदिप न विरमिति विरामं न वजाति । एवं जाते सित कामिन्याः कटाक्षपाते। निरर्थक इति भावः । हिरखिरिणीवृत्तमिदम् ॥ ६३ ॥

शिखिरिणीवृत्तिमिदम् ॥ ६३ ॥
भा० टी०—यह सुन्दरी जो मुझपर कमलकीभी शोभा चुरानेशले नेत्रीं-के कटाक्षोंको फेंकती है इससे इसका क्या प्रयोजन है। हमारा मोह तो नष्ट हो गयाहै, और कामदेवके पुष्परूपीवाणोंसे निकलीहुई अग्निकी ज्वालाभी शान्त होगईहै, परन्तु यह वराकी फिरभी शान्त नहींहोती है॥ ६३॥

दोहा--कहा कारण डारत वयन कमलनयन यह नार। मोह काम मेरे नहीं तऊ न तिय चित हार॥ ६३॥ रमें हमें र्यत्त ने किं वस्तिये आव्यं ने गेयादिकं किं वीं प्राणसमासमागनसुंखं नेवीं धिकं प्रीतिये ॥ किंतू द्वीं-न्तप्तत्पतङ्गप्यनच्याळोळदीपांक्र च्छायाचं चळमाकळेंथ्य सर्वेळं संतो वैनीतं गर्तीः ॥ ६४॥

मं० टी ०—-एगरेण सर्वमित्यस्मायितं विहाय वनमेत्राश्चयणीयमित्राहः । स्म्यमिति । सन्तः सापुर्वेषा वनात्तं गताः । क्षिमिति सम्भावनायां । तेषां यसत्ये नियासाय हम्मित्रछं स्म्यं नाभृतिः । श्वात्यं श्वत्रणयोग्यं नेथं गानं नाभृतिःम् । अधिक्रग्रीतये प्राणसमायाः स्त्रियाः सुखं नाभृतिः एतःसर्वे सभृतिति यावत् । तथापि सन्ते। वनान्तं गता वनं सेत्रयामासुः । किन्तूझान्तपत्यतङ्गद्ववन्याणालदीपाहुस्न्यापाच्यातं सकलं जीवलोक्षमाकलस्य विचिन्त्य हृदये शाला स्वर्थः। शार्दृत्वविद्याहितं मृत्तिमिदम् ॥ ६४ ॥

भा० टी०—सन्तननोंके रहनेकेलिये क्या सुन्दर महल नहीं थे क्या उनके सुननेयोग्य उत्तमोत्तम गीत नहीं थे क्या अधिक प्रीति उत्पन्नकरनेवाली भाणप्यारी स्त्रीका समागमसुख उनके लिये नहीं था यह सब कुछ था परन्तु ये तो इस संसारको गिरतेहुए पतङ्गकी पवनसे हिलतीहुई दीपककी छायाके समान चंचल समझकर बनको चलेगये॥ ६४॥

छप्य-महल महारमणीक कहा विसवे नहिं लायक। नाहिं न सुनवे जोग कहा जो गावत गायक। नवतरुणीके संग कहा सुखह नहिं लागत। तो काहेको छांड २ ये वनकों भागत। इन जानलियो या जगतकों जैसे दीपक पवनमें। बुझिजात छिनकमें छवि भर्यों होत अंधेरो भवनमें॥ ६४॥

किं कन्दाःकन्दरेभ्यः प्रकैयसुपर्गता निर्झरा वा गिरि-भ्यः प्रध्वेस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभ्रेतो वलकिन्यश्य शाखाः॥ विक्ष्येन्ते यन्मुखानि प्रसीममुपगतप्रश्रयाणां खर्ळा-नां दुःखोपात्तालपवित्तसमयपवनवशान्नतित्रभूठतानि॥६५॥

सं ॰ टी ॰ — कन्दादी जीवनोपाये सित ित खलमुखनिरीक्षणेनेत्याह । किं कन्दा इति । कन्दरेम्यः पर्वतगुहाभ्यः क्षुधानिष्ठत्तिकरा औपधिमूलभूताः कन्दाः किं प्रलयं विनाशमुपगताः प्राप्ताः । गिरिस्यो निर्शरा जल्ह्माविणस्त्तोतसे। वा प्रलयगुवगताः । वाथवा तम्यः सरसं फलं विश्वति या वस्त्राल्टिस्यस्विधिशिष्टाः शाखास्ताः कि प्रव्यस्ता भगाः । यस्मान् प्रसभमतिशयेनोपगते नष्टः प्रश्रयो विनयो येवां तेषां दुर्जनानां खलानां मुखानि निवेकिभिर्धाश्यन्ते । कर्यभूतानि मुखानि दुःखेनोपात्तं यद्श्यं वित्तं तस्य यो गर्वः स एव पत्रयो वायुरेगस्तद्वशाक्तिता चलिता अल्वायेषुं तानि एवंभूतानि तेषां मुखानि कदापि न वीक्षणीपानीतिभावः । जीवनायोपरिचतं कत्यादि वसनं हि त्वक् । तस्मात्तव्यदमास्थाय त्यजेहुर्जनवीक्ष्यणम् ॥ १ ॥ सम्बराग्रत्तिमदम् ॥ ६९ ॥

भा० टी०—क्या गुफाओंसे कन्द्यूल और पर्वतांसे पानीके झरने नष्ट होगये? क्या द्वसोंकी सरस फल उत्पन्नकरनेवाली शाखाएँ दूटगई? जो मनुष्य अविनीत खलोंके दुःखसे पाप्तिकेयेहुए अल्पधनके मदसे नाचनेवाले मोहोंसेएक मुखोंकीऔर देखतेहैं, अर्थात् खलोंका आश्रय छोडकर सत्पुरुपोंको वनकन्द मूल खाकर रहना उचितह ॥ ६५ ॥

छप्रय—कहा कन्दराहीन भये पर्वत भृतलमें । झरना निर्जल भये कहा जे पूरित जलमें । कहा रहे सब दक्ष फूल फलिवन मुरझाये। सहे खलनके वैन अंधता जो मद छाये। कर संचित धन स्वल्प कुटिल श्रू इत उत फेरें। रे मन भूल न जाहु कबहुं इनके तू नेरें॥ ६५॥

गङ्गातरंगहिमशीकरशीतळीनि विद्याधराध्युषितचारु-शिळातळीनि ॥ स्थानौनि किँ हिमवतः प्रळेयं गर्तानि यंत्सापमानपरपिण्डरेंता मनुष्याः॥ ६६॥

सं० टी०——अपमानसिहतपरानरुचि त्यक्त्वा गङ्गातीरगिरिगुहानिवासो योग्य इत्याह ! गंगातरंगेति । गंगायास्तरङ्गानां हिमाः शीतला ये शीकरा अम्बुक्तणास्तैः शीतलानि विद्याधरैर्गधर्व- विशेषेरध्युपतानि सेवितानि चार्र्ह्ताण रम्याणि शिलातलानि येपु तानि हिमवतो गिरेः स्थानानि किं प्रलयं नाशं गतानि । यद्यस्मात् सापमानपरिपण्डरता मनुष्याः अपमानेन सह वर्तमानो यःपरिपण्डः परदत्तआहारस्तत्र रता लुव्या मनुष्या भवन्तीत्यर्थः । गंगासम्बन्धयुक्तानि हिमविद्रिरिसनिंधौ । स्थानानि यद्धि विद्यन्ते तदा किं दुष्टसेवया । वसन्तिलकावृत्तमिदम् ॥ ६६ ॥

भा० टी॰--गंडाकी तरंगोंके ठण्डे जलकणोंसे जो शीतल होरहे हैं, और जहां विद्याथर ठौर ठौरपर बेठे हैं ऐसे हिमालयपर्वतके स्थानोंका क्या लोप होग-याहै जो अपमान सहन करकेभी मनुष्य पराए दिएहुए अन्नमे रुचि करते हैं॥५६॥ दोहा—गङ्गातट गिरिवर गुफा उहां कहा नहिं ठोर।
प्यों ऐते अपमान सो खात पराये कीर ॥ ६६॥

यँदा मेर्कःश्रीमाशिपतंति युगान्ताशिनिहतैः समुद्राः शु-प्यंति प्रचुरिनकरयाहिनलयाः॥धरीगच्छेर्त्यन्तैं धरणिधरपा-देरपि धृती श्रीरीरे की वार्त्ती करिकलभकणीयचपैले॥६७॥

सं ट री ० — भेगुनियान्यायेन झरीगरयाशियनामाह । यदेति । श्रीमान् कनकमयो मेर्युगातस्य प्रत्यकालस्य योऽभिनंतन दान्तिथाणीनः सन् यदा पतित । प्रचुराणां बह्नां मकसणां श्राह्मणां च जलच्चरियरियाणां नित्या आल्याः समुद्रा अपि तेन युगान्ताग्निना यदा शुष्यति । तथा धरणीधराणां पर्यतानां परिस्तर्जायिभिर्नृता या घरा पृथिवी साप्यन्तं विनाशं तेनैव
यदा गण्डिन सद्। करिकार्यमस्य गजशायकस्य कर्णात्रवच्चपछे झरीरे का वार्ता स्थिरतसम्बन्धिनी न कार्यात्यर्थः ॥ मेर्बाद्यः रियरा नस्युस्तदा । के वपुपः स्थितिः । भविता न तु केप्रांचिज्ञानन्नेयं शित्रं भजेत् ॥ १ ॥ शिलरिणीवृत्तिमदम् ॥ ६७ ॥

भार टी०--प्रत्यकालके आग्निका माराहुआ जव श्रीमान सुमेरु पर्वत गिरपडताहे, वह वह ग्राहों और मकरोंके स्थान समुद्र जब सूखजातेहें, और पर्वतोंके पगसे दवीहुई पृथ्वीभी जब नष्ट होजातीहें तौ हाथीके वचाके कान-के लोंके समान चंचल शरीरका स्थिरताका क्या भरोंसा है॥ ६७॥

दोहा—मेरु गिरत सृखत समुद्र धरिन प्रलय वहे जात । चल दलके दलसी चपल कहा देहकी वात ॥ ६७॥

एकोंकी निःस्पृैंहः शान्तः पाणिपाँत्रो दिगम्बर्रः ॥ कर्दा श्राम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूछनक्षमः ॥ ६८॥

सं॰ टी॰—इदानीं वेराग्यपूर्वकं ज्ञानं प्रार्थयित । एकाकाति । हे राम्भा ! एताहरो। इं कदा भविष्यामि कीहरा इत्याकाक्षायां सर्वाणि प्रथमान्तिविशेषणानि एकाकित्यादिनि । अदितीयः निस्पृह इच्छाशून्यः, अत्तर्य शान्तः उपश्चमी । पाणी हस्ती पात्रममत्रं यस्य स पाणिपात्रः। दिश एव अम्बरं वस्त्रं यस्य स दिगम्बरः । कर्मणां संज्ञितप्रारच्यकियमाणानां निर्मू छने तत्त्वज्ञानेनाज्ञाननाश- द्वारा नाशने क्षमः समर्थ इति । एकचारी स्पृहाहीनो दिग्यासः करमाजनः । कदा स्याभि हि तत्त्वज्ञः कर्म दग्धुं सदाशिय ॥ १ ॥ अनुष्टुबृहत्तमिद्म ॥ ६८॥

भा० टी०—हे शम्भो ! में कब एकाचारी, इच्छाशून्य, शान्त, दिगम्बर, पाणिपात्र (अपने हाथोंकोही पात्र बनानेबाला) आर कपोंकी जड उखाउने समर्थ होऊंगा ॥ ६८ ॥

दोहा-एकाकी इच्छारहित पाणिपात्र दिगवस्त्र ।

शिव शिव हों कव होउंगो कर्मशत्रुको शस्त्र ॥ ६८।

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुधास्ततः किं द्तं पदं शि रॅसि विद्विषतां ततः किस् ॥ सम्मानिताः प्रणियनो विभै वेस्ततः किं केंल्पं स्थितं तनुभूतां तर्नुभिस्ततः किम्।६९।

सं टी०—जन्ममरणरूपसंसारिनवृत्तिं विना श्रीप्राध्यादि सर्व व्यर्थमेवेत्याह । प्राप्त इति । सकलान् कामान् मनोऽभिलिपतभोगान् दुहन्ति पूर्यन्ति याः श्रियस्ता यदि प्राप्तास्तद ततस्ताप्राप्तेः कि संसारिनवृत्तिभीविष्यत्यपि तु नेत्यर्थः । विद्विपतां विरिणां शिरिस यदि पदं दत्तं न्यस्तं तर्हि ततःकिम् । प्रणयिनः प्रियाः सम्बन्धिनो विभविगजतुरगादिभिर्यदि सन्मानिताः सन्कार्ण प्रापितास्ततः किम् । तनुभृतां जीवानां तनुभिः शरीरैः कल्पं कल्पपर्यन्तं यदि धितमस्यादि ततः किं न किमपि । एतैभववन्धनान्मुक्तिने भवेदित्यर्थः । श्रियः प्राप्तिवैरिजयः कल्पावि च जीवनम्। सर्वे व्यर्थे भवेत्रृणां यदि नापैति संसृतिः ॥ १ ॥ वसन्तितिल्कावृत्तमिदम् ॥ ६९ ॥

भा॰ टी॰--यदि सर्वकामनाओं के देनेवाली लक्ष्मी पाई तौ इससे क्या ? शत्रुओं के शिरपर पग धरा तौ इससे क्या ? धनसे मित्रोंका सन्मान किया तौ इससे क्या ? यदि इस देहसे कल्पपर्यन्त जिये तौ क्या ? अर्धात जवतक मनुष्य जन्मगरणरूप संसार निवृत्तीको नहीं माप्तकरता तवतक उसकेलिये यह सव व्यर्थ है ॥ ६९ ॥

दोहा—इन्द्र भये धनपित भये भये शत्रुके साछ।
कलप जिये तौऊ गये अन्तकालके गाल ॥ ६९ ॥
जीर्णा कंथा ततः किं सित्ममर्लपटं पहसूत्रं ततः किं
एकीं भीर्या ततः किं हयकिरसुगणेरिंहतो वीं ततः किं।
भीकं मुक्तं तीतः किं कद्दीनमथवीं वासेरांते ततैः किं

ब्रह्मेंच्योतिर्नवान्तेंभीथतभवभैंयं वैभैवं वी तर्तेः किर्मे ॥७०॥

सं० टी॰ — नीर्णेति । लीर्णा यत्था सम्या ततः किम् । सितं शुक्षममलं ध्वन्तं परं वसं वा पर्स्तं हुक्तादियं ततः किम् । एका अद्वितीया भार्या ततः किम् । ह्या अधाः किण् । नाध्य ततः किम् । ह्या अधाः किण् । नाध्य तेषां शोभना गणाः समृहार्णस्यातो व्यानो या ततः किम् । मक्तमोदनं भुक्तं ततः किम् । स्था व्यक्तं प्रस्कं ततः किम् । तथा व्यक्तं प्रसक्षं व्योतिर्वत यरिमस्तथाविधं मधितं भवभयं संसारभयं येन अन्तः हदि वैभवं ऐश्वर्थं न ततः किम् । सम्पाष्टताभिदम् ॥ ७० ॥

भा० टी० —यदि पुरानी गुरडी धारण की तो क्या ? उज्झ्वल निर्मल वस या पीताम्बर धारण किया तो क्या ? एकही स्त्री पास रही तो क्या ? अथवा हाथी घोडोंसीहत करोडों स्त्रियां रही तो क्या ! यदि भात आदि उत्तम भोजन किया तो क्या ? अथवा यदि सायंकालको कुत्सित अन्न खाया तो क्या ? संसारभयके नष्ट्रकरनेवाली न्रह्मज्योतिको हृदयमें धारण न की और वडा वेभव पायाभी तो इससेभी क्या है ? ॥ ७० ॥

छप्रय—जैसो कन्था चीर रेशमी सारी वैसी। जैसी नारी एक अश्वगजयुत वह तैसी। व्यंजन वह विध सरस कहा मन-कों ललचावै। सांझ समय विन नीन ट्रक तऊ भूक बुझावै। वह-विध वैभव कहा कहा शतवर्षिह जीये। होय न भवभय दूर विना हरिपद चित दीये॥ ७०॥

भक्तिर्भवे भरणजन्मभयं हिद्स्थं स्नेहो न वन्धुषुं न मन्मथ्जा विकाराः ॥ संसर्गदोष्रेहितो विजने निवीसो वैरार्ग्यमस्ति किर्मतिः पर्रमर्थनीयम् ॥ ७१ ॥

सं० टी०—यदि भगवद्गक्तिवैराग्यादिकमस्ति तर्हि तेनैव छतार्थ इत्याह । भक्ति-सं० टी०—यदि भगवद्गक्तिवैराग्यादिकमस्ति गक्तिः परानुराक्तिवैति । मरणजन्मनोर्भयं च रिति । भवति संसारोऽस्मादिति भवः शंकरस्तास्मिन् भक्तिः परानुराक्तिवैति । मरणजन्मनोर्भयं च हृदिस्थमस्ति, वन्धपु स्नेहः सिक्तरिप न । तथा मन्मथः कामस्तजन्या ये विकाराः परस्त्रीदर्शनसंजा-हृदिस्थमस्ति, वन्धपु स्नेहः सिक्तरिप न । तथा मन्मथः कामस्तजन्या ये विकाराः परस्त्रीदर्शनसंजा-पादयस्तेऽपि न सिन्ति । संसर्भदोषेण रिति विजने वने निवासः स्थितिवर्तते । देवसम्पन्मूलभूतं पादयस्तेऽपि न सिन्ति । संसर्भदोषेण रिति विजने परमन्यत् किमर्थनीय याचनीयमस्ति न किमपीसर्थः । वैराग्यं चाास्ति । अति भक्तपादिसाधनकलापात् परमन्यत् किमर्थनीय याचनीयमस्ति न किमपीसर्थः । भक्तिभेत्रे जनेभीतिर्न प्रीतिस्तनयादिषु । हृदि कामविकारो न वैराग्यं किमतःपरम् ॥ १॥ भक्तिभेत्रे जनेभीतिर्न प्रीतिस्तनयादिषु । हृदि कामविकारो न वैराग्यं किमतःपरम् ॥ ४॥ भा० टी०--शिवनीमं भक्ति हो, मरण और जनमका भय हृदयमं हो, भाईबन्धुओंमे स्नेह् न हो, कामदेवजनित विकार मनसे दूर हों, और संसर्ग-दोपसे रहित निर्जनवनमें निवास हो तो फिर बताओ इससे बहकर और वैराग्य क्या है जो ईश्वरसे मांगनेयोग्य है ॥ ७१ ॥

दोहा—मन विरक्त हरभक्तियुत संगी वन तृणाडाभ । याहूतें कछ और है परस अर्थको छाभ ॥ ७१ ॥

तर्रमाद्नन्तमंजरं पर्रमं विकासि तहहाँ चिन्त्य ेकि मिर्भरसिक किल्पेः ॥ यर्रमानुषंगिणी इसे मुवनाधिपत्यभोगादियः कृपणलोकमेता भवन्ति ॥ ७२ ॥

सं ॰ टी० - त्रसोपदेरापूर्विकां छोकतुच्छतां दर्शयति । तस्मादिति । वराग्यस्य त्रसचिन्तनार्थत्वात् भो विरक्त त्वं त्रस चिन्तय सम्यग् जानीहि । तर्हि कीटरां त्रसानन्तं देशकाळवरनुपरिच्छेद्रशृन्यं यतोऽतरं देहधर्मजरादिविकारहीनमतएव परमं सर्वाधिष्टानतया सर्वीत्क्रप्टमतएव विशोकं शोकोपळिक्षता विद्या तत्कार्यरहितं तद्रस विहाय किमेभिरसिद्रकल्पः देहिन्द्रियादिष्वात्मदृष्ट्या योगक्षेमार्थमत्सेकल्पैः कि न िक्मिप सुखमस्ति । यस्मादस्य व्रह्मानन्दस्यानुपङ्गिणः सम्बन्धिनः सन्त इमे मृवनाधिपयभोगादयो व्रह्मेन्द्रादिसम्बन्धिसुखिवशिपास्तत्साधनानि च कृपणळोकमताः विपयसुखेन्छया कृपणा दीनाः पामराः ये लोकास्तेषां मताः सत्यतयाऽभिमता भवन्ति । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीन्वन्तीति श्रुतेः । सिच्चदानन्दरूपं यत्तदन्तःकरणे यदि । आविभवेत् प्रियाः सर्वे तत्सम्पर्काद्ववन्ति वै ॥ १ ॥ वसन्तितिळकावृत्तिमदम् ॥ ७२ ॥

भा० टी०—है विरक्त! तुम अनन्त, अजर, परमोत्कृष्ट, शोकरहित, ब्रह्मका चिन्तन करो। असद् विकल्पोंके करनेसे क्या लाभ हैं, पामरजनोंको अपि-तकरनेवाले यह भुवनाधिपत्य भोगविल,स आदि सब उसी परब्रह्मके आश्रितहैं॥७२॥

दोहा—नह्म अखण्डानन्दपद सुमरत क्यों न निशंक। जाके छिन संसर्गसों लगत लोकपति रंक॥ ७२॥

पात्तीलमाविशाँसि यासि नेभोविलंध्य दिङ्मण्डलं अ-मांसि मानस चापलेने ॥ औन्त्यापि जीतु विमेलं कथमा-तमेंनीतं तिंद्रह्में ने स्मेरिसे निर्दातिमेषि येन ॥ ७३॥ रेंद हैं। द्वानावाक विशेष का माणि विशेष का माणि विशेष का माणि कि । पातालिमिति । वे भागम देशन का माणि व का माणि व वे भागमाणि माणि माणि माणि । यादा विशेष के के कि कि कि माणि के भागमाणि का माणि के भागमाणि का माणि के भागमाणि का माणि का मा

भाष्टि शिष्य है निष्य है । अपनी चञ्चलताके वज्ञ पातालमें जाताहै, आकायको पादिनाँहें। और सब दिशांओंमें भ्रमण करताहै, परन्तु भूलकरभी कभी हृद्यमें रिषद चिमल उस परम्रायका रमर्ण नहींकरताहै कि जिसके स्मरण-भावते ने परमानन्द्यों प्राप्रहोसकाई; यता इसका क्या कारण है॥ ७३॥

कुण्डलिया—फांच्यों तें आकाशकों पेठ्यो तें पाताल । दशों दिशामें तें पिज्यों ऐसी चंचल चाल ॥ ऐसी चंचल चाल इते कवर निर्ध आयों । बुद्धिसदनको पाय पाय छिनह न छुना-यों । देख्यों नाहि निजरूप कृप अमृतको छांट्यो । ऐरे मन मित-मृह क्यों न भववारिधि फांच्यो ॥ ७३ ॥

रांत्रिः सिवं पुर्तः सं एवं दिवंसो मर्त्वा वुधी जन्तैवो धावँ-न्युर्चिमनस्तथैवं निभृतप्रारव्धतत्तिक्याः ॥ व्यापारैः पुन-रुक्तर्युक्तविपयेरेवंविधेनीमुँना संसारेणे कदार्थिताः कैथमहो

मोहाँ हैं लजाँमहे ॥ ७४ ॥

मं० टी०—कस्यचित् संसारसम्बन्धिकण्यागीरः खिलपुरुपस्योक्तिः । रात्रिरिति । अहो इति दुःग्व । अमुना एवंविधेन संसारेण कद्यिता वयं मोहान्मोड्यात् कथं न छजामहे । कैः व्यापारः । किंमृतः व्यापारः । पुनरुक्ताविपयेः पुनिविहितानि पुनरुक्तानि यानि भुक्तानि भोजनानि अन्ये च विपयाः पुनः पुनरुक्तास्तिर्भुधाःपण्डिता जन्तवः प्राणिनः उद्यमिनः उद्यमवन्तो धावन्ति । किंमृता जन्तवः तथेव पुनः पुनिर्निमृतप्रारन्धतत्तित्रयाः वारंवारं निभृताः प्रारन्धास्त-किंम्या यस्ते । किं छत्वा तां रात्रिं मत्ता । चान्यत् पुनस्तथेव दिवसं मत्वा ज्ञात्वा । यतः पुनिष् किंम्या पुनरिष दिवसः पुनरिष पक्षः पुनरिष मासः ॥ पुनरिष सायं पुनरिष वर्षे पुनरिष वृद्धः पुनरिष याति समिति च काळः । एवंविधं काळस्य स्वरूपं ज्ञात्वा तस्मात् संसारिहिंदरिक्तरेव न भवतीति ब्रीडा । शार्द्छिनिक्रीडितं वृत्तिमृदम् ॥ ७,४ ॥

भा॰ टी॰—वेहि रात्रि होतीहै, वेही दिन होतेह, यह जानकरभी बुद्धिमान मनुष्य उद्योग करतेहुए वारंवार कहे ओर भोगिलिये विषय जिनके ऐसे अने कव्यागरोसें पुनः पुनः आरंभिकियी उन्ही २ क्रियाओंको करते जिस संसारमें डोलतेहैं; इस संसारकरके कदर्थनिकयेहैं तोभी अपनी मृहताहेनुसें अहो आश्रय है कि हम लिज्जित नहीं होतेहैं; और इस असारसंसारका परिन्याग नहीं करतेहैं।। ७४॥

कुण्डिलिया—नेही निशि वेही दिवस वेही तिथि वेही वार। वे उद्यम वेही किया वेही विषयविकार। वेही विषयविकार सुनत देखत अरु सुंघत। वेही भोजन भोग जागि सोवत अरु ऊंघत। महा निलज यह जीव भोगमें भयौ विदेही। अजहं पलटत नांहि कढत गुण वेके वेही॥ ७४॥

मंही शिष्टा शर्येया विपुरुमुप्धानं भुजलँता वितानं चार्काशं व्यजनमनुकूलोऽथंमनिछैं। । स्फुरेंद्दीपश्चन्द्री विरित्विनितासर्कृष्टितः सुंखं शन्तिः शेते मुनिरतनुभूतिर्निन्धे देवे ॥ ७५ ॥

सं० टी०—अधुना विरक्तस्य मुनेरैश्वरेंग राजतुल्यतां वर्णयति । महीति । मुनेः पृथि व्यव शिष्टा श्रेष्ठा शय्याऽस्ति । मुजलतेव विपुलमुक्तममुपधानमुपवर्हणं । आकाशमेव वितानमुपितना-वरकवस्त्रमण्डपः । अयमनुक्लोऽनिले। वायुर्व्यजनम् । चन्द्र एव स्फुरदीपः । विरितिः विरिक्तिरेव विनिता स्त्री तस्याःसङ्गेन मुदितः आनन्दयुक्तः । एवंभूतो मुनिः शान्तःसन् सुखं शेते क इवातनुः मृतिरितिसमृद्धो नृप इवेय्यर्थः । मह्यादि शय्यादि विना श्रमेण लव्या मुनिः शान्तमना वितृष्णः । श्रीते सुखं भूप इवालवुश्रीः शिवं स्मरन्नष्टजगिदिमोहः ॥ १ ॥ शिखरिणीवृक्तमिदम् ॥ ७५ ॥

भा० टी०--एथ्वीही जिसकी उत्तम शय्या है, भुजाही उत्तम तिकया हैं, आजाही उत्तम तिकया हैं, आजाही जिसका उत्तम पंखा है, चन्द्रपाही जिसका प्रकाशमान दीपक है, और विरितिही जिसकी स्त्री हैं, ऐने प्रमत्रित्त शान्त योगीश्वर आतिसमृद्धिमान राजाओं केसमान सुखपूर्वक शायन करतेहैं ॥ ७५ ॥

छप्पय--पृथ्वी परम पुनीत पलंग ताको मन मान्यो । तिकि या अपनी हाथ गगनको तम्बृ तान्यो । सोहत चन्द चिराक वी

जना करत दसोंदिसि । वानिता अपनी वृत्ति संगही रहत दिव-सनिशि।अतुलित अपार सम्पति सहित सोहत हैं सुखमें मगन। मुनिराज महानृपराज ज्यों पौढे दैखे हम दृगन॥॥७५

त्रैलोक्याधिपतित्वमेवँ विरंसं यस्मिन्महाशासने तैछ-व्ध्वासनवस्त्रमानघर्टने भोगे 'रैतिं मी कृथीः॥भोगैः 'कीऽ-पि से एक एवं परेमा नित्योदितो जुमेमते यत्स्वीदाहिरें-सा भर्वेन्ति विषर्थेस्त्रिलोक्यराज्यादेयैः॥ ७६॥

स॰ टी॰--त्रैलोक्येति । हे आत्मन् तत्परत्रहा लब्ध्या भोगे रार्ति मा क्रयाः । यस्मिन् परम्रह्मणि एव निश्चयेन त्रैलोक्याधिपतित्वं विरसं वर्तते । किं मूर्ते भोगे आसनवस्त्रमानघटने ञासनं सिंहासनसुखासनादि, वस्त्राणि चीरांशुकपदृदुकूलादिनि, माना महत्वास्तित्वमानादि: तेपां घटनं यस्मिन् तस्मिन् । एवाविधे मोगे का रतिः । कोऽपि सम्भोग एक एव परमो निन्योदितः सन् उञ्जूम्भते । यत्स्यादात् यस्य ब्रह्मणो रसास्त्रादात् त्रैलोक्यराज्यादयो त्रिपया विरसा भवन्ति । मेोसदायकत्वादित्यर्थः । शार्दृलविक्तीडितं वृत्तमिदम् ॥ ७६ ॥

भा ॰ टी ॰ -- हे आत्मन् । जिस ब्रह्मज्ञानके पाप्तहोनेसे त्रिभुवनका राज्य निस्सार होजाताहै उसको पाकर भोजन वस्त्र और मानकेलिये भागोंमें पीति मतकर, वही एक भोग सबसे श्रेष्ठ और नित्य उदित अर्थात् प्रकाशित हैं, जिसके स्वादके सन्मुख त्रैलोक्यराज्यादि सम्पूर्ण ऐश्वर्य नीरस होजानेहैं ॥ ७६ ॥

सोरठ[--कहा विषयको भाग परम भोग इक और है।

जाके होत सँजोग नीरस लागत इन्द्रपद ॥ ७५ ॥

किं वेदैं स्मृतिभिः पुराणपंठनैः शांस्त्रेर्महाविस्तरः स्वर्गधामकुटीनिवासफ्लदैः कर्मिकयाविभँनैः ॥ सुकृत्वेदं भववन्धदुःखरचनाविध्वंसकालार्नेलं स्वात्मानन्दपद्प्रवेदा-कर्छनं शेर्षा विषग्वतर्थेः ॥ ७७ ॥

सं वि -- एकमामहानं मुक्तवा विदायपानादि कोलप्रवारणार्वे स्वर्गीर्दे दर्व स निफारमिसाह । कि वैदेशित । सामीप्रामाधीतैर्वेदैर्वनिष्ट रिव्यनिमेक्तानिः स्वाहितिः पुरासाल रकान्द्रनारदीयादीनां पठनेर्मेह्पिन्तारपुक्तिन्योक्तरणादिशासीश कि न किमी मंसारिहित-रुक्षणं फर्लं भवकिवर्थः । तथा स्वर्ग एव मामस्वरण कुलां निवायव्यक्षणं फर्लं द्वावीदि तथा कैं। कर्मस्ता या ब्योतिश्रोमादिक्तियास्तासां किमोर्विल्यमेल कि न किमपुक्तं फर्लं । तर्दि कलानदि किमिति कुर्वर्वीति तलाइ । मुक्तेति । भवस्य संसारस्य यानि जितिसदृत्यानि वेदां भागे गुर्व्वं तस्याज्ञानद्वता या रचना निर्माणं तस्य विवंशे विनाशे कालानलं प्रलयकालक्षिय्यं । स्वत्नानन्दस्य पदे स्वरूपे प्रवेदास्तदाकारत्वया स्थितिः तस्य कलनं सम्यादकालं तत्वज्ञानमेकं मुक्ता परिस्यव्य श्रेषा वेदास्ययनादयो विगालं दृत्तपः व्यवज्ञारमात्रमित्रर्थः । श्रुतिस्मृतिपुर्सणंस्तु स्वात्मानं यो न वेद थे। तस्य क्रियाकलापा हि पुनसारितदायिनः ॥ १ ॥ शार्युलिकोडितं वृत्तमिदम्॥ ७० ॥

भा० टी० — श्रुनि समृनि पुगण और वहे वहे बाखोंके पहनेसे क्या प्रयोजन है, केवल स्वर्गरूपीयाममें कुटी बनाकर रहनाही जिनका फर्ड है ऐसी जो कर्मरूपी किया हैं उनके विलासोंसे क्या प्रयोजन हैं ? संसारके बन्धन रूपहु:खोंकी रचना विध्वंसकरनेकेलिये प्रत्याक्षिकेसदश ब्रह्मानन्द्रपद्में प्रवेशके स्ट्योगके अतिरिक्त शेप सब विणग्वृत्ति हैं॥ ७७॥

छप्पय—श्रुति अरु समृति पुरान पढे विस्तारसहित जिन। साधे सव शुभकर्म स्वर्गको वास लद्यो तिन। करत तहां हू चाल कालको ख्याल भयंकर। ब्रह्मा और सुरेश सवनकों जन्ममरणडर। ये वणिकवृत्ति देखी सकल अन्त नहीं कलु कामकी। अद्वैत ब्रह्मको ज्ञान यह एक ठौर आरामकी॥ ७७॥

औयुःकछोळेळोळं कतिपयदिवसस्थां यिनी योवनँश्रीर-र्थाः संकल्पकर्ल्पा घनसमयति डिडिश्रमा मोगपूगाः ॥कण्ठा-रेषेषेपंगूढं तेंदेंपि चें नें 'चिरं यंतिप्रयामिः प्रणीतं व्रह्मं-ण्यासक्तिचेता भैवत भवभयाम्भोधिपीरं तरीतुम् ॥ ७८॥

सं ॰ टी ॰ - -इदानीं जगजीवनादीनां क्षणमङ्गुरतं दर्शयन् सदैकरसे व्रह्मणि चित्तस्येयें मोक्षाय शिक्षयति । आयुरिति । हे उत्तमा व्रह्माणि प्रत्यगिमन्ने आसक्तं तत्परं चित्तं येपां ता दशा यृयं भवत किमर्थमिति चेत्तत्पलं दर्शयति । भवभयाम्बोधिपारं तरीतुं भवस्य जननमरणलक्षणस्य संसारस्य यद्भयं स एवाम्भोधिः सागरस्तस्य पारो मोक्षस्तं प्राप्तुमित्यर्थः । व्रह्मातिरिक्ते जगत्यस्थिर-स्वमाह आयुरित्यादि पादत्रयेण । जिवनं कल्लोल्लोलं जलतरङ्गवचपलं, तथा योवनस्य श्रीः शोभा तिपयदिवसान् स्थातुं शोळमस्या : सा । अर्थास्तु धनतुरगादयः संकल्पकल्पाः अस्थिरत्वेन कल्पतुल्याः। तथा भागपूगा विषयजन्याः । सुखानुभवसमूहाः घनसमये मेवकाळे या तिहिंद्रियु-द्दिभ्रमो विलासो येपां तोदशाः सन्ति । प्रियाभिः स्त्रीभिः सह यत्प्रणितं ऋतं कण्ठाभ्रियेप-इमालिङ्गगनसुखं तदपि न चिरं किन्तु क्षणिकं तस्मात् प्रसगिमेन त्रसण्येत्र शास्त्रते मोक्षाय नः समाधेयमितिभावः ॥ जीवस्यानर्थदा भागा जीवितं चातिचञ्चलम् । तद्य त्रसण्यासक्तिचन्नः ल भवन्सहो ॥ १ ॥ स्त्रग्धरावृत्तमिदम् ॥ ७८ ॥

भा॰ टी॰-आयु जलके तरङ्गोंके समान चश्चल है, युवाबस्थाकी जोमा ल्पकालतक रहनेवाली है, धन मनके संकल्पसेभी क्षणिक है, सम्पृर्णमान पीकालीन विजुलीके समात चश्चल हैं, और प्यारीस्त्रीका आलिहनकरना हुत्द्नितक स्थिर नहींरहता, इसलिये संसारकृषी भवसागरमे पारहानेके

हरेंगे हे मनुष्यो ब्रह्ममें अपने चित्तको छीनकरो ॥ ७८ ॥

छप्यय--जलकी तरल तरङ्ग जात ज्यों जात आयु यह। गोवनहू दिन चार चटककी चोंप चाह चह। उयों दासिनीप्रकारा मेग सब जानहु तैसें। तैसेंही यह देह, अथिर थिर देहें हैं केंसे। पुनि ऐरे मेरे चित्त तृं होहि ब्रह्ममें लीनगति। संसार अपार मुद्र तर करि नौका निजज्ञानरति ॥ ७८ ॥

व्रह्माण्डमण्डलीमीवं नें लोभीय सनिष्यनीः॥ शफरीस्फुरितेनाव्धे धुव्धताँ नी तुं जीवते॥ ७९ ॥

सं० टी०—आब्रह्मभुवना विषया मनिष्यो। न क्षीभयनीति सन्भवना र १००० १००० १ विभिन्ने । व्याप्यस्थमण्डली समृहरतन्मात्रं यहाऽहवं मण्डलं मण्डली व्याप्यं स्थान भेटी हो स्थान नेचारशीलस्य लोभाय न भवति । तत्र राष्ट्रतमाह । दाष्ट्रवेग्नीयल मुद्रस्य यथा क्षुट्यता क्षोमो न् जायते तद्विरार्थः॥ वजान्यसम्याः संगर्भ र वर्णे स्वार्थः । विमतयप्रचोरेण सिन्धुर्निवीषसर्पति ॥ शन्षृत्हरागिद्भः ॥ ००, ॥

भा ॰ टी॰--मनस्त्री अधीत्, जात्मिद्याग्यीत मन्त्रीते १००० हिल् ह ब्रह्माण्डमण्डल तुन्छ है, जैसे महलीके इल्पावेस समुद्राणी, इनगर । हमारा गत्पर्य यह है मनस्वीका चित्र समुह्यत् सम्भीय है, विश्वत् हैं क्लिक इनके तन्मुख तुच्छमछलीकेसमान है।। ७९॥

दोहा—ज्यों सपारीकों पिरत तथ सागर करन न छोत । अण्डासे प्राप्तण्डको स्यो सन्तनको लोभ ॥ ७६ ॥

यैदाँसीदज्ञांनं स्मरतिमिरसंस्कारजितं तदां हेष्टं ना-रीमंथिमिदमरोषं जर्गद्पि ॥ इदीनीमस्मेंकं पटुतरिववे-काञ्जनर्जुषां समीभूतीं देष्टिस्त्रिभुवनर्मपि ब्रह्मं तनुते ॥ ८०॥

सं॰ टी——यदेति । यदा यिसम् प्रस्तावे अज्ञानं आसीत्तदा इदमशेषं जगदिष मया नारी-मयं दृष्टं । किंभूतमज्ञानं समरितिमिरसंस्कारजनितं समरस्य कन्दर्पस्य यित्तिमिरमन्यकारस्तस्य संस्कारेण पृविभवोद्भवपरिणामेन जिनतं । इदानीं साम्प्रतमस्माकं समीभूता दृष्टिः समतापरिणामे-नाछंकृतं चेतः त्रिभुवनमि त्रह्म तनुते परत्रह्मस्वरूपं विस्तारयित । किंभूतानामस्माकं पटुतरिविवे-काजनजुपां प्रकृष्टपटुर्योऽसौ विवेकः पटुतरिविवेकः पटुतरिविवेक एवांजनं जुपन्ति ते पटुतर-विवेकांजनजुपस्तेषां। अथ यथास्थितसंसारस्य स्वरूपं पश्चामः । शिखरिणीवृत्तिमिदम् ॥ ८०॥

भा० टी०--कामदेवके अंधकारजानित अज्ञानकेकारण यह सम्पूर्ण जगत् मुझको स्त्रीमय दिखाईदेताथा परन्तु इससमय हमारी दृष्टि विवेकरूपी अंजनके स्रुगानेसे स्वच्छ दोगईई जिससे सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय दिखाई देताहै.॥ ८०॥

दोहा—काम अन्ध जवही भयो तिय देखी सवठौर। अव विवेक अंजन कियें ठच्यो अलख सिरमीर ॥८०॥

रम्याश्चन्द्रमरीचेयस्तृणवैती रम्या वनान्तर्खेळी रम्यः साधुसमागर्मः शमस्र्वं कांव्येषु रम्याः कथीः॥ कोपोपा-हितवाप्पविन्दुर्तरळं रमेंयं प्रियाया मुंखं सैर्वं रमेंयमनित्यता-मुपंगते चित्ते। नै किंचितेपुनैः॥ ८१॥

सं देश--चित्तेदियरं सित सक्तरम्भ वन्तु अस्पमित्र भाषातः नित्तर्गर्यमेव सम्पाद्भवित्यह । स्या इति । चन्द्रमस्चियो स्याः । बनान्तःस्यकी स्या । किन्ता बनानाः स्यके तृत्रको द्याद्वर । स्यक्तमाममे स्यः । द्यममुखं स्यं । बालेषु कथा स्याः । अस्यम् जिल्ला गुकं स्य । किन्तं मुखं कोषोपादितवाल्यविन्दुतस्यं कोषोपादितः कोषेन विविधितं। वी द्यादिन्दुनेति तस्यं चंचलस् । पुनः अनियतामुपर्गतं संप्रति चित्ते सर्वे न किञ्चित्समा। इत्तिकिति दितं द्वनिद्य ।। ८१ ॥

भाः टी॰—पश्चि चन्द्रमार्का किर्णे अच्छी लगनीयी, इरिनत्शवानी मृदि स्टाइनी माल्म होतीयी, साधुननीका समागम श्रेष्ठ लगनाया, अपना- रूपी सुत्त अच्छा लगताथा, कान्योंमें कथा रमणीय मालूम होतीथी, और कोघ-केकारण निकलेहुए आसुओंकी बून्दोसे चश्चल पियाका मुख रमणीय दिखाई-देताथा, परन्तु जबसे संसारकी अनित्यता मालूम हुई तबसे सबकी रमणीयता जातीरही अर्थात् कुछ अच्छाही नहीं लगता ॥ ८१॥

छप्यय—चन्द चान्दनी रस्य रस्य वनभूमि पहुपयुत । त्योंही अतिरमणीक मित्र मिळवौ अद्भुत । वनिताके मृदु वोल महारमणीक विराजत । मानिनिमुख रमणीक हुगन असु अनझर साजत । एक हे परम रमणीक सब सब कोउ चितमें चहत । इनकों विनाश जब देखिये तब इनमें कछुहु न रहत ॥ ८१ ॥

मिक्षौशी जनमध्यसंगरिहतैः स्वायत्तेष्टैः सद्ौ दाना-दानिवरक्तमार्गनिरतैः कैश्चित्तपैरैवी स्थितैः ॥ रथ्याक्षीण-विशीर्णजीर्णवंसनैः संप्राप्तकन्थाँसिखर्निर्मानी निरहंकृतिः शमसुखाभोगैकवद्धस्पुँहः ॥ ८२ ॥

सं टी०—इदानीं साधनसम्विसहितं तपितनं तुर्छभावन नणंगले । निधारित । प्रिविधित प्रिविधित सम्बन्धः । प्रथमानित्तेव निर्मित । निर्मिति ।

भार टीर--भिक्षाटन पारके भोजनवारनेवाले, महत्यें के नार्वकी संगतिरहित, सर्वहा स्वाधीनवेष्टावरनेवाले, देनेसेभी और केरोनेकी किला-संगतिरहित, सर्वहा स्वाधीनवेष्टावरनेवाले, देनेसेभी और केरोनेकी किला-मार्गमेंही स्त रहनेवाले, मार्गमें पहे पाटे पुराने बपटोकी गुरुही यहरूपवरनेताले, मान और अहंकारसे रहित, और शमग्रुख अर्थात् ब्रह्मानन्द्रमेंही इच्छा रखनेवार्ठ तपस्वी विरलेही होतेंहें ॥ ८२ ॥

सोरठा—उच्छन्नि गित मान समहिं इच्छारहित।

करत तपस्त्री ध्यान कंथाको आसन किये॥ ८२॥

मार्तर्मेदिनि तार्त मारुँत संखे तेर्जःसुवँनधो ज्र्छ आतैर्व्योमं निवर्ध एवं भवतीमेषे प्रणामाँ ज्ञिलः॥ युष्मत्संगवशोपजातसुकृतोद्रेकरफुरिक्सिकज्ञानापास्तसमस्तमोहमिह

भा 'लीये 'पॅरे व्रह्मणि॥ ८३॥

सं० टी०—अधुना देहाकारपरिणतपञ्चभूतानां चिरसम्बन्धित्वात्तात्रतिं कुर्वन् क्षमापयित । मातिरिति । हे मातिर्भेदिनि । धरिण । हे तात । पितर्मारुत वायो । हे तेजीऽप्रे सखे सिन्मत्र । हे जल सुबन्धो सत्परिवार । हे व्योमाकाश भातः । भवतां पञ्चानामग्रे एपोऽन्त्यः प्रणामाञ्जलः प्रणामयुक्तः सरसम्पुटो मया क्रियते पुनर्देहाभावात् प्रणामाञ्जलेरभाव इःयतोऽन्यः । तत्त्वतोपकार् समरत्वाह । युष्माकं सङ्गवशेन पाञ्चभौतिकदेहसम्बन्धेन जातो यः सुकृतस्य पुण्यस्योद्रेक स्थाधिक्यं तेन स्फुरद्धासमानं यित्रमेलं ज्ञानं तेनापास्तोऽपगतस्तमस्तः समग्रे। मोहमहिमाऽज्ञानं तत्कार्यं च यस्य सोऽहं कार्यकारणाभ्यां परे ब्रह्मणि लीये स्थूलं सूक्षं च देहं हित्वा विदेहमुक्तिं यामीत्यर्थः । भूम्यादिपञ्चभूतेषु सम्बन्धं बहुकालिकम् । संस्मरंस्तन्नितं कुर्वन् क्षमापयित सादरम् ॥ १ ॥ शार्द्वलिक्नीडितं कृत्तिमदम् ॥ ८३ ॥

भा० टी ० हे पृथ्वि मात! हे पिता वायु! हे सखे तेज! हे बन्धो जल! और हे भात आकाश! मैं तुम पांचोंके सन्मुख हाथ जोडकर अन्तसमयका प्रणाम करताहूं। आपकी संगतीकेकारण उत्पन्न पुण्यकी अधिकतासे प्रकाशमान् ज्ञानहारा मेरी समस्त मोहमहिमा दूर होगईहै और में अब परब्रह्ममें लीन होताहूं॥८३॥

छप्पय—अरी मेदनी मात तात मारुत सुन ऐरे। तेज सखा जल श्रात व्योम वन्धू सुन मेरे। तुमकों करत प्रणाम हाथ तुम आगे जोरत। तुझरेही सत्संग सुक्रतको सिंधु झुको-रत। अज्ञानजनित वह मोहहू मिट्यो तिहारे संगसों। आनन्द अखण्डानन्दको छाय रह्यो रसरंगसों। ८३॥ यीवत्स्वर्रेशमिद् कलेवररैंहं यांवर्च दूरे जरा यांवचे-न्द्रियरींक्तिरप्रतिहतीं यावर्ते क्षेयो नींयुर्षः ॥ आत्मश्रेयिस तींवदेव विर्दुषा कीर्यः प्रयेतेनो महीन्प्रोदीप्ते भैवने च कूपखेननं फ्रैंत्युचैंमःकीहर्जीः ॥ ८४॥

सं० टी०—अधुना विष्ठवाहुल्याच्छीष्ठमेव श्रेयसे यत्नो विषय इत्याह । यावदिति । इर् केळवरगृहं शरीरं यावत्स्वस्थमञ्यप्रम्, यावज्ञारा वृद्धावस्था दूरे तिष्ठति, यावद्यत्ययंन्तिमिन्द्रयाणां शिक्तरप्रतिहत्ता न नष्टा, यावदायुपो जीवितस्यापि क्षयो विनाशो न तावन्त्रथममेव विदुषा विवेशिना पुरुपेणात्मनः श्रेयसि कल्याणार्थ महान्त्रयतः कार्यः । ननु यदा भोगशिन्तिर्वयति नदा श्रेयित यत्नं करिण्याम इति तत्राह । सन्दीते इति । भुवने गृहे सन्दीम तु द्यमाने नित तिमानकारे यत्नं करिण्याम इति तत्राह । सन्दीते इति । भुवने गृहे सन्दीम तु द्यमाने नित तिमानकारे वृपस्तननं प्रति य उद्यमो यत्नः स कीदशो नेव योग्यस्तथा देहेन्द्रियादिशक्तिनाशे श्रेयोधं यावेष्ठ पृपस्तनं प्रति य उद्यमो यत्नः स कीदशो नेव योग्यस्तथा देहेन्द्रियादिशक्तिनाशे श्रेयमे तावणेषा पृरुपे व्यर्थः । देहेन्द्रियमनोस्वास्थं यावदेव वृणां स्थितम् । आग्नः श्रेयमे तावणेषा वृद्धिमानरः ॥ १ ॥ शिखरिणीवृत्तमिदग् ॥ ८४ ॥

भा० टी०-जबतक शरीर पुष्ट और निरोग है, जबनक हजावस्था दूर है. जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट नहीं होतीहै, और जबतक आग्रमाध्य नहीं हला है, तभीतक बुद्धिमानपुरुषको उचित है कि अपने कल्याणकेलिये महार प्रवाद करे, क्योंकि घरमें आग लगनेपर क्आ खोदनेसे क्या लाभ होसनाहै। अद्धा

छप्पय्—जों लों देह निरोग, और जों लों न जरा मन। अर जो लों वलवान् आयु अरु इन्द्रिनके गन। तो लों निजदा प्राण करनकों यत्न विचारत। वह पण्डित पर धीर दीर लें। प्रधार सहारत। फिर होत कहा जर्जर भेषें जर नप मंजन परि प्रवणा भवकाय उठ्यो निजभवन जब तब वर्षों तर एपिट प्रवणा। वर्षा

नीष्ट्यस्ता भीव वादिहन्ददर्मनी दिया विकितिनित्ता खडूँ। येः करिकुम्भपीठद्रुं मैनीवी में निति प्रशः ॥ याज्या-कोमलपळ्याधरर्सीः 'पीतो में चेन्द्रोट्ये नार्ययं गतिनेव निष्केलमहो शून्यीलये दीपर्यंत् ॥ ८५॥ सं० टी०—अत्र योवनस्य त्रिविधं फलं तत्रैकमिप न प्राप्तिमित्यनुतपन्नाह । नाम्यस्ते ति । भुवि पृथिव्यां वादिनामनीश्वरबुद्धीनां यो वृन्दः समुहस्तस्य दमनशीला तथा विनीतानां नम्नाणा मुचिता योग्या या विद्या सा नाम्यस्ता । तथा करिणां हस्तिनां कुम्भः शिरःपिण्डान्येव पीठानि तेयां दलनं विदारणं यैस्तैः खङ्गाप्रैर्यशो नाकं स्वर्गं न नीतं प्रापितम् । कान्तायाः ख्रियः कोमल पह्न्वसदृशो योऽधरोष्टस्तस्य रसश्च चन्द्रोद्ये न पीतः । अहो कष्टं शून्यालये दीपवत्तारूण्यं निष्कल मेव गतमहिकं सुखमिप न लब्बिमसर्थः । मानुषं दुर्लभं प्राप्य सिद्ध्या नार्जिता भुवि । ज्ञानखर्ने रिन्द्रियारिदीमेतो न कथंचन ॥ १ ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ८९॥

भा० टी०—वादियोंको दमनकरनेवाली नम्रजनोंके योग्य विद्याका अभ्यास हमने नहीं किया, तलवारकी धारसे हस्तियोंके मस्तकके प्रष्ठभागोंको काटकर स्वर्गतक अपना यज्ञ नहीं पहुंचाया, और चान्दनीरातमें सुन्दरहीके कोमल अथरपछ्ठवका रसभी पान नहीं किया, हाय! हमारी युवावस्था ऐसे वीतगई जैसे शून्यगृहमें दीपक जलकर अपने आप बुझजाताहै॥ ८५॥

दोंहा—विद्या पढी न रिपु दले रह्यों न नारसमीप। जोवन यह योंही गयों ज्यों सूने यहदीप॥८५॥ ज्ञानं सैतां सानमदादिनाञ्जैनं केषांचिदेतंन्बद्मानका-रणिस्॥ स्थानं विविक्तं यमिनां विस्केये कामातुरीणामति-कामकारणिसे॥ ८६॥

संव दी०—अधुना ज्ञानवित्रिक्तदेशयोः सुपात्रे सम्यक् पछं दर्शयन् कृपात्रे विपरीत-भाउं दर्शयति । ज्ञानं सताभिति । सतां श्रेष्टानां यज्ञानं सन्छाम्त्रजन्यं तन्मानस्य मदादिदोषसा भ नःशनं शानकम् । वेषांचिदमतानेतज्ञानं मदमानयोः कारणं जनकम् । तथा यभिनामुगरतानां गुनीसं विविक्तं स्थाननेकान्तप्रदेशो विमुक्तये विचारेण तस्वज्ञानद्वासं संसारोग्छेशप भवति । बामानुगणां तु मुख्यवमानां विविक्तमतिकामकारिणं कामिनकारजनकं भवतिसर्थः ॥ १ ॥ इन्हर्वशाहनविद्यः ॥ ८६ ॥

भाः टी॰--श्रेष्टमनुष्येकि ती ज्ञान मान मदादिका नाम करनेवाला है, जीर इप्टरनेकि वही ज्ञान मद और मानका चटानेवालाई, भैमे एकान्नस्थान येशियाँकी तो मुक्तिकियं है, किन्तु कामानुगैकी अत्यन्त कामका बटानेवाला है॥ ८६॥

दोंदा—ज्ञान घटाँव मान मद ज्ञानाहि देय वढाय। रहसि मुक्ति पाँव यती कामी रति छपटाय॥ ८६॥ जीणीं एवं मनोरथाः स्वहदेये यांतं चं तैद्योवनं हनेतां-गेषुं गुणींश्र्यं वंध्यफलेतां यातीं गुणेज्ञेविनीं ॥ विज्ञीनां सहसाम्युपेति वलवीन् कालः कृतांतोऽर्क्षमी विज्ञीनां मदनान्तकांष्रियुर्गेलं मुक्तवास्ति नीन्या गेतिः॥ ८७॥

सं० टी०--मनोरथायसिद्धी महादेव एवाश्रयणीय इति शिक्षयति । जीर्णा इति । मनोरथाश्रित्राभिलापाः स्वहृदय एव जीर्णा बहिस्तद्विपयप्राप्तिने जाता । तत्प्रसिद्धं ये।वनं च यातं गतं हन्ताहो कष्टं गुणज्ञीर्वेना गुणाश्चांगेष्वययवेष्वेव वन्ध्यफलतां निष्फलतां याताः प्राप्ताः । कृतान्तः पर्वनाशकः नास्ति क्षमा यस्य सोऽभ्रमी वलवान् कालः सहसाऽकस्मादभ्युपेत्यागच्छति तस्मात् कि युक्तं तदेवाह । विज्ञानां मदनान्तकस्य कामिवनाशकस्य महादेवस्य यदंत्रियुगर्वं तस्मात् कि युक्तं तदेवाह । विज्ञानां मदनान्तकस्य कामिवनाशकस्य महोदेवस्य यदंत्रियुगर्वं चरणहन्द्दं तन्मुक्त्वा त्यक्त्वाऽन्या गतिः स्थानं नास्तीति कालकालस्य महेश्वरस्य चरणारिवन्दभेवा- श्रयणीयभिति भावः । संकल्पा विफला जाता ये।वनं च गतं मम । निलयः सर्वकामानां श्रयणीयभिति भावः । संकल्पा विफला जाता ये।वनं च गतं मम । निलयः सर्वकामानां शिवांविः शरणं भवेत् ॥ १ ॥ शार्वृत्विक्रीडितं वृत्तिमद्रम् ॥ ८७॥

भा० टी०-सम्पूर्ण मनोरथ हदयमें ही जीर्णहोगये, कोईभी उनमें से सिद्धनहीं हुआ, युवावस्थाभी व्यतीतहोगई, और गुणझोंकेविना सम्पूर्ण गुणभी निष्फलहोगये, अब सर्वनाशक वलवान काल सहसा निकट आरहाहे, इसमयय क्या कर्तव्य है? मेरी समझमें विद्वानोंकेलिये इससमयती केवल कामनाशक विवानोंके चरणयुगलको छोडकर और कोई गति नहीं है ॥ ८० ॥

छप्य—सनके मनहीं माहि मनोरथ वृद्ध भये सव। निज-अंगनमें नाशभयो वह जोवनह अव। विद्या है गई वांस वृत्तपारे नहिं दीसत । दौर्यो आवत काल कोपकर दशनन पीसत कवहूं नहिं पूजे प्रीतिसों चक्रपाणि प्रभुके चरण। भववंधन कार्ट कवहूं नहिं पूजे प्रीतिसों हर शरण॥ ८७॥ कौन अब अजहूं गहिंरे हर शरण॥ ८७॥

तृषी शुर्वेयत्यस्ये पिवाति सिलिलं स्वार्द्धे सुरीभ क्ष्यानीः सन् शालीने कवर्लयति शाकादिवलितीन् ॥ प्रेंदीते कीना-सन् शालीने कवर्लयति वैध् प्रतीकीरो व्यक्तिः सुर्दिभिनि से सिप्यस्यैति जनैः ॥ ८८॥ विपर्यस्यैति जनैः ॥ ८८॥

सं ॰ टी॰---प्राणी सालेलं पानीयं पिवति । कस्मिन् सित । आस्ये वदने तृपा गृष्यिते सित । कथभूतं सिलेलं । स्वादु सुरिभ । प्राणी क्षुधार्तःसन् शालीन् कवल्यति । क्षीदशान् शालीन् शाकादिवलितान् । प्राणी कामाग्ना प्रदीप्ते सित सुदृढतरं यथा भवित तथा ववृं भार्यामाश्चिष्यस्यालिङ्गति । जनः प्राणी व्याधेः प्रतीकार उपचारः सुखिमिति विपर्यस्यति विपर्यासं करोति । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ८८ ॥

मा० टी०—जव मनुष्यका कण्ड प्यासकेकारण सूखनेलगताहै तव वह शीतल जल पीलेताहै, जब क्षुधासे पीडित होताहै तब शाक आदि सामग्रीके साथ चांवलोंके भोजन करताहै, और जब कामदेवका अग्नि पचण्ड होताहै, तब सुन्दरस्त्रीको हृदयसे लगाताहै, विचारकर देखे तो यह एक व्याधिकी औपि हैं. परन्तु लोगोंने इसको जलटा सुखही समझरखाहै ॥ ८८ ॥

छप्पय—प्यास लगे जब पान करत शीतल सुमिष्ट जल। भूख लगे तब खात भात घृत दूध और फल। बढत कामकी आगि तबिह नववधू संगरित। ऐसे करत विलास होत विपरीत दैवगित। तब जीव जगतके दिन भरत खात पियत भोग हुहु करत। ए महारोग तीनों प्रवल विना मिटाये निहं मिटत॥ ८८॥

रनार्तवा गोङ्गः पैयोभिः शुचिकुसुमफेलैरचीर्यंत्वा विभो रवीं ध्येयं ध्याने निवेश्यं क्षितिधरकुहरत्रावशय्यानिषणीः ॥ आत्मार्शमेः फलैशि गुरुवर्चेनरतरत्वर्द्यसादात्स्मरीरे दुः-खान्मोक्षेये केंद्रौहं तेव चरणेरतो ध्यानमार्गेकप्रकाः॥८९॥

सं० टी०—इदानीं मनुष्याणामुचितं क्रसं दर्शयंस्तत्प्रार्थयति । स्नात्नेति । हे विभो !
गाङ्गः पयोभिः स्नात्य शुचीनि यानि कुमुमानि फलानि च तस्त्रामचियत्वा प्रपृष्य ध्येपं त्यां
ध्याने मनोष्ट्रची निवेदय स्थापयत्वा क्षितिवरः पर्वतन्तस्य कुहरे गुहायां प्राव्णां पाषाणानां या
द्याया तस्यां निपण्ण आसीनः सन् आध्मन्येवारामी यस्य सः, फलाशी फलभीजनी गुरुवचने रतः
श्रद्धान्द्रेश्वभृतः सन् हे स्मरारे ! त्वत्प्रसादात् तव कृषया दुःखाविविधात् कदा मोक्ष्ये मुक्ती
विविग्तायतः । गगायां
हात्रनं कृष्या गन्धपुष्पाद्धतैः शिवम् ।

स्वयम्युत्तिमद्गः ॥ ८९ ॥

भा० टी०—हे विभो ! हे स्मरारे (कामदेवके शत्रू) ! गंगाजलसे स्नान कर एन्दर पवित्रपुष्योंसे आपको पूजा ध्यान करनेके योग्य आपकी मूर्ति मन-में स्थापनकरके पर्वतकी कन्दरामें पत्थरकी चट्टानपर वैड आत्माराम और फलाहारी होकर आपकेही चरणोंमें रित रखनेवाला और आपकेही ध्यानमें मगरहनेवाला में आपकी कुपाद्वारा कव इस दुःखसे मुक्त होऊंगा ॥ ८९॥

दोहा—नरसेवा तजि ब्रह्म भिज गुरुचरणन चित छाय। कव गंगातट ध्यान धर पूजोंगो शिवपाय॥ ८९॥

शयो शैलिशलों गृंहं गिरिगुँहा वहां तरूँणां त्वर्चः सी-रंगाः सुईदो नीनुं क्षितिरिहां देंतिः फैलेः कोर्मलेः ॥ वेपां निर्झरणाम्बुपीनमुचितं "रेथे र्चं विद्यांगर्नां मन्यन्ते" परमे-थरीः शिरिस वे विद्यों में सेवार्क्केलः ॥ ९० ॥

सं० टी० — इदानीमीश्वरानुगृहीतानां वृत्तिं सध्यंस्तानः स्त्रीति । सप्यति । ते प्राप्तः समामिनेनु निश्चयेनेश्वरा मन्यन्ते ज्ञायन्ते । ते कि । येपां होत्यति । सप्यति । ते कि । येपां होत्यति । सप्यति । ति कि । विकार प्राप्तः विकार विकार

वृक्षफल भोजन जिनके। विद्या जिनकी नारि नहीं सुरपित सम तिनके। लगत ईशसम मनुज हमें ऐसे जगमाही। जे परसेवा काज हाथ निज जोरत नाहीं॥ ९०॥

सैत्यामेवं त्रिलोकीसिरित हरिशरश्चिम्बनीवच्छेटायां सिंदृत्तिं कलपयन्त्यां वटिवटपेमवैर्वलैकलेः सत्फलेश्चें ॥ क्षेऽ यें विद्वानें विपत्तिज्वरजनितरुंजातीवें दुःश्वासिकी-नां वैक्त्रं विक्षेतें दुँःस्थे यदि हि ने विभूयात्स्वे कुरुंम्बे-ऽनुकम्पीम् ॥ ९१ ॥

सं० टी०—विपत्तिज्वस्मते कुटुम्बे स्पृहां कृत्वा दुःखेन स्थियपेक्षयायन्तसुखरो गङ्गानीरे निवासः श्रेयानिति कथयनाह । सत्यामिति । हि निश्चितं यदि दुःस्थे स्वकीथे कुटुम्बेनु-कम्पां कृपां न विभृयात् । "यत्तदीनित्यसम्बन्ध इति न्यायात् " तदा कीऽयं विद्वानतीव दुःश्वासि-कानां नारीणां वक्त्रं वीक्षेत्, अपि तु न कोऽपीत्यर्थः । कया विपत्तिज्वरस्तेन जनिता रक् तया । कस्यां सत्यां त्रिलेक्सिरिति गङ्गायां सत्योमव । किभूतायां सरिति हरिहारङ्चुम्बिनीवन्छटायां हरिहार-श्चित्वनी इंश्वरमस्तकस्य रमणीवच्छटा वप्नदेशे। यस्याःसा । पुनः किभूतायां त्रिलेक्सिरिति । सङ्चि सदावरं कत्ययन्त्यां प्रिरयन्त्यां । कैः सन्किलः किभूतैः सत्किलः वटिवपटमैर्ववट-

न्यार टी॰—यदि अपने कुटुम्बपर दया न करे तो कौनसा विद्वान महा-देव बीके मस्तकपर रहनेसे जिसका तटमदेश शोभितह, और जो वटग्रभसे उत्पन्न बल्कल और सत्फलेंद्वारा सहित्तिकी मेरणा करतीहै, ऐसी महाजीको छोड-कर विपत्तिक्षी ज्वरसे जनित रागाँके कारण लम्बी श्वास लेतीहुई सियाँके सुखको देखेगा ॥ ९१ ॥

हण्य—सोहत जो शिवसीस जटा सुरसरिकी धारा ॥ वटतरु वन्कल फूल जामु तटवृत्ति अपारा ॥ त्याग सुखद अस गंग कीन ऐसी नर वो है ॥ परिजन करुणाहीन नारिकी आनन जोहें ॥ लेत सुर्दास्य श्वास विपत्तज्वर जीरण भागी ॥ सवविधि दुखकी खान महानिद्य यह नारी ॥ १४ ॥ उद्यानेषुं विचित्रभोजैनविधिस्तीवाँतितीवं तर्पः कौपी-नावरंणं सुर्वस्नमितं भिक्षा्टनं मण्डनम् ॥ अंसिन्नं भरेणं च मंगर्छसमं यस्यैं। समुर्द्धाते तीं कींशीं परिहर्द्य हन्तें विवुधिरन्येत्र किंै स्थीयैते ॥ ९२॥

सं टी - - इदानीं श्लोकद्वयेन काशीवासश्रेष्टत्वं वर्णयति । उद्यानेष्विति । तां काशीं परिह्य परित्यव्य हन्तेति खेदे विवुधेः किमन्यत्र स्थीयते । यस्यां काश्यामुद्यानेषु विचित्रभोजनविधि स्तीनातितीनं तपः । चान्यत् सुवस्तं कीपीनावरणं । मण्डनं यस्यामितं भिक्षाटनं । यस्यां काश्यां मङ्गल्सममासनं मरणं समुत्यचते । तां काशीं मुक्त्वा कथमन्यत्र स्थीयत इतिभावः । शार्द्वविक्रीडितं वृत्तिमिदम् ॥ ८२ ॥

भा० टी०-उपवनोंमें नानाप्रकारके भोजन वनाकरही खाना जहां किन के किन तए है, लंगोटी पहरनाही जहां परम सुन्दर वस्त्र हैं, भीख मांगनाही जहां भूपण हैं, और मृत्यु आनाही जहां परममङ्गल उत्पन्नकरताहै, हाय ! ऐसी काशीपुरीको त्यागकर पण्डितजन अन्यत्र क्यों वसतेहैं ॥ ९२ ॥

कुण्डलिया—काशीमें जहां शिव वसत ताके बैठ उद्यान। विविध अशन सम तप नहीं देख्यों उप्र महान्। देख्यों उप्र महान भीख जहाँ सुन्दर भूषण। खण्ड एक कोपीन वसन वहुमूल्य अदूषण। सरणिह मंगलकरण मिले जहाँ हर अविनाशी। को ऐसी विद्वान् तजे जो ऐसी काशी॥ ९२॥

नौंयं ते समया रहस्यमधुना निर्द्राति नौथा येदि स्थित्वां द्रक्षेयति कुप्यति प्रेम्रिति इत्रेषु येषां वर्षः ॥ चेत्रस्तानपहाँय यौहि मैंवनं देवस्य विश्वेशित्तैनिद्रोंवा-रिक्तिद्योक्तयपर्हेषं निःसीमश्मेप्रदम् ॥ ९३॥

सं विश्वाह । नायमिति । हे चेतः वास्यागते प्राप्ते सितं येपानैधर्यमदमाश्रयणीयं महासहस्ता-दित्याह । नायमिति । हे चेतः वास्यागते प्राप्ते सितं येपानैधर्यमदमत्तानां द्वारेष्टित्येवं वची दित्याह । नायमिति । हे चेतः विश्वेदितुर्देवस्य भवनं मन्दिरं याहि प्राप्तृहीति सम्बन्धः । वचनमस्ति तान् मूटानपहाय परित्यव्य इति निर्दिष्टं वचनमेवाह । भा याज्ञकाऽयं ते तव समयो नास्ति यतोऽत्रुना रहस्यं प्रभुर्गुप्तिविचो िधतः । तथा नाथः स्वाग्यथुना निद्राति निद्रां करोति यद्युत्थाय स्थित्वा त्वां द्रक्ष्यति प्रभु कुष्यस्यतो गच्छेति । कीदृशं विश्वेशितुर्भवनं निद्रांवारिकनिर्द्योक्तयपरुपं निर्गता दोवारिका द्वारपाल यसमात्तदेवं निर्द्यानामुक्तिभिनीस्ति परुपं कठोरयचनं यस्मिस्तत् । पुनः किंभूतं तद्दारं निःक्षिम शर्मप्रदं निरविध ब्रह्मसुखं प्रददातीत्यर्थः । राजद्वारे विद्यमानं तत्पालवचनं कटु । हित्वा स्वात्महर द्वारमुपेयात्सत्समागमम् ॥ १ ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ९३ ॥

भा० टी॰—हे चित्त ! अभ्यागतके आनेपर जिन धनमदमत्तोंके द्वारपाल पंह कहदेतेहें हे याचक ! यह सभय तुझारे आनेका नहींहै, इससमय हमारे पर् एकान्तमें कुछ विचार कररहेहें, इससमय सोरहेहें, यदि उठकर तुमको यह वेटा देखेंगे तो हमपर कुपित होंगे, उनको छोडकर विश्वेश्वरदेवके द्वारपर जा जहां कोई रोकनेवाला नहीं है, जहां : निर्दय और कठोर वाक्य सुनाई नहींदेतेहें, और जहां निःसीम ब्रह्मसुख प्राप्तहोताहे ॥ ९३॥

छप्यय—वेठ पौरिया द्वार छडीकर पहरौ राखत। सो-वत स्वामि हमार जाहु तुम ऐसे भाखत। करि है कोध अपार रखें जो तुमकों द्वारे। छोड इन्हें यहद्वार प्रभूको सुनरे चित्त हमारे। जहां न रोके कोउ वचन कटु कोउ न भाखे। मिले अमित आनन्द प्रेमरस सुन्दर चाखे॥ ९३॥

प्रियंसि विपदण्डवातप्रतापपरंपरातिपरिचंपेले चि-न्तांचके निधांय विधिः खलें।। मृद्मिर्व वलेतिण्डी-इत्यं प्रगल्भकुलीलवह्रमंयति मेनो नो जैनिमः किमेर्वे विधार्सित ॥ ९४॥

र्० र.०—मंगोऽतिलियः विधापुरुषः स्वितिष्यां सम्बेद्धा देवर्गोर्द्धियमार ।

िद्याचि ति इ दिखालि । स्वते विधिः देवरत्ये देवरमी प्रामीमः अपेदानी कि विभागति ।

कर्म विधिद्धाल्यमें विध्या बचातिरदेव प्रमी जामति । किन्ते विभागमे विध्यापने विभागति ।

राम्पर्याणि विद्याहे क्षित्र । मनः क्षाति स्वादि । विधिः वा द्व प्रमामगुणायवा । यथा ।

राम्पर्याणि विद्याहे क्षित्र । स्वाद विद्याहित विद्या भ्रम्यति । स्यावता विपति विदेश ।

रिक्तिने केर्द्री स्वादि सायः । देशिवत्तिद्य ॥ ९४ ॥

भाद ठी०—है भियसित ! पृत्युत्वारकीतरह यह दुष्ट विधाता विपत्तिन्यो दण्योंक सग्देश प्रवारकी परम्पराम अत्यन्त चपल चिन्ताम्हणीचक्रमें भिष्टीके
पिटकीतरह घलान्कारमें हमारे सनको घरकर ग्रुपाताह सो हम नहीं जानतेहैं
ति दणाको पहुंचाकरभी अब यया करेगा ॥ ९४॥

दोहा—सनकों चिंता चक्रधर खल विध रह्यो घुमाय। राचि हें कहा कुलालसम जान्यो कळू न जाय॥९४॥

मंहेश्वरे वाँ जगतामधीर्यरे जर्नादने वाँ जगदन्तरा-त्माना। तंयोर्न ''भेदप्रतिपंत्तिरास्ति' में तथींपिं भाकि-स्तिरुणेन्दुशेखरे ॥ ९५ ॥

सं० टी०—अधुना हरिहरयोर्भद्वद्वयभावेऽपि स्वोपासनां चन्द्रशेखरे दर्शयति । महेश्वर रति । जगतामधीश्वरे महेश्वरे तथा जगदन्तरात्मनि जनार्दने वा तयोर्भेदस्य प्रतिपत्तिर्निश्चयो में नान्ति तथापि तरुगो। नवीन इन्दुधन्द्रः देखरे मस्तके यस्य तस्मिन् मे मम भक्तिः परमानुरागोऽस्ति । हरे हरा न भेदोऽस्ति जगदीश्वरसाक्षिणोः ॥ तथापि मे दृढा भक्तिश्वदृशेखर र्द्धिरे ॥ १ ॥ धरार्थ यक्तिमदम् ॥ ९५ ॥

भा ॰ टी ॰ -- जगत्के ई प्वर महादेवजी और जगदातमा जनाईन विष्णु भगवान्में यद्यपि कोई भेद नहीं हे तथापि जिनके मस्तकमें नशीनचन्द्रमा विरा-जमान हे उन्हीमें मेरा परम अनुराग है॥ ९९॥

दोहा—नाहिंन शिव अरु विष्णुमें सूझे अन्तर मोय । तदपि चन्द्रशेखर लखत प्रीति अधिक कुछ होय॥९५॥

तिहाप चन्द्रशासर एउसा आसा जाउन जुल हाना आ रे कंदैर्व कॅरं कदर्थर्यांसि किं कोदण्डटंकारेंचे रे रे रे कोकिलं कोमैंलेः कंलरेंचेः किं देवं दथीं जलेंपासि ॥ भुँग्धे सिग्धविद्ग्धक्षेपभेंधुरेलिंलेः कटींक्षेरेंलं चेतेंश्चुन्वितचन्द्र-चुडचरणध्यानींमृतं वैतिते ॥ ९६ ॥

सं० टी०--शिवध्यानतत्त्रेरे पुरुषे फन्दर्पोदीनां व्यापारस्य विलक्षणफलस्यमाह । रे फन्दर्पति । रे कन्दर्प ! रे इति नीचसम्बोधने । कीदण्डट्याएवैः करं कि कदर्थपिस । रे रे

२६

कोिकल ! कोमले: कलरवे: पञ्चमस्वरै: किं त्वं वृथा जल्पित । हे मुग्ये ! तव कटाक्षेरलं पूर्य-ताम् । किंभूतै: कटाक्षे: क्तिग्वविदग्वश्च मधुरश्च क्षेपो येपां तै: । भवतां पूर्वोक्तानां कृतं निष्ठिर-मिष व्यर्थम् । तस्माचेतरचुन्वितचन्द्रचूडचरणव्यानामृतं वर्तते । चुन्वितं चन्द्रचूडस्य महेश्वर-स्य महेशस्य चरणव्यानामृतं येन तत् चुन्वितचन्द्रचूडचरणव्यानामृतम् । शिवव्यानिष्ठे मिष् मन्मथादिभिः कियमाणाः सर्वे यत्ना निष्कला इति भावः । शार्दूलविक्तीदितं वृत्तमिदम् ॥ ९६ ॥

भा॰ टी॰—अरे कामदेव ! यनुष्य खींचकर तूं तथा अपने हाथकों पिन्थिय क्यों देताहै ? हे कोयल ! तूं कोमल और मधुरस्वरसे तथा क्यों कुहु कररहा है ? हे मुग्धे ? तूं अपने चिकने चंचलकटाक्षोंको वस कर । कारण कि मेरा चित्त तौ चन्द्रशेखर श्री महादेवजीके चरणोंके ध्यानक्ष्पी अमृतमें मग्न रहताहै ॥ ९६॥

छप्ठय—अरे काम वेकाम धनुष टंकारत तरज्ञत । तू हू कोकिल व्यर्थ वोल काहेकों गरजत । तैसेंही तू नारि वृथाही करत कटाछें । मोहि न उपजे मोह छोह सब रहिगे पाछें॥ चित चन्द्रचूडके चरणको ध्यान अमृत बरसत हितें। आनन्द अखण्डानन्दको तांहि जगत सुख क्योंहितें॥ ९६॥

कौषिनं शतखण्डजर्जरतेरं कन्था पुनैस्तार्हेशी नेश्चिनतैं निरपेक्षमेक्ष्यमर्शनं निद्रां इमेशाने वेने ॥ स्वीतन्त्रयेण निरं-कुँशं विहेरणं स्वान्तं प्रशीनतं सदीं स्थियं मोनिमहोत्सवे चिद्रि तदीं त्रिछोक्यरीज्येन किम्रै ॥ ९७ ॥

सं० री०—अद्य वसम्यस्तमध्यतः स्थिरिचनस्य गुमं त्रिलेक्वितिनुमाद्वित्तम्य वर्णस्ति । क्रीपीननिति । यस्य क्रीपीनं शतानि यानि स्वण्डानि निर्वाणस्तिति । यस्य क्रीपीनं शतानि यानि स्वण्डानि निर्वाणस्तिति तथा निर्वाणने स्वाप्तस्ति प्रमानिति क्रियाणस्ति स्वाप्ति स्वाप्ति स्वप्ति स्वप्त

भा० टी०—िलनकी फन्धा कोर कोषीन महाजर्जर हैं, जो निश्चिन्त हैं भर्यात् जिनको ऐहिक ओर पारलाकिक कोई चिन्ता नहींहै, जो विमा किसीकी भेषेकाके माप्त भिक्षान खातेहें, जो उमज्ञानमें शयनकरतेहैं, जो स्वतंत्रतापूर्वक विनारोकटोक विचरण करतेहं, जिनका मन सदेव ज्ञान्त है, और जो भोगोत्सवमें स्थिरिचत्त रहतेहें, उनकेलिये त्रिलोकीका आधिपत्य क्या है अर्थात् कुछभी नहींहै॥९७॥

छप्प्य--कंथा अरु कोषीन फटी पुनि महापुरानी ॥ विना याचना भीख नींद सरघट मनमानी ॥ रहँ जगसों निश्चिन्त फिरें जितही मन आवे ॥ राखें चितकू शांत भोग अनुचित नाहें भावे ॥ रहें सदा असलीन ब्रह्म सोवत अरु जागत ॥ त्रिभुवन-हुको राज तुच्छ अति तिनकों लागत ॥ ९७ ॥

भोगा मंगुरहत्तयो वहुविधारेतेरे वै चांयं भवरति कैरपेहें हैंते परिश्रमत रे लोकों हैंतं चेष्टितेः '॥ आशापाशश-तोपशान्तिविशेदं चेतेः समाधीयैतां कामोत्पत्तिहैरे स्वधीं-मनि येदि श्रद्वेयमस्मद्वचैः ॥ ९८॥

सं० टी०—भोगानामनर्थहेतुत्वं दर्शयन्त्रीश्वरे चित्तस्थैर्ग्यं शिक्षयति । भोगा इति । रे रोका बहुविधा बहुप्रकारा भोगा भंगुरा विनाशशीला वृत्तिर्थेषां ते एवंभूताः सन्ति तैर्मोगेरेव वायं भवो जन्ममरणरूपः संसारो भवति तत्तरमात्कारणादिह संसारे कस्यकृते किमर्थे यृयं तिरुप्रमत तादृशभोगार्थे चेष्ठितैः कृतमलम् । यद्यसमद्दचः श्रद्धेयं श्रद्धाविपयीभूतमस्ति तदा स्वधा-तिरुप्रमत तादृशभोगार्थे चेष्ठितैः कृतमलम् । यद्यसमद्दचः श्रद्धेयं श्रद्धाविपयीभूतमस्ति तदा स्वधा-तिर्मानिक्ष्मकाशे स्वात्मनिकामानाभिलापाणामुत्पत्तिहरे क्षुद्रानन्दानां तत्रान्तभोवात्तिद्दिनाशके चेते। तिरुप्रमानिकाम । कीदृशं चेतः । साशापाशानां यानि शतानि तेषां योपशान्तिरुपशमस्तिन वेशदं निर्मलिक्षयर्थः । भोगानां हि विनाशित्वाद्विश्रमस्तल्यते वृथा ॥ गुरूपां सद्वचस्तध्यं हिरे कार्ये वेशदं निर्मलिक्षयर्थः । भोगानां हि विनाशित्वाद्विश्रमस्तल्यते वृथा ॥ गुरूपां सद्वचस्तध्यं हिरे कार्ये

भा० टी०--हे मनुष्यो ! अनेकांप्रकारके ये जितने भीग हैं सो सब विगाशशील हैं, इन्ही भोगोंके संसर्गसे यह भय अर्थात् जन्ममरणक्ष्प संसार होताहै,
फेर तुम किसल्यि इस संसारमें भ्रमण करतेही, ऐसी भोगचेष्टाओंसे क्या फल
फेर तुम किसल्यि इस संसारमें भ्रमण करतेही, ऐसी भोगचेष्टाओंसे क्या फल
पेलेगा । यदि हमारे वचनपर तुल्लारी श्रद्धा है तो सेकडॉमकारकी आशापाशोंकी
पिशान्तिके कारण निर्मलचित्तको स्वयंप्रकाशमान् कामनाशक शिवजीके चरणाविन्दमें निरन्तर लगाओ।। ९८॥

आधिव्याधिशैतिर्जनस्य विविधेशरोग्यंमुनमूर्ट्यते हँ-क्ष्मीर्यत्रं पतिनित तर्त्र विवृतद्वारा ईव व्यापदः॥ जीतं जी-तमवर्र्यमाँशु विवैशं मृत्युः करोत्यात्मसीतिर्किनीम निरं-कुशैने विधिना येन्निर्मितं सुस्थितमे ॥ १०१॥

सं टी०—आधीति । नामेति सम्बोधने । तिंक यित्रारंकुरोन विधिना सुस्थितं निर्मितं किं तद्द । रारीरे आधिन्याधिरातैरिमेतमितरायेनारोग्यमुन्मूत्यते । तत्र आधिर्मानसी पीडा न्याधी रोगसमुद्भवः । चान्यचिस्मिन् दैवनिर्माणे छक्ष्मी तत्र स्थाने न्यापदो विवृत्तद्वारा इवोद्वाटितकपाटा इव वर्तन्ते । अवस्थं निश्चितमाशु शीधं मृत्युर्जातं जातमुत्पत्रमुत्पत्रमात्मसात्करोत्यात्मायत्तं विधते सतोऽस्य दैवस्य निर्माणे किमिप स्थिरं नास्तीत्यागमः ॥ शार्द् छित्रकोडितं वृत्तिमदम् ॥ १०१॥

भा० टी०—सैंकडों मानसिक और शारीरिक व्याधियोंने आरोग्यताको समूल उखाडडालाहै, जहां द्रव्य बहुत होताहै वहां विपत्ति द्वार तोडकर आप। उतीहैं, और जी जन्मता है उसको मृत्यु अवश्य वल्लपूर्वक अपने वशमें करलेता-है, फिर कहो ऐसी कोनसी वस्तु है जिसको निरंकुश ब्रह्माने स्थिर वनाई है॥१०१॥

हुं हो--रोग वियोग विपति वहु देह आयु आधीन।

निडर विधाता जग रच्यों महा अथिरता लीन ॥१००

कृंछ्रेणामेध्यमध्ये नियमितत्नुभिः स्थीयते गर्भवासे कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकर्रविषमे यौवेने विभ्रवासः ॥ वी-माक्षीणामवज्ञीतिभैलिनवदनो वृद्धभावोऽध्यसीधुः संसीरे रे मनुष्या वदेत थेदि सुंखं स्वृह्णप्रभाष्यस्ति किंचिते॥ १०२॥

सं टी०—विचार्यमाणे सित संसारे दुःखमेव सुखंदेशोऽपि नास्तीत्याह । कुट्रेणोति। अमेध्यमपात्रित्रं विष्मृत्रादि मध्ये यस्मिस्तास्मिन् गर्भवासे वियमिता संकुचिता तनुर्येषां तैः पुरुपैः कुट्रेण क्रप्टेन स्थीयते । कान्तायाः । द्वियो । विध्यो वियोगस्तस्य दुःखस्य व्यातिकरेण सम्बन्धेन विषमे संकटरूपे योवने विप्रवासः परदेशगमनं । तथा वामाक्षीणां युवतीनामवज्ञयाऽतिमाद्धेनं यदनं यस्मिन्स वृद्धभावोऽप्यसाधुरसमीचीन एवातो हे मनुष्याः संसारे स्वद्यमातिष्यु किश्चिद्धेश-मात्रमि यदि सुखमस्ति तर्दि यूयं वदत कथ्यतास्माकन्तु नैव भातीत्यर्थः । गर्भवासेऽथ तारुप्ये

वार्क्तपे दुःखदर्शनात् । संसारे स्त्रत्यमपि हि सुखं नास्तीति दर्शितम् ।। १ शार्द्व्यविक्रीडितं वृत्तिमदम् ॥ १०२ ॥

भा० टी०—अपवित्र मलमूत्रके स्थान गर्भमें मनुष्य हाथ पैर बंधेहुए वडे कप्टकेसाथ वासकरताहे, युत्रावस्थामें स्त्रियोंके वियोगरूपीदुःखसे दुःखी रहताहे, और बद्धावस्थामें नारियोंसे निरादर पाकर नीचा शिर किये शोचमें पडा-रहताहे, इसलिये हे मनुष्यो! यिद इस संसारमें किंचिन्मात्रभी सुख है तो हमसे कहो।। १०२॥

दोहा—सहाौ गर्भदुख जनमदुख जोवन लिया वियोग।
वृद्धभयें सवहिन तज्यो जगत किथों यह रोग ॥१०२॥

आयुर्वर्षशैतं नृणां पॅरिमितं रात्री तद्धं गतं तस्याई-स्य परस्यं चीर्द्धमपेरं वालत्ववृद्धत्वयोः॥ शेषं व्याधिवि-योगदुःखिसहितं सेवादिमिनीर्यते जीवे वारितरंगचंचर्छ-तरे सीर्व्यं कुतः प्राणिनाम्॥ १०३॥

सं॰ टी॰—इदानीमायुर्विभागं कृत्वा तत्र सुखाभावं दर्शयति । आयुरिति । नृगामायुर्व-पेशतं परिमितं नियतं तद्रई तस्य वर्पशतस्याई पंचाशहर्षाभितं रात्रौ शयनेन निर्धकं गतं, तस्या-ईस्य परस्य शेपभूतस्य पंचाशिन्मतस्य यदपरमईम्प्विशिश्तिवर्षाणि तत्साईद्वादशिवभागेन वालख-वृद्धत्ययोगितं, शेपमवशिष्टं पव्विशितिपरिमितं तु व्याधिना प्रियाणां थियोगेन च यदुःखं तेन सितं यक्तं यथास्यात्तथा सेवादिभिः सेवा जीविकार्धं राज्ञामाराधनमादियेपामध्ययनाध्यापनक्रयिक्रय-मृत्यादीनां तैनीयते व्यतीयते । एवं सित वारितरङ्गवच्चलते जीव जीवितव्ये प्राणिनां सीद्यं फुतः स्यान्त्रकृतोऽपील्यर्थः । आयुपः सकलस्यापि भागं कृत्वा प्रदर्शितम् । बाल्यतारूण्यवार्द्वक्ये सुखं नास्त्येव किचन ॥ १ ॥ शार्द्वविक्रीडितं वृत्तिमदम् ॥ १०३ ॥

भा॰ टी॰--मनुष्योंका आयु सीवर्षका नियत कियागया है, उसमेंसे आधा अर्थात् ५० वर्ष ती रात्रिको सोनेभेही न्यतीत होजाताहै, किर शेप वचेहुए ५० वर्षोंमेसे २५ वर्ष वाल्यावस्था और बद्धावस्थामें न्यतीत होजातेहैं, और शेप २५ वर्ष नानापकारके वियोग, दुःख, न्याधि, हानि, लाभ, हर्ष, शोक और परसेवा आदिमें न्यतीत होजातेहैं। जब इसपकार आयु न्यतीत होताहै परसेवा कि जलके तरहकेसमान चश्चल जीवनमें मनुष्योंको सुख कहां नाग्रहोसक्ताहै ॥ १०३॥

छप्यय—रातिह वर्षकी आयु रातमें वीतत आधे। ताके आध्यो आधि वृद्धवालकपन साधे। रहे यहै दिन आधि व्याधि गृहकाज समोये। नानाविध वकवाद करत सवहिनकों खोये। जलकी तरङ्ग वुद वुद सदृश देह खेहके जातहै। सुख कहीं कहां इन नरनकों जासों फूलत गात है॥ १०३॥

ब्रह्मज्ञीनविवेकिनोऽमलिधयैः कुर्वन्त्यैहो दुष्करं यै-नमुंचैंत्युपभोगकांचनधनान्येकांतँतो निःस्पृहाः॥ नै प्राप्ती-नि पुरी नै संप्रीति नै चैं प्रीप्ती हढप्रत्यैयो वाउछामात्रप-रिग्रहींण्यैपि पैरं त्यैकुं नै शक्ती वैयम्॥ १०४॥

सं० टी०-अधुना विद्वद्विंदुपेर्शिवपयत्मामाधर्यासामध्ये दर्शयित । ब्रह्मज्ञानित । ब्रह्मज्ञानाय विवेकः सदसिद्वचारस्तेन निर्मेठा धीर्थेपां तेऽहे इत्याश्चये दुष्करं कर्तुमशक्यं यक्तर्म तत्कुर्विति
तदेवाह । यदिति । एकान्तते।ऽत्यन्तं निस्पृहा विरक्ताः सन्ते। यदुपभागसाधनानि धनानि मुञ्जन्ति
त्यज्ञान्ति स उपभागसाधनत्याग एव तेपां दुष्करं कर्म । वयं तु पुरा पूर्वकांछे उपभागसाधनधनानि
न प्राप्तानि सम्प्रत्यधुनाऽपि न संत्यग्रेऽपि प्राप्तो द्वद्यप्रत्ययो नास्ति तथापि कदाचिद्देवगत्या मिछिध्यन्तीति वाञ्छामात्रं परिग्रहो येपां तान्यपि परित्यक्तं शक्ताः समर्था न भवाम इत्यर्थः ॥ प्राप्तान्
भोगान् परित्यज्य ये कुर्वन्त्यात्मदर्शनम् । ते धन्या ह न चास्माभिस्त्यज्यन्ते हि मनोर्थाः ॥ १ ॥
शार्व्छिविक्तींडितं वृत्तिमिदम् ॥ १०४॥

भा० टी॰—बस्रज्ञानके विवेकसे जिनकी बुद्धि निर्मल है ऐसे मनुष्य वहा कठिन कार्य करते हैं कि उपभोग, भूषण, वस्न, ताम्बूल, शब्या, धन, इत्या- दि विषयकी सब सामग्री त्यागदेते हैं, और निरन्तर निस्पृह रहते हैं, परन्तु हमको तो न पहिले माप्तहुई, न अब माप्तहै, और न आगे माप्तहों नेका वह विश्वास है, यह सब केवल इच्छामात्रसे ही ग्रहण हो रहे हैं, हम तो इनको भी त्यागने में समर्थ नहीं हैं १०४॥

दोहा—चडे विवेकी तजतहें संपति सुत पित मात।
कंथा अरु कोपीनह हमसे तजी न जात॥ १०४॥

व्योघ्रीवै तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती रोगाँश्र्यं शर्ववइवे प्रहेरेन्ति देहम् ॥ आँयुः परिस्रवैति भिन्नेघटादिवाँमैंभो लोर्कस्तथाँप्यहितैमाचरैतीति चित्रमें ॥ १०५॥

सं० टी०—वैराग्यहेतुष्वप्यासक्तयाऽशुभमाचरतीति चित्रामित्याह । व्याव्रीति । जरा व्याव्रीव परितर्जयन्ती भर्त्सयन्ती तिष्ठति । रोगाश्च शत्रव इव देहं प्रहरन्ति । आयुरिप भिन्न- घटादम्भो जलमित्र परिस्त्रविति । तथाऽपि लोको जनोऽहितं पापमाचरतीति चित्रं महदाश्चर्थमित्यर्थः । जरा रोगादयः सर्वे सन्ति वैराग्यहेतवः । तथाप्पहित आचारः किमाश्चर्यमतः परम् ॥ १ ॥ वयन्तिलकावृत्तमिदम् ॥ १०९ ॥

भा० टी॰—वृद्धावस्था व्याघीकेसमान गर्जतीहुई सन्मुख खडींट, सव रोग शत्रुओंकेसमान देहपर महार कररहेहैं, और आगु मतिदिन ऐसे निकलता जाताहै जैसे फूटे घडेसे पानी निकलजाताहै, यह सब कुछ होनेपरभी मनुष्य ऐसा काम कररहेहें जिनमें उनका बुरा हो यह वहे आश्चर्यकी वात है।। १०५॥

दोंहा--कुपित सिंहनी ज्यों जरा कुपित शत्रु ज्यों रोग।

फूटे घट जल ज्यों जगत तक अहितयुत लोग ॥ १०५॥

गांत्रं संकुंचितं गैतिविंगिलिता अष्टा च दन्तांविलिह-ष्टिर्निश्येति वैधिते विधरतीं वैंकत्रं चे लिलियते ॥ येक्यं नी-द्रियेते चे वान्धर्वर्जनो भौंयी ने शुर्श्वेषते हो केष्टं पुरुपेत्य जीर्णवर्षेसः पुँत्रोऽर्ध्विमित्रोंयते ॥ १०६ ॥

सं० टी०—अधुना वृद्धावस्थां सर्वधा काएरूपतया वर्णपति । गाविति । यूज्यवराव मंग दिन टी०—अधुना वृद्धावस्थां सर्वधा काएरूपतया वर्णपति । गाविति । यूज्यवर्षा सर्वधा मात्रं कारीरं संकृषितं कुट्यं भवति, गितिर्गमनं पिगलिता नाए, द्वासायादिक्त्यक्तिः पतिता भवति, दृष्टिस्वलोधनं च नत्यति, विधरतापि वर्षते निषादे ल्वेष्ट्रं मात्रति मात्रति हाल्ये प्रतिता भवति, दृष्टिस्वलोधनं कुरुते, बार्यवय्यने वाक्षयं निर्मित् न नावरि हाल्ये प्रतिविधः मार्या च स्त्री न मुप्रति सेवां न युरुते, हा पएं जीर्ण वर्षो पत्य तत्य एक्ष्यक्त स्त्रा मार्या च स्त्री न मुप्रति सेवां स्वयुद्धान्यरतिसर्थः । स्वयुप्त जनति स्वयुद्धान्य प्रतिविधः प्रतिविधः । स्वयुद्धान्य परिवादः प्रयम्भविति स्वयुद्धान्य परिवादः प्रयम्भविति स्वयुद्धान्य परिवादः प्रयम्भविति स्वयुद्धान्य परिवादः प्रयम्भविति । स्वयुद्धान्य परिवादः स्वयुद्धान्य स्वयुद्धान्य

आ० टी०—- ष्टझावस्थामें शरीर सिकुडजाताहे, चाल नष्ट होजातीहे, दांत गिरपडतेहें, दृष्टि जातीरहती है, वहिरापन वढजाताहे, मुखसे लार टपकने लगतीहें, वन्धुजन वातका आदर नहीं करतेहें, और स्त्री सेवा नहीं करतीहें, हाय ! बुद्ध मनुष्यके कष्टका क्या वर्णन कियाजाय, यहांतक तो है कि साक्षात् पुत्रभी शत्रुके समान आवरण करनेलगताहे ॥ १०६ ॥

छिष्य—भयौ सकुंचित गात दन्तहू उखर परे सिह। आं-ि विन दीखत नाहिं वदनतें लार परत विह । भई चाल वेचाल हाल वेहाल भयौ अति । वचन न मानत वन्धु नारिहू तजी श्रीतिगति । यह कप्ट महादिय वृद्धपन कलु मुखसों निहं कह-सकत। निजपुत्र अनादर कर कहत् यह वृद्धौ योंही वकत ॥१०६॥

क्षेणं बोलो भूर्त्वा क्षणमिष युवां कामरसिकः क्षणं वित्तेहींनेः क्षणमेषि चं संपूर्णविभेषः ॥ जरीजीणेरंगे निटें इवं वलीमंडिततेनुनरिंः संसोरांते विश्तोति यमधानीजव-निकामे ॥ १०७ ॥

सं टी ० — अधुनायं जीवो नानावेशान् दर्शयित्वा यमालयं प्रविश्वतीत्वाह । क्षणाभिति । अयं प्राणी नट इव क्षणं वालो भूत्वा क्षणमिष कामे रसो यस्य स कामरिसको युग तरुणो भवति, ततो जरया जीजीरगेहिस्तपादादिभिः सह विलिभः शिथिलमांसलताभिमिण्डता व्याहा तनुर्देहो यस्य स नरः संसारस्योङ्क क्रोड वर्तमान इच यमधानीरूपां जगनिकां तिरस्करिणीं नट इच विश्वति प्रविश्वतीत्वर्थः । नानाकमं प्रकुर्वाणा वाल्यतारुण्यवार्द्धके । भगवरपादिभुखा ग्रन्छिन्त हि यमालयम् ॥ १ ॥ शिखरिणीवृत्तिमिदम् ॥ १०७॥

भा ॰ टी ॰ –यह मनुष्य क्षणमें वालरूप और क्षणभे कामरसिक युवा, क्षणमें दिरिद्री, क्षणभें धनाट्य, और क्षणभरमें ऐसा वृद्ध होजाताहें कि जिसके अंग जीर्ण होगयेंहें और जिसकी खाल तिकुडगईहै, इसमकार नटकेसमान रूप धारण-करताहुआ संसाररूपीनाटकके अकर्षे * गमधानी (यमलोक) रूपी जविनका (६२६१) में मनेश करजाताहै ॥ १०७॥

[#]नाटकान्तर्गत रस्पका समाप्तिको अंक कहतेहैं

छप्य—छिनमे वालक होत होत छिनहीमें जोवन। छिनहीमें धनवन्त होत छिनहीमें निर्धन । होत छिनकमें वृद्ध देह जर्जरता पावत। नट ज्यों पलटत अंग स्वांग नित नये दिखादत। यह जीव नाच नाना रचत निचल्यो रहत न एक दम। करके कनात संसारकी कौतुक निरखत रहत जम॥१०७॥

अही वो होरे वों वर्ठवित रिपों वाँ सुँहित वां भैणी वीं किछे वीं कुसुमर्श्येन वीं हपेंदि वाँ ॥ र्तृंगे वीं स्रेणें वीं भैंस समदेशो यांतिं दिवसीं: कैंचित्पुण्योरंण्ये शिवें-शिविंशिवेंतिं प्रस्पेंतः॥ १०८॥

सं० टी०—समदृष्टिपूर्वकं महेश्वरे प्रेमाणं प्रार्थयति । अहाविति । अहा सपं, हारे मोक्तिकमालायां, बल्विति । ऐपी बलिष्टे शत्री, मुद्धदि हितकरे मित्रे, मणावन्युनि र ने, लेष्टि मृतिपन्डे, कुमुमश्यमे पुण्यश्यायां, दपदि पापाणे, तृणे घासकणे, खेणे खीमन्हे, सर्वत्र वाश्यत्ये निश्चयार्थस्तथा चाह्यादिषु निश्चिता समदृष्टिपस्यैतादशस्य हे शिव है शिव हे शिव है शिव है। स्व है शिव है शिव

भग टी०—सर्प अथवा हार, वलवान शत्रु अथवा हिनकारी वित्रः मणि अथवा पापाण, पुष्पोंकी शस्या अथवा पत्थरकी चहान, और तृण अथा क्षियोंक समूहमें समदशी होकर किसी पवित्रवनमें जिय जिय जपने मेरे दिन कर व्यतीतहोंगे॥ १०८॥

हुप्पय—सर्प सुमनको हार उम्र वेरी अर एजन । कंचन मणि अरु छोह कुसुम शय्या अरु पाहन । तृण अरु तरुणी नार सवनेष एक दृष्टि चित । कहूं राग नहि रोस हेप कितहू न कहूं हित । है है कब मेरी यह दशा गंगाके तट तप तपत । रस भीने दुर्छभ दिवस ये बीतेंगे शिव २ जपत ॥ १०८ ॥ धैर्थं यस्य पिता क्षमा च जर्ननी शान्तिर्श्वरं गेहिनी । सैत्यं मित्रीमदं दर्थां च भीगनी आता मर्नःसंयमः ॥ शर्थ्या भूमितेलं दिशो ऽपि वसैनं ज्ञानौमृतं भोजनैम्। होते यस्य कुटुँम्बिनो वर्दं सेंखे कस्मौद्धैयं योगिर्नः॥१०९॥

सं टी — दैवसम्पद्र्पपितारवतः कुतोऽपि भयं नास्तीत्याह । वैर्थ्यमिति । हे सखे ! तं वद बृहि एते कुटुम्बिनो यस्य योगिनस्तस्य कस्माद्भयं न कुतोऽपीत्थर्थः । कुटुम्बिन एवाह । यस्य योगिनो वैर्थ्य पिताऽस्ति, क्षमाच सिहण्णुता जननी मातापित्रोरिवेभियोः पालकत्वात् । यस्य शान्तिश्चिरं गेहिनी भार्योऽस्ति, तथा सत्यं यथादृष्टश्चतकथनरूपिदं मित्रमस्ति, दया च सर्वभूत-हितेच्छा भगिनी, मनःसंयमो मनेनित्रहो भ्राता, भूमितलं शय्या, यस्य दिश एव वसनं वस्नं, ज्ञानामृतं भोजनिमत्येतादृशी यस्य सम्पद्स्ति तस्य कुतोऽपि भयं नास्ताति भावः । देवीसम्पिद्देमोक्षाय निवन्वायासुरी मता । इति भगवद्वचनात्तद्वतो न कुतोपि भयम् ॥ १ ॥ शार्द्वलिक्नोडितं इत्तिमदम् ॥ १०९ ॥

भा० टी ०—हे सखे ! तूंही वता कि जिसका वैर्य पिता है, क्षमा जननी है, शान्ति भार्यो है, सत्य जिसका मित्र हैं, दया जिसकी भगिनी है, मनःसंयम (मनको रोकना) जिसका भ्राता है, भूमितल जिसकी शय्या है, दिशा जिसके वस्न हैं, और ज्ञानरूपी अमृत जिसका भोजन है, उस योगीको किसका भय है॥१०९॥

हुप्य—धीरज जाको पिता क्षमा है जाकी जननी ॥ सत्यवचन है मित्र दया है जाकी भगनी ॥ शान्ति सुवाला नार भृमितल शय्या सोहै ॥ संयम मनको वंधु वसन दिक् मनंकू मोहै ॥ ज्ञान-पुधाको असन राख सब एते परिजन ॥ फिर योगी क्यों डरे हैं वह सदा मुदित मन ॥ १०९॥

इतिश्री भाषाटीकोषेतं श्रीमद्वर्हहरिविरचितं हतीयं वैराग्यशतकं समाप्तम् । MAN HINDER

अवस्य देखिये देखन योग्। छोचन छाम छेहु सबछोगू!

र भारतसार भाषा—हमोर धर्मप्रधोमें सबसे यहा महाभारत है जो बात कहीं न मिछ-सकर्तिते वह महाभारतमें भिद्यस्पाति है ऐसे बड़े प्रंथणा पढ़ना पढ़ाना वा पाठकरना अतीय सम्मार्थ हमिल्ये हमने १८ पर्वोका सार सार यह भारतसार छपवायाहे इसके पाठ करनेसे सबही स्प्यद्भाव किन्न हस्तानत होजाते हैं. जो महाभारतको नहीं पढ़पढ़ासकतेहैं जनको अवश्यही प्राध्यत्याहे. वास्तवमें इस होटेंसे प्रथमें सागरको गागरमें भरनेका प्रयत्न कियाहे अक्षर बड़ेहें गामज विकास पहिलेगी हमोरे यहां छपाथा अब इसमें बहुतसी अवश्यक बातें बहुत्यां है जिससे पहिलेगी अपेक्षा अब तिमुना होगयाहे भाषामां बहुतही छिततेहैं जिसे पढ़ेते पट्टी जी अधाराह मृत्य ३ र. डा म. १२ आ.

३ अवतारचरित्र - भगवानने चौदीत भवतार धारण करके प्रत्येक अवतारमें जो जो छीछा पारी हैं उन सबका वर्णन भाषाके सुटाटित छन्दोंमें कियागयाहै यह ग्रंथ वडाही मनोहर्रह भगवद्गक्तोंको अवस्पही पास रखनेयोग्यह तथा चौबीसों अवतारके मनोहर चित्रभी दियगेयेह, मृह्य ५ २० डा. म. १ रूपया.

४ बृहत्पाराश्रीहोरा—होराविषयका यह अद्वितीय प्रन्थहै, प्रथम आवृत्ति हाथोहाय विकार्य अवभी बार टाइपके सुन्दर सुवाय्य अक्षरोंमें छपीहै और मृत्यभी पहिलेकी अपेक्षा कम-कर्रादेया गयाहै अर्थात् पहिले इसके छः रुपयेथे अब केवल ९ रु. करियेगयेहैं मृत्य ९ रु. छा. ग. १४ आ.

५ वर्षभवोध मृल और भाषाटीकासहित-यह मन्य तेजीमन्दी वतानेके लिये परमा-पयोगीहे इसमें सालभरका सब वृत्तांत पूर्णशितीसे लिखागयाहे तथा सबस्तरफल, मास, दिन, संक्षांति, महोंकी गति वक्रता भूकम्पादि बिविचम्रकरण दियेगयेहें. इस सर्वोपयोगी मन्यका मृह्य १२ आना डा. म. ३ आना. हे.

६ ताजिकनीलकंटी भाषाटीकासह—यह प्रन्थ ताजक विषयमें सर्वोत्तमहै, अधिक प्रशंसा करना व्यर्थहे क्योंकि छोटे बडे सभी ज्योतियी इसे जानतेहैं रसालकेअनुसार उत्तमटीका लत्तम छपाई. उत्तम कागज मृत्य १ रु. ८ आ. डा. म. ५ आ.

- ৩ मुहूर्तप्रकाश मूलभापाटीकासहित-पुहूर्तिविषयका ऐसा अनुपम प्रत्य आजनक कही नहीं छपा, मुदूर्तसंत्रंथी कोई बात इसमें नहीं छोडीगईहे जो बातें सेकडों प्रन्थोंके पटन पाटनसभी मिलना दुर्लभेहें उन सबका इसमें पूर्ण समावेशहे, जिन दिजबरोंको मुदूर्तादि देखनेका काम पडताहै उनको अवस्पही पास रखने योग्य है नई बात इसमें यहेंह कि सोबारण बांचन-शक्तियालामी अपना कार्यकरमकताहै, जैसे भरू श्रीकाशीनाथजीने शीव्रवीव बनाया इसीप्रकार पंडितजी श्रीचतुर्थीतालजीनेभी यह १ मुहूर्तवितयका प्रन्य बनाया हे यह परम उपयोगी है आपलोगोंको लेनाही योग्यहै कि. १॥ मा. ४
- ८ वेद्यविनोद-मृत्रभाषाटीकासह " यथा नाग तथा गुणः " की बात इसही ब्रन्थमें पाई जातीहे क्योंकि सचमुच इस प्रत्यमें वे वे परमापयोगी और अवस्य ज्ञातव्यविषय दिखेगयेहें जिन्हें देखकर त्रेयको त्रिनोद होताहै, मृत्य २ रु. डा. म. ६ आ.
- ९ हनुगरपंचांग-इसमें हनुमत्पादुर्भाव. पटल, पद्धति, कवच, पंचमुखकवच, एकादश-मुखकवच, सहस्रनाम, हकारादि सहस्रनाम, स्तीत्र, अष्टक, मंत्रोद्धार, अनुष्टान आदि विविव विषयहें रेशमी मुटका मृत्य १॥ रु. डा. म. ३ आ.
- १० नारायणमहातन्त्र-मृल भाषाठीकासहित-इसमें महादेवजी और नारायणका संवादहै इसमें वशीकरण, मोहनादि वडेही अद्भुत और चमत्कारी मंत्रादि दिये गयेहैं मृल्य २ आ.
- **११ संस्कृतप्रवेशिका**—चिळिये ळीजिये देर न कीजिये—विनागुरूके संस्कृत भाषाका अभ्यास करना चाहतेहो तो इससे उत्तम पुस्तक आपको नहीं भिल्सकताहे. इसमें संस्कृतका व्याकरण हिन्दीभापामें लिखागयाहै शब्दों और धातुओंके रूप उनके बनानेकी क्रिया तथा अन्यवातें इसमें सुगमरीतीसे लिखीगईहे इसकी पहिली आहात्ति हाथोंहाथ विकगई अव दुवारा फिर छापी गईहै मुल्यभी पहिलेकी अपेक्षा कमकरिया गयाहै अर्थात् १२ आनेकी जगह १० आ. कर दियेहें डाकव्यय ३ आ. पृथक् हैं.
- १२ अष्टाध्यायी भाषाटीकासह-छपकर तैयारहै पाणिनीय न्याकरणही संक्तको सव व्याकरणोंका मूलावारहै सिद्धांतादि सब कीमुदियोंमें येही सूत्र व्याप्यव्यापकरूपसे विराजमानहैं इस छोटेसे प्रन्थको यादकरलेनेसे मनुष्य पूर्ण वैयाकरणी होजाताहै. इसके सूत्रोंका अर्थ याद करनेमें विद्यार्थियोंको वडी कठिनता पडाकरतीहै उस कठिनताको दूर करनेकेलिये हमने इसे भा. टी. सहित छापकर सुगम कियाहे अन्तों गणपाठ, धातुपाठ आदि सत्र छगाये हैं मूल्य २ रू. डा. म. ६ आ. है.
- १३ तत्वविज्ञान-प्रकृति पुरुष तथा जीव ईश्वर आदिका विवेक वेदान्त और दर्शन शास्त्रोंके अनुसार संप्रह करके भाषाटीका समेत छापाहै यह छोटा प्रन्थ वडा चमत्कारिकहै मृल्य २॥ आं. डा. म. आधा आना फक्त तीन आना.
- १४ कोतुकरत्नभांडागार अर्थात् वृहत् इंद्रजाल-इस प्रन्थमें अनेकप्रकारके जाद्के खेल, तमारो, भूत, प्रेत, डाकीनी, शाकीनी, भैरव देवी आदिके सिद्ध करनेक प्रकारके मंत्र जंत्र तथा अनेक रोगोंकी दवाभी दीर्गईहै. मूल्य १। रु. डा. म. ४ आ. १५ योगवासिष्ठ -मुमुक्षुवैराग्यप्रकर्ण संस्कृत स्रोक और टीका भाषामें ऐसी सुंदर
- सुछिलतहै कि जिसको विद्वान समझेंमे जिस्में तो अधिकताही क्याहै परंतु सर्वसाधारणभी

समझके ज्ञानप्राप्तिकरें, इस प्रन्थको श्रीमान् जज्जसाहव (आगरा) श्री वावूजी वेजनाथजीन लोकोपकारार्थ हमारे यहां छपवाया जिस्में कुछ प्रतियां श्रीमान्से प्रार्थना पूर्वक हमनेभी रक्खीहै कि हमारे प्राहक गणोंकोभी इस्का पठन लाभ होना चाहिय सो आप लोग इस अपूर्व प्रन्थके लेनेम न च्िकेये कि जिल्दका रु २॥ कागदके जिल्दका रु. १॥ डा. मा. ९ आ.

?६ दुर्गाचरित्र हिंदीभाषा टीकासहित—अधिकतामें श्रीमाईके चित्र दियेहें यह छोटेसे पुस्तकके बांचनेभे श्रीमाताके भक्तोंको जो आनंद होगा सो पढनेवालेही जानलकेंगे. किं० ४० आ. ट. ६ पै.

१७ निर्णयासिंधु मूल भाषाशिकासिहत—जिसका विज्ञापन देदेकर हम अपने आहकोंका मन बहुत दिनसे रखरहेथे वही निर्णयासिंधु मूल भाषाशिका सिहत छपकर तैयारहै निर्णयप्रयोंमें यह प्रन्य सर्वश्रेष्ठहें, निर्णयविषयका जब कोई झगडा उठताहें, तब हिमालयसे लेकर सेतवंधरामेश्वरतक हिन्दुमुसलमान इसी प्रन्यकी शरण लेतेहें, इसीके आधारपर व्रवपूजन, उपवास, उत्सव आदि सबही धर्मसंबंधी बातोंका निर्णय होताहे. अतएव सब पर्छे छिखे विद्वान पंडित अन्य सज्जनोंको पुस्तकालयोंमें रखना उचित है. प्रायः १००० पृष्टका मोटा प्रन्य: कपडेकी जिल्ह चिकना कागज मृत्य ६ २० रफकानज मृत्य ९ २० डाक महन् ।॥ आ.

१८ शिक्षाभूषण — आजकाल धनी साहुकार और व्यापारियोंका कार्य बहुतायतसे अंग्रेजोंके साथ रहताहै परन्तु अंग्रेजों न पढ़े रहनेके कारण उनके साथ वार्ताजाविमें मुह ताकते रहजातेहें और घरके कार्मोंकी अधिकतासे वे अपने बालकोंके पाटकालामें भेजकर अंग्रेजीकी उचित शिक्षाभी नहीं दे सकतेहें इसाल्ये यह पुस्तक उन्होंके लागार्थ बनाई है कि घरमेंही विना शिक्षक हित कियंके सहारे पड़े यदि एकएक शब्दभी प्रतिदिन याद करित्याकों तो विल्कुल परार्थानहीं न रहें. इस पुस्तक से याद करलेन्स बातचीत करना तार जिल्ला पढ़ना आदि अवश्यकीय वार्ते आसकतीहें २९० पृष्टकी चिकने मेटि कागजपर विल्लाकी क्येडकी जिल्ला वंशी हुई पुस्तकका दाम २ रुपये हैं।

१९ पत्री वर्षदीपक मूल भाषाठीकासहित—इसमें जन्मक और वर्ष बनानेक विविध उत्तमप्रकारसे दीगई है यह पुस्तक ज्योतिषियोंको परमोपयोगी है मूल्य ११ रचका ट० ख० २ जाना.

२० नागरसमुच्चय—यह महाराज नागरीदासजीकी बार्गीहे साहित्रम प्रोप्त एवा है इस्में ३ खंड है वैराग्यसागर, ग्रंगारसागर, पदसागर, वैराग्य सागरमें ग्यान और भिक्तमा भएए है. शृंगारसागरमें अद्भुत २ दोहे कवित होंद्र हैं, पदसागरमें सांती, हिंटोरा, होती, राम कीत्रण, अनेक पद हैं ग्रंथ १८ या २० हजार है कि. मासुल सहित २)

२१ होली संग्रह-इसमें होली धमार वर्ततकानुको कवित रसभरीहुई कविना अति मने। हर हे मु. ४ आ. ट. १ आ.

२२ ज्योतिपसार—भाषाठीका सहित जिसमें २३० शोक कार्यक कार्य बटायेग्ये हैं इसके पढ़नेसे पाठकोंको कोई प्रथमी अवस्यकता न रहेगी. बहकी भाषा बहुतही मनेहर है. मृ. १२ आ. ट. २ आ.

२२ जातकार्छकार—संस्कृत जीर मापार्टीकासहित वडीही उत्तम है मृ. ८ अ. ट. खर्च. र्ें आना.

२४ शीव्रवीय-भाषाठीकातह इसके याद करलेनेसे पाठकोंको पूरा सम्यास जोतिगाँउ प्यमें होजयगा. मू. ९ सा. ट. स. १ साना.

२५ वर्षज्ञान-भागाठीकासहित यह प्रंथ तेजी मंदी बतानेकेटिये सर्वोतरो है जिसने तेजी मंदी सादिका फल पूर्ण रीतिस लिखागया है मू. ८ आ. टपालयर्च ? आना.

२६ केरलप्रश्न-भापाटीकासहित इससे अनेकानेक प्रश्न जो चाडिये प्रवस्त फल भिजाकर देख की जिये ऐसा अंथ आजतक छपाही नहीं है मृ. ४ सा. ट. ख. १ आना.

२७ छीक तथा शकुनिविचार-अर्थात् मङ्क्षी वर्षा छाँक आदिके प्रथा ऐसे मिटते ्र मा मंगायत प्रसान निथय कार्रेटवे. मू. २ था. ट. ख.॥ याना.

२८ इनुमानज्योतिप-इसमें जो चाहो प्रश्न कर फल तुरत भिलतेखिये यह अमृत्य राज्यों है, २ असा ट. स. ॥ आना.

२९ द्वापधीकलपळता-इसमें आपिधयोंके ऐसे कला दियेगयेहें कि जिससे गाडी-हेरीहर रोगारचार और उत्तन २ दबाये बहुत पायदेसंद हैं मृ. ८ ला. ट. १ बा.

६० इंगारशक्तिचितामणि-यह नायकाभेदकी रसभग कविता एसी मनेहर है कि इस डांचनेने में नहीं आयाता है, मृ. ८ आ. ट. ख. ? आना.

३१ चूहरूकोत्रगरनाकर-इसमें १८१ ग्लेख है किर अधिकताक्षी यथा है कि प्रचलन

में इंडिटेंस र्यवसके है बॉल्बे, १८१ म्बेब्रिके बान मिर्फ ८ धाना. मा. १ आसा.

३२ सबग्रहस्तीत्र-जिसमें स्तात्रके सिवाय नयगर जाप और स्थिकवाचक मृ ? कार सं, १ असा-

६३ पुरुषस्कः श्रीमृक्त-इत्तर अध्योगिध्य मृ. ? आ. ॥ आनाः

३४ विद्याद्यानद्रपेण-उसने दालकोंको हिमाव किताब हुँदी शादि मलपर्न संस्थ मेही रॉन मामनाके साथ करते बनाई है थि तिसंब पटनेने जिल्ला पटना जिलाप संसार म्मीका क्रम क्रिकेटि यहम्बैटि, मृ. १४ शाम ग. ५ अ.

३९ **डिन्दीगरिगतप्रकाश-**डिन्सेन दिस्ख ग्रीयन आउथोते थिये जीत व्यवस्थान है।

ल १ सन इ.स. १ सन

३६ हिन्दी केंग्रेसी शिक्षम-(क्षिती अवती पट्टोर्ने विसा एट विस् कोण्यो

काले क्षा सहस्रोत है है, को काल है, से, 1 क्षारी,

३ : सिंहासर बर्सीकी-१ सर भागी २८८ (१५८ विस्ता है हैस्सी ३५ (८०० देश क्या हैने क्लेक्टर के विस्तात हैने सर्व स्टेक्टर है के के के हैं कि

वस्पर्दमें इस परेपा अनेक प्रकारकी पुस्तके मिलगी, श्रांचगंशवलाल-

erare arrest - 4141.

